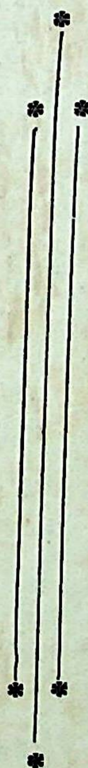
ओ३म्

अनादि तत्त्व दर्शन

(अनादि तत्त्व प्रदर्शक मौलिक ग्रन्थ)



ग्रन्थकार—

आचार्य लक्ष्मीदत्त दीक्षित

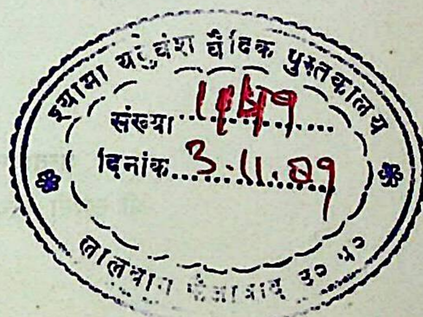
डॉ० [illegible] एम.ए. पी.एच.डी.

लखनऊ: ३.११.८७

ओ३म्

अनादि तत्त्व दर्शन

(अनादि तत्त्व प्रदर्शक मौलिक ग्रन्थ)



ग्रन्थकार—

आचार्य लक्ष्मीदत्त दीक्षित

प्रकाशक :

विरजानन्द वैदिक संस्थान,

संन्यास आश्रम, गाज़ियाबाद, २०१००१

(उत्तर प्रदेश)

प्राक्कथन लेखक

विद्याभास्कर, वेदरत्न

श्री आचार्य उदयवीर शास्त्री

न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योगतीर्थ, वेदान्ताचार्य, विद्यावाचस्पति

प्रस्तावना लेखक

श्री स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

मूल्य : [illegible] रुपये

मुद्रक :

जनशक्ति मुद्रण यन्त्रालय,

के १७, नवीन शाहदरा, दिल्ली-३२

आधुनिक कपिल
श्री आचार्य उदयवीर जी शास्त्री
को
सादर समर्पित

विषय सूची

प्राक्कथन

"सर्वज्ञानमयो हि सः"—भगवान् मनु के इस वचन के अनुसार भारतीय परम्परागत दृष्टि से वेद ईश्वरीय ज्ञान की शब्दमयी अभिव्यक्ति के रूप में समस्त ज्ञान विज्ञान का भण्डार है। सायणाचार्य ने अपने तैत्तिरीय संहिता भाष्य के उपोद्घात में कहा है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता॥

अर्थात् प्रत्यक्ष वा अनुमान से जो अर्थ नहीं जाना जाता है वह वेदों से अवश्य जाना जाता है। यही वेदों का वेदत्व है।

हमारे दार्शनिक सिद्धान्त भी वेदमूलक हैं। इस विषय में ऋग्वेद दशम मण्डल के कतिपय सूक्त (७२, ८१, १२९) द्रष्टव्य हैं, जहां जगत् के उपादान कारण प्रकृति, जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय के कर्त्ता परमात्मा तथा भोक्ता जीवात्मा का स्पष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। भारतीय दर्शन के ये मौलिक तत्त्व हैं, जिनके विवेचन में समस्त दर्शनों का पर्यवसान है। ऋग्वेद (१०-८१-३) की एक ऋचा है जिसमें जगत् के गतिशील मूल उपादान तत्त्वों का 'पतत्र' पद द्वारा संकेत किया है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥

ऋचा के पूर्वार्द्ध में परमात्मा के विश्वरूप का दिग्दर्शन कराने के साथ-साथ उत्तरार्द्ध में जगत् का जनयिता एक देव पृथक् बताया गया है। जगत् के उपादान कारणरूप में साधन सामग्री का संकेत 'पतत्र' पद से किया गया है जो रचयिता से सर्वथा भिन्न तत्त्व है। इससे जगत्सर्ग के विषय में यह वैदिक सिद्धान्त स्पष्ट होता है कि जगत् का कर्त्ता चेतन परमात्मा पृथक् और यह जड़ जगत् जिन साधन तत्त्वों से इस रूप में परिणत होता है, वे कर्त्ता से पृथक् हैं।

वेद में स्वधा, अदिति, वृक्ष आदि अनेक नामों से जगत् के मूल उपादान तत्त्व का निर्देश हुआ है। सर्ग स्थिति काल में प्रकृति के साथ जीवात्मा का सम्बन्ध बताने वाली ऋग्वेद (१-१६४-३८) की ऋचा इस प्रकार है—

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्यन्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्॥

अपने भोगापवर्ग के लिए चेतन जीव जड़ प्रकृति के साथ संपृक्त होता है। यही प्रकृति के द्वारा उसका गृहीत होना है। प्रकृति से संबद्ध होकर ही वह

अपने भोग-अपवर्ग को सम्पन्न कर सकता है। इस सम्बन्ध की पुष्टि के लिए कतिपय विनाशी (मर्त्य) तत्त्व सर्गकाल में सदा जीव के साथ रहते हैं। यह अठारह तत्त्वों से घटित सूक्ष्म शरीर है। इसी के साथ सम्बद्ध जीव ऊंच-नीच विभिन्न योनियों में आया जाया करता है। स्वधा (प्रकृति) और अमर्त्य (जीव) दोनों अनादि अनन्त हैं, इसलिये दोनों का सम्बन्ध भी अनादि अनन्त है। इस आवर्त्तमान चक्र में ये कभी परस्पर बिछुड़ भी जाते हैं, पर कालान्तर में उन्हें फिर अपनी उसी स्थिति में आ जाना होता है। इसी रूप में यह प्रकृति-पुरुष सम्बन्ध अनादि अनन्त है। इन दो तत्त्वों में से एक (दृश्यमान कार्य जगत् रूप में स्वधा=प्रकृति) को अच्छी तरह देखा जाता है, अन्य (चेतन जीवात्मा) को इतनी स्पष्टता से नहीं जाना जाता।

अदिति, स्वधा, वृक्ष आदि पदों के समान 'गुण' पद का प्रयोग भी मूल उपादान तत्त्व के लिए वेद में देखा जाता है। प्रायः सब दर्शनों में सारभूत तत्त्व, विशेष रूप से कापिल दर्शन में मूल तत्त्व के लिए इस पद का प्रयोग है। अथर्ववेद (१०-८-४३) में कहा है—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वन् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥

मन्त्र में 'पुण्डरीक' पद मानव देह के लिए प्रयुक्त है। लोक और साहित्य में इस पद का अर्थ कमल अथवा पुष्पमात्र प्रसिद्ध है। पुष्परूप में मानव देह का वर्णन उसकी नश्वरता की ओर संकेत करता है। प्रत्येक पुष्प कली की प्रारम्भिक अवस्था से खिलकर, क्षण भर के लिए संसार को आकृष्ट कर अन्त में मुरझा कर नष्ट हो जाता है। ठीक यही दशा इस देह की है। 'पुण्डरीक' पद का प्रयोग पुकार-पुकार कर कह रहा है, कि ऐ पुरुष! इस नौ द्वार वाले देह की नश्वरता को समझने के लिए पुष्प की दशा को सदा अपने सामने रख। भ्रमर के समान इसके रस को तो भोग, पर अपने अस्तित्व को विसार कर इसमें लीन मत हो।

यह देह, सत्त्व-रजस्-तमस्—इन तीन गुणों का परिणाम है। देह में इसका अधिष्ठाता—चेतन आत्मा निवास करता है। इस आत्मा (जीव चेतन) के समान एक और 'यक्ष' है जो सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् वस्तु में व्याप्त है। इस 'यक्ष' को ब्रह्मज्ञानी ही जान पाते हैं। देह पर्याय पुण्डरीक पद को यदि कार्यमात्र का उपलक्षण माना जाये तो यह समस्त जगत् सत्त्व-रजस्-तमस् इन तीन गुणों का परिणाम सिद्ध होता है। फलतः देह प्रतीक में आत्मा (जीव-चेतन) के समान, अखिल ब्रह्माण्ड में यह यक्ष (परमात्म-चेतन) व्याप्त है। इस प्रकार प्रस्तुत मन्त्रों में हमारे दार्शनिक सिद्धान्तों के मूल का संकेत उपलब्ध है। अखिल ब्रह्माण्ड के मूल उपादान सत्त्व-रजस्-तमस् के रूप में प्रकृति का, भोक्ता आत्मा का और सबके नियन्ता परमात्मा का अस्तित्व ही भारतीय

दार्शनिक सिद्धान्त 'त्रैतवाद का मूल आधार है वैदिक संहितायें, छह वैदिक दर्शन, उपनिषद् आदि मिलकर इन्हीं तत्त्वों का उपपादन करते हैं।

इन्हीं तत्त्वों का एकत्र सर्वांगपूर्ण उपपादन एवं क्रमबद्ध विवेचन करने वाले ग्रन्थ की आवश्यकता थी।

एक वर्ष से कुछ अधिक हो गया, अचानक एक दिन पं० लक्ष्मीदत्त दीक्षित[1] प्राचीन सूत्रकार ऋषियों की शैली में प्रस्तुत अपनी रचना लेकर मेरे निवास स्थान पर पधारे। उनके निर्देशानुसार उस रचना का जायज़ा लेकर उनसे निवेदन किया कि आप इसका नाम 'अनादि तत्त्व दर्शन' रक्खें।

ग्रन्थ के विषय एवं उसके प्रतिपादन प्रकार आदि के सम्बन्ध में अपने कुछ विचार दीक्षित जी के सम्मुख प्रस्तुत किये। उस सम्बन्ध का हमारा साधारण पत्र व्यवहार चलता रहा। कुछ मास के अनन्तर दीक्षित जी पुनः पधारे। उस प्रथम रचना का उन्होंने आमूलचूल परिवर्तन कर दिया था, तथा सुझाये गये उक्त नाम के अनुरूप उसमें अनेक अपेक्षित विषयों का समावेश कर दिया गया था। रचना नाम के संतुलन में अत्यन्त उपयुक्त है और अपने पेट में तत्सम्बन्धी अनेक विषयों को समाये हुए है।

मूल रचना संस्कृत में सूत्रात्मक है। कतिपय सूत्र, प्राचीन संस्कृत वाङ्मय से उठाकर अपेक्षित सन्दर्भ के रूप में प्रस्तुत हैं। शेष समस्त सूत्र जिनकी संख्या

---

१. दीक्षित जी का नाम बहुत दिन से सुनता रहा हूं। पूर्व सम्मिलित पंजाब तथा वर्तमान में हरयाणा-पंजाब के शिक्षा केन्द्रों में अध्यापन आदि कार्य करते हुए उनके विशिष्ट कार्य कलापों की जानकारी भी यदा-कदा मिलती रही है। उस ओर मेरे आकर्षण का विशेष कारण यह कहा जा सकता है, कि दीक्षित जी, मेरे एक छात्रावस्था के साथी अभिन्नहृदय मित्र [संप्रति दिवंगत] श्री देवेन्द्रनाथ शास्त्री सांख्यतीर्थ के दामाद हैं। उनका साक्षात् परिचय कुछ वर्ष पहले ही हुआ है, जब वे डी० ए० वी० कालिज पानीपत के प्रधानाचार्य पद से अवकाश प्राप्त कर दिल्ली मॉडल टाउन स्थित अपने मकान में निवास करने लगे, तथा समय-समय पर आयोजित विभिन्न सभा सम्मेलन आदि प्रसंगों में उनके तर्कपूर्ण व स्पष्ट संवादों को सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। उनके साथ मेरे इस नाते को दो वर्ष पहले तक वे बिल्कुल नहीं जानते थे।

देवेन्द्र जी के परिवार के साथ मेरा गहरा आत्मीय संबन्ध रहा है। उनके पिता श्री मुरारिलाल शर्मा जी की प्रेरणा से ही मैंने अध्ययन के लिए गुरुकुल प्रणाली में प्रवेश पाया। उस समय के अनेक संस्मरण ये पंक्तियां लिखते हुए मस्तिष्क में उछल-कूद मचा रहे हैं। बस, अधिक कुछ नहीं। पाठकों से क्षमा प्रार्थी हूँ।

पर्याप्त अधिक है—दीक्षित जी की अपनी रचना हैं। आधुनिक काल में इस प्रकार की सूत्रात्मक रचना, भारतीय इतिहास की पाश्चात्य रीति पर रचना करने वाले उन ऐतिहासिकों के लिये खुली चुनौती है, जो मुंहफट होकर यह कहते रहे हैं कि भारतीय इतिहास में एक विशिष्ट काल ऐसा रहा है, जब सूत्रात्मक रचना होती रही है। वस्तुतः सूत्रात्मक रचना का कोई काल विशेष निमित्त नहीं है। यह केवल लेखक या ग्रन्थ निर्माता की अपनी रुचि पर निर्भर करता है, वह अपनी रचना को क्या रूप देना चाहता है। रचना काल में उसकी उपयोगिता का सवाल भी ग्रन्थकार के सामने होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ दीक्षित जी के विस्तृत अध्ययन, गम्भीर चिन्तन और अध्यवसाय का परिणाम है। नाम के अनुरूप तत्त्वों का विवरण रचना में कहां तक सम्पन्न हुआ है, सुविज्ञ पाठक स्वयं ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ कर इसकी परीक्षा कर सकेंगे। रचना के लिए दीक्षित जी को हार्दिक बधाई।

श्रावण शुक्ल पञ्चमी [नाग],
सं० २०३६, उदयवीर शास्त्री
ता० २९।७।१९७९, संन्यास आश्रम, गाज़ियाबाद
रविवार,

प्रस्तावना

साधारणतया हमारी यह मान्यता है कि केवल मनुष्य की यह गरिमा है कि जीवन-चर्य्या की साधारण बातों को छोड़कर वह गम्भीर प्रश्नों का प्रस्तोता भी बने और स्वयं उठाये हुए प्रश्नों पर यथाशक्य विचार भी करे। इस बात में वह अन्य पशुओं से भिन्न है। मनुष्य के परिवार में रहने वाले ग्राम्य-पशु, अश्व, गो, अज और अवि, नितान्त मूर्ख हैं, किन्तु भावुक इतने हैं कि मनुष्य के प्रति उनका सौहार्द्य है, और मनुष्य के सम्पर्क में आकर वे कुछ सीख भी जाते हैं; और इसका परिणाम यह हुआ है, कि ये पशु मनुष्य की स्वार्थ सिद्धि का अभिन्न अंग बन गए हैं। बैल रथों में जोता जाता है, कोल्हू में भी नाथा जाता है, गाय बड़े प्यार से मनुष्य के परिवार के संकेतों को समझती है, घोड़े को युद्धकला की बहुत सी बातें आ जाती हैं, कुत्तों और हाथियों को बहुत कुछ मनुष्य सिखा डालता है। पालतू पशुओं में संघठन का नितान्त अभाव सा है (स्वयं चालित संघठन का अभाव, वैसे तो मनुष्य के सिखाये गए संघठन के अनुशासन में वे रह लेना सीख लेते हैं)। ग्राम्य पशुओं के अतिरिक्त जो पशु कीट-पतंग हैं वे अधिक कामकाजी हैं—मकड़ी जाला बुन लेती है (किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि यह जाला बुनना उसका अपना आविष्कार नहीं है, और न जाला बुनने की कला वह किसी शिक्षक से सीखती है)। मधुमक्खी छत्ता बनाती, और फूलों से पराग लाकर उससे मोम और मधु पृथक् करती है (किन्तु छत्ते का बनाना, और पराग से मधु और मोम का पृथक् करना मक्खी का अपना आविष्कार नहीं है)। केवल मनुष्य है जो प्रश्नों को उठाता है, उनका समाधान करता है, अपने इन समाधानों को आगे की सन्तति के लिए छोड़ जाता है, और आगे की यह सन्तान उन प्रश्नों को फिर नये ढंग से सोच सकती है और नये समाधान ढूंढ सकती है। मनुष्य के द्वारा प्रस्तुत ये प्रश्न और उसके ही द्वारा दिए गए समाधान मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को निरन्तर प्रभावित करते रहे हैं, और आज जो कुछ भी हम हैं, वह इस परम्परा के परिणाम हैं।

अतः चार बातें स्पष्ट हैं, जिसका साक्षी हमारा इतिहास है—(१) प्रश्न प्रस्तुत करने की आकाँक्षा और क्षमता मनुष्य योनि की सदा से एक विशेषता रही है। (२) इन प्रस्तुत प्रश्नों पर विचार करने की क्षमता मनुष्य में है। (३) विचार करने के अनन्तर जो समाधान मनुष्य ने उपलब्ध किए उनसे उसका व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन भी प्रभावित होता रहा है। (४) मनुष्य को किसी प्रश्न का भी पूर्ण समाधान अभी तक प्राप्त नहीं हुआ, और इस

परम्परा में वह स्थूल समाधानों से सूक्ष्म समाधानों की ओर बराबर अग्रसित होता रहा है ।

इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य ने कौतूहलवश जिन प्रश्नों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया और उन प्रश्नों के जो भी समाधान प्राप्त किए वे मानवीय थे–प्रश्न भी मानवीय और समाधान भी मानवीय । प्रश्नों और समाधानों का केन्द्र सदा मानव स्वयं रहा है–वह कौन है ? कहां से आया, कैसे आया, कब आया, क्यों आया, उसे कौन लाया, उसके अतिरिक्त और कौन है, और उससे उसका क्या सम्बन्ध है ? कौन सी वस्तु, कौन सी क्रिया, कौन सी स्थिति उसके लिए प्रिय है, शिव है, सुखद है, अप्रिय है, अभद्र है या दुःखद है ? कौन उसका मित्र है, कौन उसके लिए बाधक है ?–मानों समस्त सृष्टि का और समस्त प्रश्नों और समाधानों का केन्द्र वही हो !! उसने अपने लिए मानों इस सत्य का अन्वेषण किया हो, कि इस चराचर जगत् में जो भी कोई क्रिया है, उसका प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध इस मनुष्य से ही है ।

अतः समस्त तत्त्वज्ञान का मूलविन्दु या केन्द्र मनुष्य स्वयं है । इसी का नाम अस्मद् है । पारस्परिक सम्बन्ध से अस्मद् ही युष्मद् है । तुम अपने लिए अस्मद् हो और मेरे लिए युष्मद् । मैं तुम्हारे लिए युष्मद् हूं, अपने लिए अस्मद् । दार्शनिक दृष्टि से मनुष्य का सर्वप्रथम आविष्कार यह रहा होगा कि युष्मद् और अस्मद् पृथक्-पृथक् होते हुए भी सजातीय हैं । मधु की एक बूंद मैंने अपनी जिह्वा पर रक्खी, वह मुझे जैसी लगी, उसे मैंने मीठा (मधुर) कहा । तुमने भी मधु की बूंद अपनी जीभ पर रखी, तुम्हें भी वह कुछ लगी होगी ! हम तुम दोनों सजातीय हैं, अतः तुम्हें भी मधु बिन्दु जैसा प्रतीत होता होगा उसकी भी संज्ञा मीठा (मधुर) है ।

श्रोत्रेन्द्रिय के सन्निकर्ष से जैसा मुझे सुनायी पड़ता है, वैसा ही तुम्हें सुनाई पड़ता होगा, ऐसी यथार्थ कल्पना सजातीयता के आधार पर ही तो है । जिस ध्वनि को मैं क, ख, ग कहता हूं, वह ध्वनि तुम्हारे लिए भी क, ख, ग है, अगर यह रहस्य सिद्ध अनुभव न होता तो हम भाषा को विचारों के आदान-प्रदान का माध्यम बना ही न सकते ।

अस्मद्-युष्मद् वाली सजातीयता का मैंने अभी उल्लेख किया । उसी प्रकार की, किन्तु उससे भिन्न, तद्–समुदाय की सजातीयता भी है । मधु का जो विन्दु मैंने चखा, ठीक वही बिन्दु तो आपने नहीं चखा । बिन्दु अनेक थे, कुछ आपने चखे और कुछ मैंने । अनेकता या संख्या की दृष्टि से प्रत्येक विन्दु अलग-अलग है, किन्तु इन विन्दुओं की भी सजातीयता है, जिसके कारण हमने मधु समुच्चय को भी मीठा कहा । मधु की बूंद नहीं जानती कि वह मीठी है, एक विन्दु और दूसरे बिन्दु में अस्मद्-युष्मद् संबंध नहीं है, जैसाकि मुझमें और आपमें है, किन्तु हमें जिस प्रेरणा से अस्मद्-युष्मद् की अनुभूति होती है, उसी

अलौकिक प्रेरणा से मधु बिन्दु में तद्-भाव की भी प्रतीति होती है। अस्मद्-युष्मद् में सजातीयता है, किन्तु तद् अस्मद्-युष्मद् से सर्वथा भिन्न है, विजातीय है।

इस सृष्टि में अस्मद्-युष्मद् परम यथार्थ हैं, और तद् भी यथार्थ है। परमार्थ जगत् और व्यवहार जगत्—इस प्रकार के दो जगतों की कल्पना करके आप इस यथार्थता की उपेक्षा नहीं कर सकते। अस्मद् एक है और युष्मद् असंख्य हैं, दोनों सजातीय होते हुए भी व्यक्ति रूप में पृथक्-पथक् हैं। दोनों में जहाँ वहुत कुछ सामान्य है, वहां प्रत्येक युष्मद्-अस्मद् की अपनी विशेषतायें भी हैं। ये विशेषतायें अनादि काल से चली आयी हैं, और अनन्त काल तक रहेंगी। यह विशेष व्यक्तित्व भी परम यथार्थ है, काल्पनिक नहीं, व्यवहार जगत् का ही नहीं, मोक्ष में भी हमारा साथ नहीं छोड़ेगा। जहां जीवन-मृत्यु का एक परिचित चक्र है (दिन-रात के चक्र के समान), वहाँ वन्ध-मोक्ष का भी एक चक्र है, जो प्रवाह से अनादि है। दो वन्धों के बीच में एक मोक्ष है, और दो मोक्षों के वीच में एक वन्ध है, और यह क्रम चलता ही रहेगा। प्रवाह से अनादि होने के कारण इस चक्र का अन्त होना संभव नहीं और पूछना भी भूल होगी कि हमको किसने वन्ध में डाला। यह वन्ध और मोक्ष हमारी स्वाभाविक प्रकृति है, यह हमारा यथार्थ इतिहास है जिसे लेकर हम अनादि काल से चले आ रहे हैं, और अनन्त काल तक चलते जावेंगे।

निश्चय ही तत्त्वज्ञान का केन्द्र विन्दु मैं या अस्मद् है। यह अस्मद् ज्ञाता भी है और जव अपने संवंध में स्वयं ऊहायें उपस्थित करने लगता है तो यह ज्ञाता और ज्ञेय दोनों ही वन जाता है। सामान्य तर्क शास्त्र की दृष्टि से एक समय ही कोई ज्ञाता और ज्ञेय दोनों नहीं हो सकते। किन्तु यह तर्क तो साधारण तर्क शास्त्र का है, जिसकी सहायता से हम दूसरों के सम्बन्ध में जानने का कुछ प्रयास कर सकते हैं। तर्क तो यह भी किया जा सकता है कि जो अपने को नहीं जान सकता है, वह दूसरे को कैसे जानेगा। यह तर्क नहीं तर्काभास है। कभी-कभी हम यह भी कह सकते हैं कि अपने से इतर विषय का ज्ञान उपलब्ध किया जाता है, किन्तु अपनी अनुभूति होती है। स्व का ज्ञान बहिर्ज्ञान से भिन्न है, दोनों ज्ञानों के साधन भी भिन्न हैं, और उनकी प्रक्रियायें भी भिन्न हैं। स्व के ज्ञान के निमित्त न तो इन्द्रियों की आवश्यकता होती है, न मानस तन्त्र की और न भाषा की। किन्तु जव यह ज्ञान दूसरों के प्रति व्यक्त किया जाता है, तो उसे हम उसी माध्यम से व्यक्त करने की चेष्टा करते हैं, जिस माध्यम के हम अभ्यस्त हैं। इस व्यक्तिकरण में हम थोड़ा ही सफल हो पाते हैं, वहुधा हमारी भाषा आलंकारिक ही रह जाती है। रूप, रस, गन्ध आदि को भी दूसरों के प्रति व्यक्त करना सरल नहीं है, और ऐसी स्थिति में हम स्वयं क्या हैं, इसे व्यक्त करना अतिकठिन है (स्यात्, हम गिनाते जावें कि हम क्या

नहीं हैं, यह अभिव्यक्ति ही सबसे बड़ी अभिव्यक्ति होगी)। किन्तु हमारी स्व-सत्ता हमारे लिए भी और दूसरों के लिए भी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखती। मैं हूं, इसमें मुझे सन्देह नहीं, आप भी हैं, इसमें मुझे सन्देह नहीं। आपको भी मेरी सत्ता के सम्बन्ध में सन्देह नहीं है। मैं क्या हूं और आप क्या हैं, यह न भी जानते हुए, मैं यह स्वीकार करता हूं, कि मैं भी हूं और आप भी हैं। मेरी आयु इस समय ७४ वर्ष की है। अपनी सत्ता के सम्बन्ध में मुझे सन्देह नहीं हुआ, और न मुझे इस बात में सन्देह हुआ, कि सत्ता की दृष्टि से १९७९ में मैं वही व्यक्ति हूं जिसने १९२१ में मैट्रिकुलेशन की परीक्षा उत्तीर्ण की, या जिसने १९३२ में डाक्टर की उपाधि प्राप्त की, या जो १९६७ में यूनिवर्सिटी सेवा से मुक्त हुआ, या जो १९७१ में संन्यासी बना। किसी मूर्ख दार्शनिक को तो इसमें सन्देह हो सकता है, किन्तु डाकखाने के कर्मचारियों को, बैंक के अधिकारियों को, बीमा कम्पनी के संचालकों और मेरी मित्र मण्डली को या सम्बन्धियों को कभी इस बात में सन्देह नहीं हुआ। मेरे शरीर के कण-कण बदल गए, और शरीर में न जाने कितनी विध्वंसकारी प्रतिक्रियायें हुई (अप-चयन-उपचयन की, विघटन और संघठन की), सब कुछ बदला पर अपनी दृष्टि में और दूसरों की दृष्टि में मैं वही सत्ता बना रहा जो १९०५ में था। रूप बदला, नाम भी बदल सकता था, किन्तु नाम रूप से भिन्न जो मैं था, उसकी सत्ता में न मुझे सन्देह हुआ और न अन्यों को जो मेरे सम्पर्क में अब तक भी आये।

क्या मैं शरीर से भिन्न कोई सत्ता हूँ? क्या आप भी अपने शरीर से भिन्न कोई सत्ता हैं? मैं स्वतः तो यह अनुभव करता रहा कि मैं शरीर में तो हूँ—शरीर मेरा है, अर्थात् शरीर मेरे लिए है, जिसके द्वारा कुछ सीमित काम मैं कर सकता हूँ किन्तु मैं शरीर से पृथक हूँ, अवश्य। शरीर के संघात मात्र से उत्पन्न मैं कोई सत्ता नहीं हूँ। लोगों ने बड़ी चेष्टा की कि यह सिद्ध हो जाय कि मेरी चेतनता जड़ पदार्थों से प्रसूत एक विशिष्ट चेतना मात्र है। तरह-तरह के उदाहरणों से यह समझाने का यह प्रयत्न भी किया गया, कि मेरी चेतना किसी जैव-रासायनिक या भौतिक क्रिया का परिणाम है—पर ये कल्पनायें दुरूह कल्पनायें ही रही हैं। प्रत्येक प्रश्न के कई उत्तर हो सकते हैं, पर वैज्ञानिक पद्धति तो यह है कि अनेक उत्तरों में जो अल्पतम जटिल हो उसे स्वीकार किया जाय। मनुष्य ने जीवन तथ्यों को बहुत कुछ समझने का प्रयास किया है, और उसकी उपलब्धियाँ भी बहुत रही हैं, किन्तु वह अभी साध्य प्रश्नों के पृष्ठ पर ही मानों खेल रहा है, गहराई में प्रवेश भी नहीं कर पाया है।

हमने शरीर के जिस अंश को थोड़ा बहुत समझा है, वह अतिस्थूल है। अन्नमय कोश के हम अंश नहीं हैं, प्राणमय कोश की भी हम सत्ता नहीं हैं, मनोमय कोश को हमने समझा ही नहीं है, और आनन्दमय और विज्ञानमय

कोश की संरचना के सम्बन्ध में हम नितान्त मूर्ख हैं। इन कोशों के बनाने वाले हम नहीं हैं–हमने तो किसी से पाये हैं। उनका उपयोग कुछ सीमा तक हम करते हैं, किन्तु किस प्रकार इस उपयोग के करने में हम सफल होते हैं, इसका हमें ज्ञान भी नहीं है। किन्तु इतना सब होते हुए भी हम यह मानने को तैयार नहीं हैं कि शरीर के मरने से हम मरते हैं, और शरीर के बन जाने पर हम स्वतः बन जाते हैं। है तो कुछ उल्टा ही। माता के गर्भ में (या पिता के गर्भ में) आने पर हमारा शरीर बनने लगता है, किन्तु हम इस शरीर को बनाने वाले नहीं हैं। यह शरीर यथार्थ है, कल्पना या मिथ्या नहीं है, प्रयोजन से सम्पन्न है। यथार्थ शरीर न स्वयं बनता है, न हम इसे बनाते हैं। कोई है अवश्य जो हमसे भिन्न है, हमसे अधिक समझदार है, जिससे हमारा निकट का सम्बन्ध है, और जिसे विशाल जगत् का परिचय है। उसकी व्यवस्था से माता के गर्भ में मेरा शरीर बना (गर्भ की अंधेरी कोठरी में उसकी व्यवस्था ने मेरी आँखें बनायीं जिनमें दूरस्थ सूर्य और तारों को देखने की क्षमता विकसित हुई। गर्भ में ही उसने मेरी नासिका बनायी, जिससे मैं गुलाब-चमेली के फूलों की गन्ध सूंघ सकूँ, और उसी गर्भ में उसने मेरे मुख के भीतर, जब कि मुख खुला भी न था, ऐसी जिह्वा बना दी जिससे मैं शक्कर का मिठास अनुभव कर सकूँ–उस शक्कर का जो गन्ने के भीतर बन रही है–मुझसे कहीं दूर किसी खेत में। अतः स्पष्ट है कि मेरे शरीर को व्यवस्थित करने वाला कोई वह है, जिसे सृष्टि का ज्ञान है, और जो दूरस्थ प्रदेशों में सृष्टि की व्यवस्था को चला रहा है। मेरे शरीर से सामञ्जस्य रखने वाले इस समस्त जगत् को मिथ्या, काल्पनिक, अध्यास या व्यवहार मात्र का मानना एक ऐसा तथ्य है, जो कतिपय विद्वानों को कितना ही मुग्ध करने वाला क्यों न हो, यथार्थता और सत्य से बहुत ही दूर है।

जादू–चमत्कारों में विश्वास रखने वाला व्यक्ति संभवतया इस संसार को किसी मायावी की लीला मान सकता है। सृष्टि के रंगमंच पर खेल मात्र करने वाले हम खिलाड़ी नहीं हैं जो आवागमन के चक्र में ग्रसित हैं। हमारे जीवन का एक महान् प्रयोजन है, जिसमें हमें कुछ बनना है,–किसी ओर जाना है. और जिसमें किसी अदृष्ट शक्ति से प्रेरणा भी मिल रही है। इसी प्रकार की आस्तिक आस्था रखने वाला व्यक्ति जीवन के उन रहस्यों को समझने का भी अधिकारी बन सकता है, जो रहस्य हमारी समझ में नहीं आ रहे हैं। संसार को स्वप्न या मिथ्या समझने वाले व्यक्ति के लिए तत्त्व ज्ञान या विज्ञान का कोई अर्थ नहीं। मनुष्य सृष्टि के आरम्भ से ही वैज्ञानिक और तत्त्वदर्शी था। पिछली तीन शतियों में उसने अपने सर्वतोन्मुखी ज्ञान की विलक्षण अभिवृद्धि की। यदि संसार को स्वप्न, मिथ्या, अस्तित्वरहित या अध्यास मानता रहता, तो उसे उस यथार्थता से लाभ न हो पाता जो कुछ तथ्यों पर निर्भर है–(१) संसार सप्रयोजन और सत्य है, (२) मनुष्य और उसका पंचकोशमय शरीर भी सप्रयोजन और

सत्य है, (३) जिसने शरीर रचना की है, उसी ने सृष्टि की रचना भी की है, (४) सृष्टि रचयिता ने कोई भी रहस्य छिपा कर नहीं रक्खा। उसकी परम अभिव्यक्ति उसकी रचना में है। (५) यह अभिव्यक्ति ही ऋत और सत्य है, इन ऋतों को जान लेने की बहुत कुछ क्षमता मनुष्य में है। (६) ज्यों-ज्यों मनुष्य इन ऋतों अर्थात् सृष्टि-अनुगत शाश्वत नियमों को समझता जायेगा, उसे प्रभु और उसकी रचना से प्रेम बढ़ता जायेगा। (७) ऋतों के तत्त्व ज्ञान से मनुष्य अपने और अपने समाज के वैभव को बढ़ा सकता है—अपनी सभ्यता और संस्कृति को विकसित कर सकता है। (८) सभ्यता और संस्कृति का विकास कोई पापाचार नहीं है, प्रत्युत लोक कल्याण की भावना से किये गए प्रयास मनुष्य को अभ्युदय और निःश्रेयस की ओर प्रेरणा देने वाले होते हैं।

यह है पुरुषार्थमय जीवन का यथार्थ दर्शन जिससे व्यष्टि और समष्टि दोनों का कल्याण हो सकता है। इसी का प्रतिपादन चारों वेदों में है, उपनिषदों में है और हमारे षड्दर्शन में है। चारों वेदों में से कोई वेद नीचा या ऊँचा नहीं, ग्यारह उपनिषदों में से कोई भी उपनिषद् कम या अधिक प्रामाण्य नहीं, और उसी प्रकार षड् दर्शनों में से कोई भी दर्शन निम्नकोटि का या उच्चकोटि का नहीं है। हमारे दर्शन शास्त्र, हमारी उपनिषदें और हमारी वैदिक संहितायें जगत् को व्यवहार जगत् और परमार्थ जगत् इस प्रकार के दो विभाजनों में विभक्त करना स्वीकार नहीं करतीं।

न संसार क्षणभंगुर है, और न हमारे जीवन की आयु ही सीमित है—प्रवाह से अनादि इस संसार में अनन्त जीवन—प्राप्त हम अनन्त मार्ग के पथिक हैं—अणुमात्र सत्ता का व्यक्तित्व लिए हुए अपने अल्प सामर्थ्य के साथ जन्म-मृत्यु, और बन्ध और मोक्ष—इनके चक्रों में सदा से घूम रहे हैं, और सदा घूमते रहेंगे। हममें से बहुतसों को अपनी इस स्थिति से सन्तोष नहीं है। किन्तु स्थिति तो यथार्थ में यही है। सन्तोष न होने से स्थिति बदल जाय, यह तो कोई तत्त्व ज्ञान नहीं है। यथार्थता क्या है, इसका पता चल जाय, यही तत्त्वज्ञान है। हम अल्पशक्तिक अणुमात्र सत्ताओं के लिए अनन्त काल के मोक्ष या अपवर्ग का कोई अर्थ नहीं, जहाँ हमारी अल्पज्ञता सर्वज्ञता में परिणत हो जाय, जहाँ अल्पभोक्तृत्व की स्थिति अनन्तराशि के आनन्द से प्रतिस्थापित हो जाय, और हम भी "जगत्यां जगत्" के स्वामी बन जांय, इस चराचर जगत् के रचयिता बन जांय, दूसरों के जीवन की व्यवस्था के निर्णायक हो जांय। वह हमारा प्रभु ही "पतिरेक आसीत्"—एक मात्र स्वामी रहा है, और रहेगा, वही हमारे कर्मों का एक मात्र ज्ञाता रहा है, और इसी एक का आशीर्वाद हमें प्राप्त करना है। हममें से कोई भी व्यक्ति अपने लघु जीवन के चरमोत्कर्ष में भी ब्रह्म बनने की कल्पना नहीं कर सकता। कोई व्यक्ति ब्रह्म बनता नहीं है, जो वस्तुतः ब्रह्म है, वह स्वभावतः ब्रह्म है;—जो ब्रह्म कभी न था, जो ब्रह्म नहीं है, वह कभी भी

ब्रह्म नहीं बनेगा। ब्रह्म को न अध्यास होता है, न वह अविद्या या भ्रम में पड़ कर जीव बन जाता है, और न वह माया से ग्रसित होकर ईश्वर की उपाधि ग्रहण करता है, वह जो है, सो है, और वह क्या है, यह भी स्पष्ट है–सृष्टि का रचयिता है (जन्माद्यस्य यतः), और जो रचयिता होता है, वही उसका पालक और पोषक है, और वही सृष्टि का उपसंहार करता है, और जो यह काम कर सकता है वही शास्त्र की योनि (शास्त्रयोनित्वात्) है, ज्ञान और जो पदार्थ ज्ञान से जाने जा सकते हैं, उनका आदि मूल है। वह मेरा प्रभु स्वभाव से ऐसा है–यही उसका बड़प्पन है और इसीलिए वह ब्रह्म और बृहत् है, बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति है।

हमें अच्छा लगे या न लगे, हमारे आत्माभिमान को ठेस ही क्यों न लगे, किन्तु वस्तुस्थिति यही है, कि हम ब्रह्म नहीं हैं, और न कभी ब्रह्म हो सकेंगे। हम अणु और परिच्छिन्न ही रहेंगे–अपने चरमोत्कर्ष के समय भी–अमृत–अवस्था प्राप्त करने के अनन्तर भी। हम ज्ञान, कर्म सामर्थ्य और आनन्द तीनों की दृष्टि से अणुमात्र ही रहेंगे। इस स्थिति को समझ लेना ही तत्त्वज्ञान है, यथार्थ ज्ञान है, और वैदिक दर्शन है–ब्रह्म का साहचर्य हमें मिलेगा, हम उसके प्रियतम परिवार के अंग बन जायेंगे, उसके आनन्द में विभोर होकर अपनी सुध-बुध खो बैठेंगे, हमारे लिए उस चरमोत्कर्ष की स्थिति में न कुछ जानने को शेष रहेगा, और न कुछ करने को। ज्ञान और कर्म दोनों का परमात्मा के आनन्द में विलय हो जायेगा। न कोई हमें देखेगा, न हम किसी को देखेंगे–संसार ज्यों का त्यों चलता रहेगा, पर हम उससे विरक्त रहेंगे। न इन्द्रियां होंगी, न तनु होगा, न कुछ द्रष्टव्य होगा और न कुछ मन्तव्य। हम होंगे और हमारा प्रभु होगा, वही हमारे लिए द्रष्टव्य, श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासतव्य होगा और ऐसी अवस्था में हमें अपनी सत्ता का भी बोध नहीं रह जायेगा–उत्तरतः आत्मा, दक्षिणतः आत्मा, पुरस्ताद् आत्मा, पश्चात् आत्मा, उपरिष्ठात् आत्मा, अधस्ताद् आत्मा–सब ओर आत्मभाव होगा। उसी के साथ खेलेंगे–खेलते-खेलते उसी में सुध-बुध खो बैठेंगे। प्रियतमा के साथ किल्लोल करते समय जो रति भाव होता है, उस भाव से इसकी थोड़ी सी तुलना की जा सकती है, पर इस भाव की भी चरम सीमा इस स्थिति में होगी। यह स्थिति असंख्यों में से किसी एक को कभी प्राप्त होती है, किन्तु निराश नहीं होना चाहिए, हमारी जैसी सभी अणु सत्तायें अपने अनन्त जीवन काल में न जाने कितनी बार मुक्त हो चुकी हैं, और आगे होंगी भी। इस वर्तमान बन्धन से पूर्व न जाने कितनी बार हम मुक्त रह चुके हैं, और न जाने कितनी बार हम फिर मुक्त होंगे। कोई भी बद्ध जीव ऐसा नहीं है, जो पहले कभी मुक्त न था, और न कोई ऐसा मुक्त अभी है, जो मुक्ति की अवधि समाप्त करके बद्ध जीवन में नहीं आवेगा। मुक्ति के बाद बन्धन और बन्धन के बाद मुक्ति, यह श्रृंखला बराबर चलती रहेगी।

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च"—गीता का यह वाक्य एक लघु-सत्य है, इससे भी अधिक व्यापक सत्य यह है—बद्धस्य हि ध्रुवा मुक्तिः ध्रुवं बन्धं हि मुक्तस्य। अर्थात् जहां यह एक यथार्थता है, और वैदिक आस्थाओं की विशेषता, कि जो पैदा हुआ है वह मरेगा, और जो मरेगा, वह फिर पैदा होगा, उससे भी बढ़कर यह निष्कर्ष है, कि "जो आज वद्ध अवस्था में है, वह कभी न कभी मुक्त अवश्य होगा, और जो मुक्त अवस्था में है, वह कभी न कभी आगे चलकर फिर बद्ध अवस्था में आवेगा।" जीवन की यथार्थ प्रयोजनता इसी सत्य में चरितार्थ होती है।

सत्ता में यथार्थ एवं विस्तार, ज्ञान, आनन्द और कर्म में अनन्त—ऐसी सत्ता का नाम ब्रह्म, ईश्वर, प्रजापति, प्रभु, इन्द्र आदि है। सत्ता में यथार्थ, विस्तार में अपरिमित किन्तु ज्ञान, आनन्द, और कर्म में स्वयं शून्य—ऐसे तत्त्व का नाम प्रकृति और सत्ता में यथार्थ और विस्तार, ज्ञान, आनन्द और कर्म में अल्प या अणु ऐसे तत्त्व का नाम जीव, पुरुष या आत्मन् है—ब्रह्म में अनन्त विस्तार, अनन्त ज्ञान, अनन्त सामर्थ्य, अनन्त आनन्द होने के कारण इसे परम पुरुष, परमेश्वर, परमात्मन् भी कहते हैं। तीनों स्वभाव से ऐसे हैं—सदा से ऐसे ही और सदा ऐसे ही रहेंगे। ब्रह्म ने अल्पज्ञान वाले जीव की सृष्टि नहीं की है। जैसे ब्रह्म स्वभाव से सर्वज्ञ है, उसी प्रकार जीव स्वभाव से अल्पज्ञ है और प्रकृति स्वभाव से अज्ञ है। वैदिक दर्शन का यह आधारभूत सिद्धान्त है, और यही परमज्ञान है। इन तीनों में से किसी एक सत्ता के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार न करना हेत्वाभास मात्र है।

नास्तिकता का वाद उतना ही पुराना है जितना आस्तिकता का, किन्तु संसार के महान् प्रश्नों की जितनी सुगम और सरल व्याख्या आस्तिकवाद (और त्रिसत्तावाद) से हो सकती है, उतनी अन्य किसी वाद से नहीं। विज्ञान के क्षेत्र में एक यह सर्वमान्य नियम रहा है कि यदि किसी घटना की व्याख्या एक से भिन्न अनेक प्रकारों या पद्धतियों से हो सकना संभवनीय हो, तो उन सब में से उस व्याख्या को स्वीकार किया जाय जो सरलतम और सुगमतम है। श्वेताश्वतर उपनिषद् के ऋषि ने सृष्टि रचना के क्रम को समझने के लिए कई आस्थायें प्रकट कीं, सांख्य के आचार्य ने भी अनेक प्रतिपत्तियों की संभावना पर विचार किया, किन्तु प्रकृति और पुरुष की सत्ताओं को स्वीकार किये बिना कोई सरल मार्ग प्रतीत नहीं हुआ। संसार के अस्तित्व, उसके विकास और ह्रास (उसके भूः और भुवः) और उसके प्रयोजन की व्याख्या करनी हो, तो न तो विशुद्ध अद्वैतवाद से काम चलेगा, और न विशुद्ध शून्यवाद से। न तो शून्य से और न एकत्व से बहुत्व की व्याख्या हो सकती है। शून्यत्व और एकत्व कल्पनामात्र की सत्ता है—काल्पनिक इतिहास भी प्रारम्भ में शून्य था अथवा प्रारम्भ में विशुद्ध एक था—यह इतिहास की ही तो बात है, जिसका पता लगाना

हमारे और आपके लिए प्रश्नचिह्न ही बना रहेगा। अन्त में, आगे किसी दूर भविष्य में फिर सब एक ही रह जाएगा, अथवा सब शून्य में विलीन हो जायेगा यह भी भविष्य के इतिहास की दुरुह कल्पना है। संसार के वर्तमान में बहुत्व ही यथार्थ है। इस बहुत्व को हम अस्वीकार नहीं कर सकते। व्याख्या का विषय भी यही बहुत्व है। इसी बहुत्व की उत्पत्ति की हमें व्याख्या करनी है। **एकोऽहं बहुस्याम:** (अल्प या अल्पतम से बहुत्व की सृष्टि हो जाना) यही तो मीमांसा का विषय है। कितनी ही कल्पना आप क्यों न करें—बहुत्व की उत्पत्ति न तो शून्य से हो सकती है, और न एक से, और बहुत्व की सृष्टि की प्रयोजनता तो शून्यवाद या अद्वैतवाद के आधार पर अभिव्यक्त की ही नहीं जा सकती। इस दिशा में सांख्य का "संहत परार्थत्वात्" सूत्र ही हमारे मार्ग का निदेशन कर सकता है। आज का वैज्ञानिक भी इस बात को स्वीकार करता है कि समस्त सृष्टि किसी महान् अतिव्यापक सूत्र में ग्रथित है—और यह चराचर सृष्टि निष्प्रयोजन नहीं है। यह सृष्टि न माया है, न धूल है, न अपनी सत्ता मात्र के लिए है, और हम आस्तिक तो यह भी मानते हैं, कि सृष्टि के निमित्त कारण (परम निर्माता) ने यह सृष्टि अपने आमोद-प्रमोद के लिए भी नहीं बनायी—इसकी रचना में आत्मतुष्टि उसका ध्येय नहीं था।

विज्ञानवाद, शून्यवाद और अद्वैतवाद इस सृष्टि की व्याख्या करने में असमर्थ रहे हैं। शून्यवाद और विज्ञानवाद को ही उपनिषदों की काव्यमय सूक्तियों से अलंकृत करके शंकरस्वामी ने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया अन्यथा उनका अद्वैतवाद बौद्धों के शून्यवाद और विज्ञानवाद से बहुत भिन्न नहीं है। विज्ञानवाद और शून्यवाद नास्तिकों के दर्शन हैं और अद्वैतवाद भी तो नास्तिकतावाद का ही एक मोहक रूप है। यदि आइन्स्टाइन के सापेक्षता-वाद को पुराने आचार्यों ने सुलझे ढंग से समझा होता, तो न तो शून्यवाद की आवश्यकता रहती और न अद्वैतवाद की। सापेक्षतावाद संसार को मिथ्या नहीं मानता, सापेक्षता से उत्पन्न घटनाओं की नियन्त्रित रूप से यह व्याख्या करता है। सापेक्षता एक प्रकार का समवाय संबंध है, जो उतना ही महत्व का है जितना कि निमित्त कारणत्व और उपादान कारणत्व। समवाय यथार्थता है, इसके सचेष्ट होने के भी नियम हैं। इसकी अनिर्वचनीयता भी वैज्ञानिक अनि-र्वचनीयता है जिसे गणित के सूत्रों में व्यक्त करने का प्रयास किया जा सकता है, और प्रयास करना भी चाहिए। गणित के ये सूत्र यथार्थता की दिशा में हमें प्रेरित करते हैं। वैज्ञानिक दर्शन इस प्रकार यथार्थता का दर्शन है।

वैदिक दर्शन समझने के लिए श्रुति को और सृष्टि को दोनों को समझना परमावश्यक है, इसीलिए वैदिक अध्ययन के निमित्त वेदांग और उपवेदों का ज्ञान आवश्यक हुआ। सीमित क्षेत्र में इसी तत्त्वज्ञान के अनुशीलन के निमित्त ऋषियों ने उपनिषदों की रचना की। चारों संहिताओं का तत्त्वज्ञान एक ही है,

रस्पर विरोधी नहीं, यह बात इस संकेतमात्र से स्पष्ट हो जाती है कि हमारी समस्त उपनिषदें वेद की किसी न किसी शाखा से संबंध रखती हैं—ऐतरेय उपनिषद् ऋग्वेद से, मुण्डक और प्रश्न अथर्ववेद से, ईश और बृहदारण्यक यजुर्वेद से, केन और छान्दोग्य सामवेद से। शंकर, रामानुज, वेदव्यास आदि आचार्य सब इस बात में एकमत हैं—कि सभी उपनिषदें एक ही तत्त्वज्ञान का प्रतिपादन करती है और एक सी ही प्रामाणिक हैं। समन्वय बुद्धि से उपनिषदों को पढ़ा जाय तो वेदों में भी समन्वय बुद्धि उत्पन्न होगी। वेदों में समन्वय बुद्धि उत्पन्न हो जाए तो उपांगों (षड्दर्शनों) में समन्वय बुद्धि उत्पन्न हो जायगी—न्याय-वैशेषिक, सांख्य–योग और दोनों (अर्थात् उत्तर और पूर्व) मीमांसायें, सभी दर्शन एक ही तत्त्वज्ञान के प्रतिपादक हैं। न्याय-वैशेषिक हीन श्रेणी का तत्त्वज्ञान है और उत्तर मीमांसा (वेदांत दर्शन) उच्चतम तत्त्वज्ञान है, यह आस्था समन्वयात्मक भावना के सर्वथा विपरीत है। सांख्य को नास्तिक मानना, योग के ईश्वर को पुरुषविशेष की संज्ञा देकर तिरस्कृत करना, न्याय के तर्क शास्त्र को तत्त्वज्ञान के लिए भ्रमात्मक या अविश्वसनीय मानना, वैदिक दर्शन की यथार्थता के विरुद्ध है।

षड्दर्शन समन्वय पर भी इधर कतिपय आचार्यों ने काम किया है। श्री लक्ष्मीदत्त दीक्षित का प्रस्तुत ग्रन्थ **अनादि तत्त्व दर्शन** इस दिशा में बड़ा ही सुन्दर प्रयास है। कतिपय स्थलों पर श्री दीक्षित जी ने षड्दर्शनों में से सूत्र लेकर उन्हें नये ढंग से सजाया है। शृंखला न टूटे, तर्क स्पष्ट भासित हो, इस दृष्टि से योग्य लेखक ने अपने रचित नये सूत्र दिये हैं—इन सूत्रों से ग्रंथ का गौरव बढ़ा है। कुछ ऐसे विषयों को भी विस्तार से इस ग्रन्थ में समाविष्ट किया गया है, जो साधारणतया दर्शन शास्त्र की कोटि में नहीं आते (जैसे प्रतीकोपासना, अवतारवाद आदि), किन्तु आजकल के युग में इन पर विचार करना भी अत्यन्त आवश्यक हो गया है, क्योंकि जनता पर इन अन्धविश्वासों का कुत्सित प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है।

दीक्षित जी ने समस्त सूत्रों पर स्वयं भाष्य भी किया है। भाष्य में दिए गए प्रमाणों और युक्तियों से ग्रन्थ की श्रेष्ठता बढ़ गयी है। भारतीय दर्शन में रुचि रखने वाले सभी विद्वानों के लिए यह ग्रन्थ लाभकर होगा, इस विश्वास के साथ मैं योग्य लेखक को उनकी इस कृति पर बधाई दूंगा। पाठकों से मेरा आग्रह है, कि उनकी अपनी दार्शनिक आस्थायें चाहे कुछ भी हों, वे इस ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ें। उन्हें यह ग्रन्थ रुचिकर लगेगा और इसमें उन्हें ग्राह्य सामग्री उपलब्ध होगी। दार्शनिक उत्कण्ठा को हल्की सी नयी दिशा भी मिल गयी, तो लेखक का परिश्रम सफल हो जायगा।

सत्यप्रकाश सरस्वती

बम्बई
२० जुलाई १९७९

प्रकाशकीय

'अनादि तत्त्व दर्शन' ग्रन्थ के लिखे जाने पर इसके प्रकाशन की समस्या सामने आई। ग्रन्थ के लेखक पं० लक्ष्मीदत्त दीक्षित ने अपना संकल्प प्रकट किया कि वे इसका प्रकाशन 'विरजानन्द वैदिक संस्थान' द्वारा कराना चाहते हैं। यह सम्पत्ति संस्थान की होगी, इसके मुद्रण, विक्रय आदि का सब प्रबन्ध वही करेगा।

संस्थान के प्रधान संचालक श्री स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती का गत वर्ष देहावसान हो जाने से संस्थान की आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक नहीं रही है। उनकी उपस्थिति में किसी भी उपयुक्त साहित्य के प्रकाशन के लिये कोई बाधा न रहती। दीक्षित जी के संकल्प को जानकर मैंने उनसे यह निवेदन किया।

इसकी यथार्थता को समझते हुए दीक्षित जी ने कहा—इसका आनुमानिक व्यय मालूम होना चाहिये, उसके लिए यथाशक्ति प्रयत्न किया जायगा। अपने अनुभव के अनुसार प्रकाशन सामग्री के बाज़ार भाव को देखते हुए, व्यय होने वाली आनुमानिक राशि का निर्देश कर दिया। साथ ही यह भी निवेदन किया कि बाज़ार में आये दिन भाव ऊपर को ही चढ़ते जा रहे हैं, इसका भी ध्यान रखियेगा। पुस्तक के प्रकाशित होने तक पांच चार महीने या और अधिक समय लग जाना साधारण बात है।

कुछ समय बाद दीक्षित जी ने शुभ समाचार दिया कि आर्य समाज पानीपत ने इस ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ पांच हज़ार रुपये देना स्वीकार कर लिया है। प्रारम्भ में प्राप्त इस धन राशि के पूर्ण सन्तोषजनक होने के कारण तत्काल ग्रन्थ की पाण्डुलिपि प्रेस को दे दी गई, तथा कागज़ उपयुक्त परिमाण में इकट्ठा ख़रीद कर प्रेस में पहुंचा दिया गया।

कालान्तर में निम्न निर्दिष्ट धन राशि भी पुस्तक प्रकाशन के लिए प्राप्त हो गई—

५०१) रुपये आर्य समाज मॉडल टाऊन, दिल्ली
२५१) रुपये आर्य समाज, नया बांस, दिल्ली
२५१) रुपये आर्य समाज, देहरादून

जिन संस्थाओं ने प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में अपना स्नेहपूर्ण आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, संस्थान उनके प्रति हार्दिक धन्यवाद प्रकट करता हुआ सादर आभार स्वीकार करता है।

प्रेस के कर्मचारी तथा संचालक श्री महेन्द्रसिंह धन्यवाद व बधाई के पात्र हैं, उन्होंने पुस्तक छापने में सफ़ाई व शुद्धता का पर्याप्त ध्यान रक्खा है। परन्तु पुस्तक छापने में विलम्ब बहुत अधिक कर दिया है। श्री महेन्द्रसिंह से निवेदन है, वह कार्य को अपेक्षित समय में सम्पन्न कर देने की प्रवृत्ति को अधिक बल दें; इससे प्रेस के प्रति प्रकाशकों का आकर्षण प्रगति पकड़ सकता है।

कार्य सम्पन्नता में प्रभु की अपार कृपा के साथ—

विनीत
उदयवीर शास्त्री
कृते
विरजानन्द वैदिक संस्थान
गाज़ियाबाद उ. प्र. (भारत)
२०१००१

ओ३म्

अनादि तत्त्व दर्शन

प्रथम अध्याय

सत्यासत्य-निर्णय

तत्त्वज्ञानादभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः ॥१॥

अभ्युदय—लौकिक सुख यथा निःश्रेयस् अर्थात् शाश्वत सुख—मोक्ष की प्राप्ति तत्त्वज्ञान के लिये आवश्यक है।

'अभ्युदय' का प्रसिद्ध अर्थ ऐहिक सुख अर्थात् वर्तमान जीवन में भौतिक साधनों के द्वारा प्राप्त ऐश्वर्य है। विद्वानों ने इस पद का अर्थ 'तत्त्वज्ञान' भी किया है। तत्त्वज्ञान और सुख में नित्य सम्बन्ध होने से दोनों अर्थों का सामञ्जस्य हो जाता है। भविष्यत् का आधार वर्तमान है। अतः जन्मान्तर की चिन्ता करने से पहले वर्तमान जीवन की आवश्यकताओं को जुटाना अपेक्षित है। मोक्ष प्राप्ति में साधन-रूप शरीर तथा 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' की उपेक्षा नहीं की जा सकती। तत्त्वज्ञान अर्थात् विज्ञान की सहायता से भौतिक तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप को जानकर ही ऐहिक जीवन की सुख-सुविधा के उपकरणों की उपलब्धि एवं उनका समुचित उपयोग संभव है। द्रव्यादि पदार्थों के साधर्म्य तथा वैधर्म्य ज्ञान से 'अभ्युदय' की सिद्धि का यही अर्थ है।

अभ्युदय के साथ-साथ द्रव्यादि पदार्थों का ज्ञान निःश्रेयस की सिद्धि में भी उपयोगी है। यह ठीक है कि द्रव्यादि पदार्थ हमारी सुख-सुविधाओं के जनक हैं। परन्तु अपने स्वरूप में वे 'श्वोभावाः'—क्षणभंगुर अर्थात् नश्वर हैं। पदार्थों की इस वास्तविकता को समझ लेने के पश्चात् विवेकी पुरुष आत्मवित् हो जाता है अर्थात् अपने शाश्वत स्वरूप को पहचानने लगता है। द्रव्यादि जड़ पदार्थ परिणामी एवं नश्वर हैं; एक आत्मतत्त्व ही इनसे भिन्न अविनाशी है—ऐसा जानकर वह देह और उसकी वासनाओं में सदा के लिये लिप्त न होकर जन्म जमान्तर के रूप में आवर्त्तमान चक्र से निकलने की सोचने लगता है। यही ज्ञान आत्मा को निःश्रेयस के मार्ग में प्रवृत्त करता है। अभ्युदय और 'निःश्रेयस में टकराव होने पर 'परोक्षप्रिया हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः' के अनुसार यह निःश्रेयस को चुन लेता है। इसी रूप में तत्त्वज्ञान निःश्रेयस की सिद्धि में साधक है ॥१॥

यथार्थदर्शनं हि ज्ञानम् ।।२।।

जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही जानने का नाम 'ज्ञान' है।

इन्द्रियां बाह्य जगत् का ज्ञान कराने वाले अधिकरण हैं। किन्तु उनकी सीमा गुणों तक है। द्रव्यों की यथार्थता का दर्शन कराने में वे अंशतः सफल होती हैं। किन्तु सधी हुई योगबुद्धि पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को जानने में समर्थ हो जाती है। साधारण बुद्धि के सामने आने वाला ज्ञान बाहरी आवरण मात्र होता है जिसे भेद कर योगबुद्धि तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का दर्शन कर पाती है। साधारण बुद्धि के लिये स्वर्ण पीले रंग की एक बहुमूल्य धातुमात्र है। सामान्य वैज्ञानिक के लिये वह परमाणुओं का संघात है। किन्तु महान वैज्ञानिक के लिये वही स्वर्ण के परमाणु इलेक्ट्रॉन, प्रोटोन तथा न्यूट्रॉन की निश्चित संख्या वाले हैं, जिनमें परिवर्तन करने पर स्वर्ण के परमाणुओं को किसी अन्य तत्त्व के परमाणुओं में बदला जा सकता है। जीव की अल्पज्ञता यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि में बाधक है। स्वरूप से अल्पज्ञ होने के कारण जीवात्मा सब कुछ तो नहीं जान सकता, परन्तु बहुत कुछ जान लेता है। इसलिये परमाणु से परमेश्वर पर्यन्त समस्त पदार्थों के यथार्थज्ञान साधन में प्रवृत्त रहना उसका परम पुरुषार्थ है। गीता में 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं ज्ञानम्' (१३-११) अर्थात् तत्त्वज्ञान के विषयों (प्रकृति, पुरुष व जीवात्मा) के साक्षात्कार को 'ज्ञान' कहा है ।।२।।

तदेव सत्यम् ।।३।।

उसी अर्थात् 'यथार्थदर्शन' का ही दूसरा नाम 'सत्य' है।

जो पदार्थ जैसा हो उसे वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है। 'अस भुवि' इस धातु से 'सत्' शब्द निष्पन्न होता है। जो पदार्थ है वह 'सत्' कहाता है। 'सते हितम्' अथवा 'सत्-यत्'—इस व्युत्पत्ति से 'सत्य' का अर्थ 'यथार्थ' उसके अपने स्वरूप में निहित है। 'न हि सत्यात्परो धर्मः' तथा 'नहि सत्यात्परं ज्ञानम्' उपनिषदों के इन वचनों के अनुसार सत्य-धर्म और ज्ञान एक ही अर्थ के वाचक हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में 'जिस एक के जान लेने पर सब जान लिया जाता है, वह ब्रह्म कहां है?' के उत्तर में कहा—'ततसत्ये प्रतिष्ठितम्' (५-१४-४) अर्थात् वह सत्य में प्रतिष्ठित है। 'सत्यम्' शब्द तीन अक्षरों—स+ति+यम् से बना है (बृहद्-५-५-१)। ये तीनों अक्षर क्रमशः जीव, प्रकृति और ईश्वर के वाचक हैं। इसप्रकार 'सत्यम्' ब्रह्म का न. । है। इसीलिये ब्रह्म को जान लेना तत्त्वज्ञान के तीनों विषयों को जान लेना है। 'यत् त्रिषु कालेषु न बाध्यते तत्सत्यम्' स्वामी दयानन्द द्वारा कीगई 'सत्य' की यह परिभाषा स्वामी शंकराचार्य के इस कथन—कि 'जो किसी अन्य ज्ञान द्वारा बाधित न हो वह ज्ञान सत्य है' के अनुकूल है—क्योंकि पदार्थ का यथार्थ दर्शन वास्तव में उसके अपने स्वभाव का ज्ञान है। वस्तुतः 'सत्य' 'तथ्य' का पर्यायवाची है। यथार्थ अथवा सत्य की

परख कैसे कीजाय, यह प्रश्न है जिसका समाधान अगले सूत्रों में किया गया है ॥३॥

सत्याऽसत्यनिर्णये परीक्षा पञ्चविधा ॥४॥

सत्यासत्य की परीक्षा पांच प्रकार से कीजाती है। आत्मा सत्यासत्य का जानने वाला है अर्थात् आत्मा में सत्य और असत्य का विवेक करने की शक्ति है। किन्तु स्वार्थ, हठ, दुराग्रह और अविद्यादि दोषों के कारण सत्य को छोड़ असत्य की ओर झुक जाता है। यदि हम सत्य को जानना चाहते हैं और हमारे मस्तिष्क के द्वार खुले हैं तो हम असंगत और तर्कहीन विचारों को छोड़ कर सत्य की ओर वढ़ते जायेंगे। तर्क,तर्क के लिए नहीं वरन् सत्य को जानने के लिए है। वह स्वयं साध्य न होकर साधनमात्र है। 'तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः' न्यायदर्शन (१-१-४०) के इस सूत्रांश के अनुसार तर्क स्वयं तत्त्वज्ञान न होकर तत्त्वज्ञान में सहयोगी है। जब कोई व्यक्ति किसी विषय को तात्त्विक रूप से जानना चाहता है तो उसके पक्ष-विपक्ष में प्रमाण व हेतु जुटा, गम्भीरता से मनन व चिन्तन करके किसी निर्णय पर पहुंचता है। सत्य के अन्वेषक का इस विषय में मार्ग दर्शन करने के लिए सत्यासत्य की परख के निमित्त पांच कसौटियां निश्चित कीगई हैं ॥४॥ पहली कसौटी है—

श्रुतिसम्मतं सत्यम् ॥५॥

जो ईश्वरीय ज्ञान वेद के अनुकूल है वह सत्य है। किसी भी मनुष्य के लिए पूर्णज्ञानी होना सम्भव नहीं। मानव का ज्ञान यत्किंचित् अज्ञानमिश्रित रहता है। ईश्वरीय ज्ञान पूर्ण, नित्य तथा निर्भ्रान्त है। मानव के लिये जितना अपेक्षित है वह वेद के रूप में उसे प्राप्त है। उसका निरपेक्ष प्रामाण्य होने से वहां जो विहित है वह अनुष्ठेय तथा जो निषिद्ध है वह त्याज्य है। यथार्थ धर्म का स्वरूप वहीं से जाना जाता है। इसीलिये ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त आर्यों का यह परम्परागत विश्वास रहा है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है तथा भगवान् ने सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ वेदों का प्रकाश किया, जिससे वे परमाणु से लेकर परमेश्वर पर्यन्त समस्त पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर अभ्युदय तथा निःश्रेयस की सिद्धि कर सकें।

बाल की खाल उतारने वाले साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों में प्रमुख महर्षि कणाद ने 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' (वै.द. ६-१-१) की घोषणा करने से पहले वेद का पूरी तरह अनुशीलन करने और बुद्धि की कसौटी पर परखने के बाद यह निश्चय किया, कि वेद में जो भी वाक्यरचना है, पद व पदसमूहों की आनुपूर्वी है, वह सब बुद्धिपूर्वक है, नित्य-ज्ञानमूलक है और उसमें भ्रम, प्रमाद और विप्र-लिप्सा आदि दोषों की सम्भावना नहीं है। इसीलिये उन्होंने ईश्वरीय ज्ञान होने

से वेद का स्वतः प्रामाण्य (तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्-१-१-३) स्वीकार किया। नास्तिक कहे जाने वाले कपिल ने भी सांख्यदर्शन में 'निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्' (५-५१) इत्यादि सूत्रों के द्वारा वेद के ईश्वरीय शक्ति से अभिव्यक्त होने के कारण उसका स्वतःप्रामाण्य माना है। न्यायदर्शन ने 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्य-वच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्' (२-१-६७) इत्यादि सूत्रों में परम आप्त ईश्वर का वचन होने और असत्य, परस्पर विरोध तथा पुनरुक्ति आदि दोषों से मुक्त होने के कारण वेद को परम प्रमाण सिद्ध किया। योगदर्शनकार महर्षि पतञ्जलि ने 'स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' (समाधिपाद-२६) कह कर परमेश्वर को नित्य वेदज्ञान देने के कारण सबका आदिगुरु माना। जैमिनि ने तो मीमांसा शास्त्र में धर्म का लक्षण ही यह किया है—'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' अर्थात् जिसके लिए वेद की आज्ञा हो वह धर्म और इसके विपरीत अधर्म है। वेदान्त सूत्रों के रचयिता वेदव्यास जी ने 'शास्त्रयोनित्वात्' (१-१-३) तथा 'अतएव च नित्यत्वम्' (१-३-२९) इत्यादि सूत्रों के द्वारा ईश्वर को ऋग्वेदादि का कर्त्ता मानते हुए वेद की नित्यता का प्रतिपादन किया है। 'शास्त्रयोनित्वात्' इस सूत्र का भाष्य करते हुए जगद्गुरु आदि शंकराचार्य ने लिखा है—

ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत्
सर्वार्थावद्योतिनः सर्वज्ञकल्पस्य योनिः कारणं ब्रह्म। न,
हीदृशस्यर्ग्वेदादिलक्षणस्य सर्वज्ञगुणान्वितस्य सर्वज्ञादन्यतः संभवोऽस्ति ॥

अर्थात् ऋग्वेदादि जो चार वेद हैं वे अनेक विद्याओं से युक्त हैं, सूर्य के समान सब सत्य अर्थों के प्रकाशक हैं—उनका बनाने वाला सर्वज्ञत्वादि गुणों से युक्त परब्रह्म है; क्योंकि सर्वज्ञ ब्रह्म से भिन्न कोई जीव सर्वज्ञगुणयुक्त वेदों को बना सके—ऐसा संभव नहीं।

उपनिषदों में जो कुछ कहा गया है वह वैदिक मान्यताओं की प्रयोगात्मक एवं दार्शनिक अभिव्यक्ति है। ईशोपनिषद् तो सीधे यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय है। शेष सभी उपनिषदों का मुख्य आधार यही उपनिषद् है। बृहदारण्यकोप-निषद् शतपथब्राह्मण का एक भाग है जो स्वयं यजुर्वेद का व्याख्यान ग्रन्थ है। छान्दोग्योपनिषद् सामवेदीय उपनिषद् है। तैत्तिरीय उपनिषद् 'भूः भुवः स्वः' को क्रमशः ऋग्, यजुः और सामवेदस्थानीय मानता है। मुण्डकोपनिषद् में 'वाग् विवृताश्च वेदाः' (२-१-४) तथा 'तस्मादृचः सामयजूंषि दीक्षाः' (४-१-६) का उल्लेख कर वेदों को सर्वभूतान्तरात्मा परमेश्वर की वाणी और स्पष्टतः उसीसे उनकी उत्पत्ति होना मानागया है। कठोपनिषद् में 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (२-१५) तथा बृहदारण्यकोपनिषद् में 'तमेतं वेदानुवचनं न ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (४-४-२२) इत्यादि वचनों से स्पष्ट बताया गया है कि सारे वेद सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म का प्रतिपादन करते तथा ब्राह्मण वेद के स्वाध्याय द्वारा उसी पर-मात्मा को जानने की इच्छा करते हैं। सभी उपनिषदों में स्थान-स्थान पर प्रमाण

रूप में वेद मन्त्रों का उल्लेख मिलता है। कहीं-कहीं "द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्माह यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकारणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" (मुण्डक १-१-४) अथवा "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरुपाः" (मुण्ड १-२-७) आदि के भाव को न समझ कर उपनिषदों को वेदों के विरुद्ध भ्रान्ति समझ बैठना भूल है। वस्तुतः किसी ग्रन्थ के किसी विषय में वास्तविक अभिप्राय का उसके एकाध वाक्य को पूर्वापर प्रसंग से अलग करके देखने से पता नहीं चल सकता। इसके लिए हमें उस ग्रन्थ की मूल भावना को अपने विचार का केन्द्र बनाकर उसीके परिप्रेक्ष्य में उसके सब वचनों को समझने का यत्न करना चाहिये। उपक्रम और उपसंहार को देखकर अर्थ का निश्चय कियाजाता है। ऋग्वेद के 'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति' (१-१६४-३९) इस मंत्रांश को लेकर क्या कोई यह कल्पना कर सकता है कि इस कथन के द्वारा स्वयं वेद ने अपनी निन्दा की है? यहां वेदों के पाठ मात्र को पर्याप्त न मानकर वेदप्रतिपाद्य परमात्मा को जानने पर बल दिया गया है, यही इसका अभिप्राय है। ऐसा ही अन्यत्र भी—जहां अन्यथा जान पड़े—समझना चाहिये।

निरुक्त के मत में 'पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसम्प्रत्तिर्मन्त्रो वेदे' (१-१-२) पुरुष की विद्या का उसका ज्ञान अनित्य होने से वेदमन्त्रों द्वारा कर्त्तव्य कर्मो का नित्य पूर्ण रूप में प्रतिपादन कियागया है। स्मृति ग्रन्थ तो वेद के प्रामाण्य की भावना से ओतप्रोत हैं। मनुजी ने 'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' (२-६) कह कर वेद को धर्म का मूल मानते हुए घोषणा की—'धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' (२-१३) अर्थात् जो धर्म का ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए परम प्रमाण वेद है। वेदों का महत्त्व बताते हुए उन्होंने यहाँ तक कह दिया कि—

पितृदेवमनुष्याणाँ वेदश्चक्षुः सनातनम्।
अशक्यं चाप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥९४॥
चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यञ्च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति ॥९७॥
विर्भात सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम्।
तस्मादेतत्परं मन्त्रे यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥९९॥

—मनु. १२

सारांश यह कि वेद पितर, देव और मनुष्य सभी के लिए सनातन मार्गदर्शक नेत्र के समान है। उसकी महिमा का पूर्णतया प्रतिपादन करना अथवा उसे पूर्णतया समझना बड़ा कठिन है। चारों वर्ण, तीन लोक, चार आश्रम, भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान विषयक ज्ञान वेद से ही प्रसिद्ध होता है। सनातन वेदशास्त्र सब प्राणियों को धारण करता है। यही मनुष्यमात्र के लिए भवसागर से पार होने का साधन है।

मनुस्मृति के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण याज्ञवल्क्यस्मृति का वचन है कि—

'न वेदशास्त्रादन्यत्तु किंचिच्छास्त्रं हि विद्यते ।
निस्सृतं सर्वशास्त्रं तु वेदशास्त्रात्सनातनात् ।।'

वेदशास्त्र से बढ़कर कोई शास्त्र नहीं । अन्य सब शास्त्र सनातन वा नित्य वेद से ही निकले हैं ।

अत्रिस्मृति के अनुसार 'नास्ति वेदात्परं शास्त्रम्' अर्थात् वेद से बड़ा कोई शास्त्र नहीं है ।

महाभारत में महर्षि वेदव्यास ने अनेक स्थानों पर वेद को नित्य और ईश्वर-कृत बताते हुए लिखा है—

'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ।।'
—म. भा. शान्तिपर्व २३२-२४

अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में स्वयम्भू भगवान् ने वेदरूप नित्यवाणी का प्रकाश किया जिससे मनुष्यों की सब प्रवृत्तियां होती हैं। यह ऋग्वेद के मन्त्र 'तस्मै नूनमभिद्यवे वाचा विरूपनित्यया वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्' । (८-७-५-६) का मानो अनुवाद है । इसी अध्याय में आगे कहा है—

"नानारूपं च भूतानाँ कर्मणाँ च प्रवर्तनम् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः ।।"
—म. भा. शा. पर्व २३२-२५

ईश्वर ने वस्तुओं के नाम और कर्मों का निर्माण वेद के शब्दों से किया ।

भगवद्गीता के अनुसार भी धर्म-कर्म की उत्पत्ति वेद से मानी गई है। अध्याय ३ के श्लोक १५ में आये 'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' का भाष्य करते हुए शंकराचार्य ने लिखा है—'ब्रह्म वेदः स उद्भवः कारणं यस्य तत् कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि' अर्थात् कर्म की उत्पत्ति वेद से है । पुनः इसी श्लोकान्तर्गत 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा—'ब्रह्म पुनर्वेदाख्यम् (अक्षरसमुद्भवं) अक्षरं ब्रह्म परमात्मा समुद्भवो यस्य तदक्षरसमुद्भवं ब्रह्म वेद इत्यर्थः' अर्थात् वेद की उत्पत्ति साक्षात् ब्रह्म से है । मध्वाचार्य ने भी इस श्लोक की व्याख्या करते हुए वेद की अन्तः साक्षि 'वाचा विरूपनित्यया' महाभारत का वचन 'अनादिनिधना नित्या' तथा वेदान्तसूत्र 'अतएव च नित्यत्वम्' को उद्धृत करके श्रुतिस्मृतिभगवद्वचनेभ्यः' वेद की ईश्वरीयता तथा नित्यता को स्वीकार किया है । रामानुज भाष्य की 'अमृततरङ्गिणी' टीका में भी 'वेदात् कर्मोत्पत्तिः स च ब्रह्मनिःश्वसितः कह कर शंकराचार्य तथा मध्वाचार्य के विचारों की पुष्टि कीगई है । 'नीलकंठी' टीका में तो यहां तक कह दिया गया कि 'कर्म वेदोद्भवं वेद एवं धर्मे प्रमाणं न तु पाखंडादिप्रणीतागमः ।'

गीता में 'वेदवादरताः' जैसे वचनों में कहीं-कहीं वेदों की निन्दा कीगई

जान पड़ती है। वास्तव में वहां वेदों की निन्दा न होकर 'वेद-वेद' चिल्लाने वाले किन्तु वेदानुकूल आचरण न करने वाले लोगों की भर्त्सना है। महात्मा बुद्ध वेदों के नाम से कल्पित वचनों की निन्दा करते थे, किन्तु शास्त्रार्थ के लिए योग्यता और रुचि न होने के कारण कभी-कभी उनके मुख से ऐसे शब्द निकल जाते होंगे कि 'यदि वस्तुतः वेदों में हिंसा का विधान है, तो मैं न ऐसे वेदों को मानता हूं और न उनके रचयिता ईश्वर को।' सम्भवतः ऐसी ही बातों के कारण महात्मा बुद्ध को नास्तिक (नास्तिको वेदनिन्दकः) के रुप में ले लिया गया। अन्यथा बौद्धों के धार्मिक ग्रंथों में वेदों के प्रशंसात्मक वचन भरे पड़े हैं। उदाहरणार्थ—

"समं समादाम वतानि जन्तु उच्चावचं गच्छति सज्जसत्तो।
विद्वा च वेदेहि समेच्च धम्मं न उच्चावचं गच्छति भूरिपञ्ञो॥"

—सुत्तनिपात २९२

इन्द्रियों के अधीन होकर अपनी इच्छा से कुछ काम तथा तप करते हुए लोग ऊंची नीची अवस्था को प्राप्त होते हैं। किन्तु जो विद्वान् वेदों द्वारा धर्म का ज्ञान प्राप्त करते हैं उनकी ऐसी अवस्था नहीं होती। सुत्तनिपात के ही श्लोक १०६० में महात्मा बुद्ध ने कहा है—

"विद्वा च सो वेदगू नरो इूध भवाभवे संगं इमं विसज्जा।
सो वाततण्हो अनिघो निरासो अतारि सो जारि जरांति बूमिति॥"

वेद को जानने वाला विद्वान् इस संसार में जन्म-मृत्यु में आसक्ति का परित्याग करके और तृष्णा तथा पाप से रहित होकर जन्म-मरण और वृद्धावस्था से रहित हो जाता है—ऐसा मैं कहता हूं।

सिखों के धर्मग्रन्थ गुरु-ग्रंथ साहब में भी वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने तथा धर्माधर्म में प्रमाण माने जाने का अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ—

"ओंकार वेद निरमाये" अर्थात् ईश्वर ने वेद बनाये।

"चार दीवे चहु हथ दीए एका एको बारी" अर्थात् चार दीपक (चार वेद) चहु हथ (चार ऋषियों के द्वारा) एक ही बार (सृष्टि के आरम्भ में) दिये।

"सामवेद ऋग् जजुर अथर्वण ब्रह्मे मुख। ताकी कीमत कीत कह न सकै" अर्थात् सामवेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद ब्रह्मा के मुख से निकले। उनकी कीमत (महत्त्व) कोई नहीं बता सकता।

"हरि आज्ञा होए वेद पाप पुन्न विचारिआ" अर्थात् ईश्वर की आज्ञा से वेद हुए जिससे मनुष्य पाप-पुण्य का विचार कर सके।

समस्त प्राचीन एवं मध्यकालीन साहित्य में वेद के प्रति आस्था और विश्वास का यही स्वर यत्र तत्र सर्वत्र देखने में आता है॥५॥

वेद और स्मृत्यादि ग्रन्थों के वचन एक दूसरे से विपरीत हों, तो क्या होना

चाहिए ? इस विषय में सभी आचार्यों ने एक मत से जो सिद्धान्त निर्धारित किया है वह अगले सूत्र में बताया गया है—

श्रुतिस्मृतिविरोधे श्रुतेः प्रामाण्यम् ॥६॥

यदि श्रुति और स्मृति में परस्पर विरोध प्रतीत हो, तो श्रुति को प्रामाणिक माना जायेगा स्मृति को नहीं। जाबाल ऋषि का कथन है कि 'श्रुतिस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी।' जैमिनि ने मीमांसाशास्त्र में कहा है—'विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम्' (१-३-३) अर्थात् श्रुतिविरोधे स्मृतिवाक्यमनपेक्ष्यम् अप्रमाणम् अनादरणीयम्। असति विरोधे मूलवेदानुमानम्। इसी प्रकार भविष्य पुराण के मत में भी 'श्रुत्या सह विरोधे तु बाध्यते विषयं विना।' मनुस्मृति की अपनी टीका में 'धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' की व्याख्या करते हुए कुल्लूकभट्ट ने विस्तार से इस विषय में चर्चा की है ॥६॥

सत्याऽसत्य की पहचान के लिए दूसरी कसौटी अगले सूत्र में बताई है—

सृष्टिक्रमाविरुद्धम् ॥७॥

जो बात सृष्टि क्रम के अनुकूल अथवा अविरुद्ध है वह सत्य है। सृष्टि की रचना और उसका संचालन ईश्वरीय व्यवस्था तथा प्राकृतिक नियमों के अधीन है। ये सभी नियम त्रिकालाबाधित हैं। प्रत्येक पदार्थ के गुण-कर्म-स्वभाव सदा एक से रहते हैं। अभाव से भाव की उत्पत्ति, कारण के बिना कार्य, बिना फल भोगे कर्म का क्षय, अग्न्यादि द्रव्यों द्वारा अपने स्वाभाविक गुणों का परित्याग, वन्ध्या के अथवा माता-पिता के संयोग के बिना सन्तानोत्पत्ति, जड़ से चैतन्य की उत्पत्ति, जीव की सर्वज्ञता अथवा ईश्वर का जीवों की भाँति जन्ममरण के बंधन में पड़ना आदि सृष्टिक्रम के विरुद्ध होने से असत्य हैं।

जेम्स हेस्टिंग्ज ने अपनी पुस्तक 'Dictionary of Religion and Ethics' में स्वामी दयानन्द पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—

"Dayanand tried to make the Book of God resemble the Book of Nature." अर्थात् स्वामी दयानन्द ने ईश्वरीय पुस्तक (वेद) को प्रकृति की पुस्तक (सृष्टि) के अनुकूल सिद्ध करने का प्रयत्न किया। यदि वेद और सृष्टि दोनों एक ही सत्ता के कार्य हैं, तो दोनों का एक दूसरे के अनुकूल होना स्वाभाविक एवं अनिवार्य है। ऐसा न होना आश्चर्यजनक होगा। यदि भूगोल की पुस्तक का लेखक और उसमें लगे नकशे का बनाने वाला एक ही व्यक्ति हो, तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि पुस्तक में तो दिल्ली का यमुना के किनारे स्थित होना लिखे और नकशे में उसकी स्थिति गंगा के किनारे दिखाये। संसार में कोई भी घटना सृष्टिक्रम के विरुद्ध नहीं घट सकती, भले ही मनुष्य अल्पज्ञ होने से उसकी व्याख्या न कर सके। जिन बातों को हम समझ नहीं पाते उन्हें हम जादू या

चमत्कार का नाम दे देते हैं। अनेक मिथ्या विश्वासों के मूल में उनका सृष्टिक्रम के विरुद्ध होना पाया जायेगा ।।७।।

आप्ताचारोपदेशानुकूलम् ।।८।।

जो आप्त पुरुषों के उपदेश और आचरण के अनुकूल है वह सत्य है। सत्याऽसत्य का निर्णय करने में सहायक यह तीसरी कसौटी है। आप्त शब्द 'आप्लृव्याप्तौ' धातु से निष्पन्न होता है। किसी भी पदार्थ के यथार्थ ज्ञान का नाम 'आप्ति' है। किसी कार्य में सर्वात्मना समर्पित व्यक्ति को ही इसकी प्राप्ति होती है। अपने सीमित क्षेत्र में अपने विषय की पूरी जानकारी रखने वाला कोई भी व्यक्ति उस विषय में साक्षात्कृतधर्मा होने से 'आप्त' कहलाता है। जो वस्तु जैसी हो उसको निश्चयपूर्वक उसी रूप में जानना 'साक्षात्कार' कहाता है। ज्ञानोपलब्धि के अनन्तर जब कोई व्यक्ति उस विषय की जानकारी अन्य लोगों को देने लगता है तब वह उपदेष्टा है। उस रूप में उसके लिए छलादिदोषरहित, धर्मात्मा, यथार्थवक्ता एवं सदाचारी होना आवश्यक है। उसकी कथनी और करनी एक जैसी होनी चाहिये। ऐसे आप्त अर्थात् सत्यज्ञानी, सत्यमानी, सत्यवादी तथा सत्यकारी, परोपकारी और पक्षपातरहित विद्वान् जिस बात को मानें, सबको मन्तव्य होने से वह सत्य तथा इसके विपरीत असत्य है। मनुस्मृति में 'विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः' कह कर इसीकी पुष्टि कीगई है ।।८।।

इसी विषय में चौथी कसौटी अगले सूत्र में बताईगई है।

स्वस्यात्मनःप्रियम् ।।९।।

जो अपने आत्मा के अनुकूल है वही सत्य है।

जो अपने आत्मा को प्रिय लगे वह सत्य और इसके विपरीत असत्य है। जब आत्मा मन को और मन इन्द्रियों को किसी काम में प्रवृत्त करता है तो जीव के इच्छा, ज्ञान आदि उसी में केन्द्रित हो जाते हैं। उसी क्षण आत्मा में बुरे काम करने में भय, शंका और लज्जा तथा अच्छे कामों के करने में निर्भयता, निःशंकता और आनन्दोत्साह उठता है। वह जीवात्मा की ओर से नहीं, परमात्मा की ओर से होता है। जिस व्यक्ति का जीवन जितना शुद्ध और पवित्र होता है उसके भीतर अन्तरात्मा की यह पुकार उतनी ही मुखर होती है। इसी भाव को कालिदास ने "सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः" (शकु०) अर्थात् 'सन्देह की स्थिति में मनुष्य को अपने आत्मा की प्रवृत्ति को प्रमाण मानना चाहिये' कह कर व्यक्त किया है। महर्षि वेदव्यास ने भी धर्म का सार बताते हुए कहा—'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' अर्थात् अपने आत्मा के प्रतिकूल आचरण किसी के प्रति कभी न करे ।।९।।

सत्य का निर्धारण करने के लिये पांचवीं कसौटी है—

प्रत्यक्षाद्यष्टप्रमाणैः सिद्धम् ॥१०॥

प्रत्यक्षादि आठ प्रमाणों से जो सिद्ध हो वह सत्य तथा इसके विपरीत असत्य है। 'प्रमाण' यह पद 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'माङ्' (मा) धातु से करण अर्थ में 'ल्युट्' प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। 'प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्' अर्थात् ज्ञान का जो करण–साधन है वह प्रमाण कहाता है। इस प्रकार जिस साधन द्वारा कोई पदार्थ निश्चित रूप से जाना जाता है उसे प्रमाण कहते हैं ॥१०॥

इन आठ प्रमाणों का नामोल्लेख अगले सूत्र में किया है—

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावभेदादष्टधा प्रमाणम् ॥११॥

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव ये आठ प्रमाण हैं।

किसी विषय को जानने के लिये आठों प्रमाणों की सम्मिलित रूप में अपेक्षा नहीं होती। कहीं एक प्रमेय (ज्ञान के विषय) में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति होती है और किसी विषय में एक ही प्रमाण का प्रवृत्त होना संभव होता है ॥११॥

दर्शनञ्चाप्यष्टविधम् ॥१२॥

(उपरोक्त साधन भेद से) दर्शन (ज्ञान) भी आठ प्रकार का होता है:

सर्वप्रथम कथित प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण करते हैं—

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥१३॥

आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ऐसा ज्ञान जो व्यय देश्य न हो, व्यभिचारी न हो और निश्चयात्मक हो 'प्रत्यक्ष' कहाता है।

वाह्य विषय के साथ सीधा सम्बन्ध न आत्मा का होता है, न मन का। चेतन होने से आत्मा ज्ञाता व अनुभविता है और मन आन्तर साधन है। चक्षु आदि इन्द्रियां वाह्य साधन हैं। वाह्य विषय के साथ सीधा संबंध वाह्य इन्द्रियों का होता है। आत्मा जिस विषय का प्रत्यक्ष करना चाहता है, वह आन्तर साधन मन को प्रेरित करता है। मन अभिलषित विषय को ग्रहण करने वाली इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होकर इन्द्रियों को उस अर्थ (विषय) की ओर प्रेरित करता है। अब वाह्य विषय का सम्बन्ध वाह्य इन्द्रिय से, वाह्य इंद्रिय का आन्तर साधन मन से और मन का आत्मा से है। आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थ के परस्पर संबंध से आत्मा वाह्य अर्थ को जान लेता है। आत्मा को वाह्य जगत् का ज्ञान इसी प्रक्रिया से होता है।

श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसन और घ्राण का शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध के साथ सन्निकर्ष या सम्बन्ध छह प्रकार का होता है—

१. **संयोग सन्निकर्ष**—दो द्रव्यों का परस्पर संबंध संयोग होता है। चक्षु इन्द्रिय द्रव्य है और घट भी द्रव्य है : इस प्रकार चक्षु का घट से संबंध 'संयोग सन्निकर्ष' है। यह सन्निकर्ष होने पर घट का प्रत्यक्ष दर्शन या ज्ञान हो जाता है। द्रव्य के प्रत्यक्ष में यह सन्निकर्ष अपेक्षित है।

२. **संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष**—घट, पट आदि के प्रत्यक्ष के साथ उनमें रहने वाले श्वेत-पीतादि रूप तथा लम्बाई चौड़ाई आदि आकार एवं संख्या आदि का भी प्रत्यक्ष होता है। रूपादि द्रव्य न होने से चक्षु इन्द्रिय का संयोग संवन्ध संभव नहीं। इन्द्रियों के साक्ष संयुक्त द्रव्यों में रूपादि गुण समवाय सम्बन्ध से रहते हैं : अतः रूपादि के प्रत्यक्ष में संयुक्तसमवाय 'सन्निकर्ष' माना जाता है। गुण-गुणी और क्रिया-क्रियावान् का समवाय सम्बन्ध होता है। इसलिये यदि घट पट में कोई क्रिया हो रही हो तो उसका भी प्रत्यक्ष संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष से होगा। द्रव्यगत जाति के प्रत्यक्ष में भी संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष अपेक्षित है।

३. **संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष**—इंद्रिय से संयुक्त घट पट आदि द्रव्य में समवेत रूप आदि गुणों में समवाय सम्वन्ध से रहने वाले रूपत्व आदि सामान्य अथवा जाति का प्रत्यक्ष होता है। रूपत्व जाति है, जाति और व्यक्ति का समवाय सम्बन्ध होता है। अतः रूपत्व आदि का प्रत्यक्ष कराने वाले सम्बन्ध का नाम 'संयुक्त-समवेतसमवाय सन्निकर्ष है। गुणसमवेत तथा कर्म समवेत जाति के प्रत्यक्ष में यही सन्निकर्ष अपेक्षित है।

४. **समवाय सन्निकर्ष**—शब्द का ग्रहण श्रोत्र से होता है। कर्ण-शष्कुली से परिच्छिन्न आकाश ही श्रोत्र है। शब्द आकाश का गुण है। गुण-गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से शब्द के प्रत्यक्ष में 'समवाय सन्निकर्ष' हेतु है।

५. **समवेत समवाय सन्निकर्ष**—शब्द में शब्दत्व समवाय से रहता है। अतः शब्दगत जाति का प्रत्यक्ष 'समवेत समवाय सन्निकर्ष' से होता है।

६. **विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष**—'इस स्थान में घट नहीं है—यह प्रत्यक्ष है। इसका अर्थ हैं—घटाभाव वाला स्थान। घटाभाव विशेषण है और स्थान विशेष्य। अतः इस अभाव का प्रत्यक्ष 'विशेषण—विशेष्यभाव सन्निकर्ष' से होता है। अभाव के प्रत्यक्ष में यही सन्निकर्ष अपेक्षित है।

किन्तु केवल विषय और इन्द्रिय का सम्बन्ध होने से विषय का ज्ञान नहीं होता। ज्ञान की प्रक्रिया में एक और आंतर साधन 'मन' है जिसके बिना कोई कार्य होना सम्भव नहीं। सुषुप्ति में मनका इन्द्रियों से सम्बन्ध टूट जाता है। उस समय इंद्रियों और उनके अर्थों के होते हुए भी वाह्य वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता। जागृतावस्था में भी एक साथ सब इंद्रियों का अपने-अपने विषयों

से सन्निकर्ष होते हुए भीं एक समय में सब विषयों का ज्ञान नहीं होता। जिस इंद्रिय के साथ मन का संयोग होता है उसी इंद्रिय के विषय का बोध होता है। किंतु मन स्वयं जड़ है। इसलिये उसे ज्ञान नहीं हो सकता। चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों की भांति आन्तर इन्द्रिय मन भी ज्ञान प्राप्ति में साधन माना है। ज्ञान आत्मा को होता है। वही मन को और मन के द्वारा इंद्रियों को अपने अपने काम में लगा कर उनके द्वारा ज्ञान प्राप्त करता है। इसप्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए आवश्यक है कि विषयों के साथ इन्द्रियों का, इन्द्रियों के साथ मन का और मन के साथ आत्मा का सन्निकर्ष हो।

आत्मा से संयुक्त मन के द्वारा प्राप्त इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य प्रत्यक्ष ज्ञान निर्दोष हो—इसके लिए आवश्यक है कि वह—

१. अव्यपदेश्य हो। शब्द द्वारा किसी अर्थ का बोध कराना 'व्यपदेश' कहाता है। जिस अर्थ का बोध कराना अभीष्ट है वह 'व्यपदेश्य' कहायेगा। प्रत्यक्ष ज्ञान की पहली पहचान यह है, कि वह अव्यपदेश्य हो अर्थात् शब्द द्वारा उसका बोध न कराया जासके। प्रमाता को होनेवाला प्रत्यक्ष ज्ञान शब्द निर-पेक्ष अर्थात् अव्यपदेश्य होता है। जो व्यपदेश्य है, वह प्रत्यक्ष न होकर शब्दज्ञान है जो शब्द प्रमाण का विषय है, संज्ञा-संज्ञी के सम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान व्यपदेश्य होगा। 'जल' नामक पदार्थ का प्रत्यक्ष होता है, ज-ल इन दो अक्षरों वाली संज्ञा का नहीं। यदि दो व्यक्तियों को किसी पदार्थ का उपभोग कराया जाये तो रस की अनुभूति दोनों को एक जैसी होगी—भले ही उनमें से एक उस पदार्थ के वाचक शब्द को जानने वाला हो और दूसरा उससे सर्वथा अनभिज्ञ। अनु-भूति में समानता होते हुए भी दोनों की अभिव्यक्ति भिन्न होगी। अनुभूति ही प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्तर्गत होगी, अभिव्यक्ति नहीं। इससे स्पष्ट है कि इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान में शब्द की अपेक्षा नहीं होती। वस्तुतः अनु-भूत्यात्मक अर्थज्ञान का वाचक कोई ऐसा शब्द ही नहीं हो सकता जिससे उसका तद्रूप बोध कराया जासके।

२. अव्यभिचारी हो—अन्य पदार्थ में अन्य पदार्थ का ज्ञान होजाना—जैसे झुटपुटे में टेढ़ी मेढ़ी रस्सी को देखकर सांप समझ लेना या ग्रीष्म ऋतु में दूर तक फैले रेत को जल समझ लेना—व्यभिचारी ज्ञान कहाता है जो पर्याप्त प्रकाश होने अथवा निकट जाकर देखने पर नष्ट हो जाता है। जहां जिसका अभाव है वहां उसका दीखना व्यभिचारी ज्ञान है। इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न होने पर भी वह प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता। रस्सी को रस्सी और रेत को रेत जानना ही अव्यभिचारी ज्ञान कहायेगा। वही प्रत्यक्ष माना जायेगा।

३. व्यवसायात्मक हो—'व्यवसाय' पद का अर्थ है—क्रिया का पूर्ण रूप से सम्पन्न होना। ज्ञान के क्षेत्र में इसका अर्थ है—निश्चय पर पहुंच जाना अथवा संदे-हरहित होजाना। इस प्रकार 'व्यवसायात्मक' पद का अर्थ हुआ निश्चयात्मक।

जब तक कोई 'यह मनुष्य है या ठूंठ, यह देवदत्त है या यज्ञदत्त ? अथवा यह बालू है या जल' की द्विविधा में ग्रस्त है तब तक उसका ज्ञान इन्द्रियसन्निकर्षोत्पन्न होने पर भी प्रत्यक्ष की कोटि में नहीं आयेगा। संशय रहित होकर निश्चयात्मक अर्थात् व्यवसायात्मक होने पर ही वह प्रत्यक्ष माना जायेगा ॥१३॥

न्यायदर्शन के प्रमेयों तथा वैशेषिक दर्शन के द्रव्यों में प्रमुख प्रमेय अथवा द्रव्य 'आत्मा' का प्रत्यक्ष चक्षु आदि इन्द्रियों से न हो सकने के कारण प्रत्यक्ष का यह लक्षण अव्याप्ति दोष से दूषित है। इसका समाधान अगले सूत्र में किया गया है—

आन्तरेन्द्रियेण आत्मप्रत्यक्षम् ॥१४॥

आन्तर इन्द्रिय अर्थात् मन से आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष के उक्त लक्षण में चक्षु, श्रोत्र आदि का उल्लेख न करके इन्द्रिय मात्र के सन्निकर्ष की बात कही गई है। जैसे चक्षु आदि पांच बाह्य इंद्रियां है वैसे ही एक आंतर इन्द्रिय मन है। सांख्यदर्शन (२-१७,१९) में स्पष्ट तौर पर मन का ग्यारहवीं 'आन्तर इन्द्रिय' के रूप में उल्लेख किया गया है। किन्तु जहां पांचों बाह्य इन्द्रियां भौतिक हैं वहां मन अभौतिक है। इसके अतिरिक्त जहां बाह्य इन्द्रियां अपने अपने नियत विषय की ग्राहक हैं वहां मन रूप-रस आदि सभी विषयों को ग्रहण करने में समर्थ है। बाह्य इन्द्रियों के साथ मन का यह भेद होने के कारण प्रायः इन्द्रिय वर्ग में मन को नहीं गिना जाता। किन्तु है यह आन्तर इन्द्रिय ही और जिस प्रकार बाह्य इन्द्रियों से बाह्य पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है वैसे ही आन्तर इन्द्रिय—मन से आत्मा आदि प्रमेय या द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है ॥१४॥

गुणानां प्रत्यक्षम् ॥१५॥

इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है।

इन्द्रियों द्वारा विषय के सम्पर्क से उसके सम्बन्ध में भिन्न भिन्न गुणों की अनुभूतियां उत्पन्न होती हैं। जल से प्रत्यक्ष में जल के स्पर्श से शीतलता, जिह्वा से रस, चक्षुओं से रूप व तरलता आदि की अलग-अलग अनुभूतियां प्राप्त होती हैं। अलग अलग ये अनुभूतियां केवल शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धादि की सूचना मात्र हैं। मन में इन सब सूचनाओं के एकत्र होजाने पर उनके संयोग-वियोग से बुद्धि उन अनुभूतियों को समवेतरूप देकर उन्हें किसी नाम से अभिहित कर देती हैं। इसी को विषय का प्रत्यक्ष कहते हैं। इससे स्पष्ट है, कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से गुणों का प्रत्यक्ष होता है। किन्तु गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से गुणों के साथ गुणी का भी प्रत्यक्ष मान लिया जाता है। 'आशुगतित्वान्मनसः'—मन के आशुगति होने से यह प्रक्रिया इतने वेग से होती है

कि हम गुणी का ही प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। रूप वाले महत्परिमाणयुक्त द्रव्यों का चक्षु इन्द्रिय से सीधा प्रत्यक्ष होता है ।।१५।।

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टञ्च ।।१६।।

प्रत्यक्षपूर्वक होने वाला–पूर्ववत्, शेषवत् तथा सामान्यतोदृष्ट भेद से–तीन प्रकार का अनुमान प्रमाण है।

'अनुमान' शब्द का अर्थ है–'अनु अर्थात् प्रत्यक्षस्य पश्चान्मीयते ज्ञायते येन तदनुमानम्' अर्थात् जिसका कोई एक देश अथवा सम्पूर्ण द्रव्य किसी स्थान वा काल में प्रत्यक्ष हुआ हो, उसका दूर देश से सहचारी का एकदेश (अवयव) के प्रत्यक्ष होने पर अदृष्ट सहचारी वा अवयवी का ज्ञान होने को 'अनुमान' कहते हैं। आग और धुएं को एक साथ देखने अथवा लिंगी और लिंग के संबंध का प्रत्यक्ष होने पर कालान्तर में एक का प्रत्यक्ष हो जाने पर दूसरे को अनुमान से जान लिया जाता है।

अनुमान के प्रयोग में निम्न प्रकार पांच अवयवों का उपयोग किया जाता है—

१. प्रतिज्ञा–वहां आग है।
२. हेतु–क्योंकि वहां धुआं दिखाई दे रहा है।
३. दृष्टान्त–जैसे रसोई घर में।
४. उपनय–वैसा ही यहां है अर्थात् धुआं दिखाई दे रहा है।
५. निगमन–धुआं होने से वहां आग अवश्य है।

इस प्रकार वर्तमान में धुएं का प्रत्यक्ष होने और लिंग-लिंगी सम्बन्ध की स्मृति होने से अप्रत्यक्ष अर्थ अग्नि का अनुमान द्वारा ज्ञान हो जाता है। अनुमान तीन प्रकार का माना गया है–पूर्ववत्, शेषवत्, समान्यतोदृष्ट।

पूर्ववत्–कार्योन्मुख कारण को देख कर जब कार्य का अनुमान होता है तब पूर्ववत् अनुमान होता है–जैसे बादलों को देख कर वर्षा होने का अनुमान। कारण सदा कार्य से पहले होता है–इसीलिये इसे पूर्ववत् कहा गया है। यहाँ बादल कारण (पहले) और वर्षा कार्य है।

शेषवत्–जहां कार्य को देख कर कारण का अनुमान होता है–जैसे नदी में बाढ़ को देख कर ऊपर हुई वर्षा का, पुत्र को देखकर पिता का, सृष्टि को देख कर उसके रचयिता ईश्वर का और सुख-दुःख को देख कर पाप-पुण्य के आचरण का ज्ञान–वहां शेषवत् अनुमान होता है। धुएं को देख कर अग्नि का अनुमान भी शेषवत् का उदाहरण है। पूर्व विद्यमान कारण की अपेक्षा से कार्य 'शेष' समझा जाता है अतः 'शेष' पद कार्य का बोध करता है।

३. सामान्यतोदृष्ट—विभिन्न प्रदेश में एकत्वेन दृष्ट व्यक्ति या पदार्थ जहां अदृष्ट अर्थ का अनुमान कराता है वहां 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान होता है। यात्रा के विना कोई व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं पहुंच सकता। इसलिए गतवर्ष वाराणसी में देखे गये देवदत्त को आज दिल्ली में देखकर हमें उसकी यात्रा (हमारे लिए अदृष्ट) का अनुमान हो जाता है। यह सामान्यतोदृष्ट का उदाहरण है। इसी प्रकार सूर्य को प्रातःकाल पूर्व में और सायंकाल पश्चिम में देखकर उसकी गति (लोक व्यवहार की भाषा के आधार पर) का अनुमान होता है। यहां कार्यकारण सम्बन्ध न होकर साधर्म्य के आधार पर अदृष्ट अर्थ का बोध होता है। गन्ध आदि गुणों के पृथिवी आदि अपने द्रव्यों में समवेत रहने की भांति इच्छा, द्वेष, सुख दुःखादि गुण भी किसी द्रव्य के आश्रित रहने चाहियें (क्योंकि प्रत्येक गुण किसी-न-किसी द्रव्य के आश्रित होता है)। इनका जो आश्रय द्रव्य है वही 'आत्मा' है। इस प्रकार गन्ध आदि की समानता के आधार पर इच्छा आदि गुणों से–उनके आश्रय के रूप में–आत्मा का अस्तित्व सामान्मतोदृष्ट अनुमान के आधार पर सिद्ध होता है ॥१६॥

अव उपमान का लक्षण करते हैं—

प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ॥१७॥

प्रसिद्ध (प्रत्यक्ष) साधर्म्य-सादृश्य से साध्य का साधन 'उपमान' कहाता है। 'उपमीयते येन तदुपमानम्' अर्थात् जिसके समान किसी का कथन किया जाये वह उपमान होता है और जिसके विषय में कथन किया जाये वह उपमेय। दो पदार्थों में सादृश्य होने पर उपमान से काम लिया जाता हैं। निम्नांकित संवाद से उपमान का स्वरूप और उसकी उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है—

स्वामी सेवक से–जाओ विष्णुमित्र को बुला लाओ।

सेवक–वहां तो वहुत से लोग हैं और मैं विष्णुमित्र को पहचानता नहीं।

स्वामी देवदत्त को तो तुम अच्छी तरह जानते हो। बस विल्कुल वैसा ही विष्णुमित्र है।

सेवक गया और एक पुरुष को देवदत्त जैसा जानकर बुला लाया। वही विष्णुमित्र निकला। नीलगाय का गाय से सादृश्य वता दिये जाने पर इन चार अवयवों के प्रयोग से नीलगाय की पहचान होती है—

(१) गवय नीलगाय का गाय से सादृश्य का ज्ञान।
(२) जंगल में नीलगाय का प्रत्यक्ष।
(३) पूर्वश्रुत गाय और नीलगाय की समानता की स्मृति।
(४) पशु विशेष में गाय का सादृश्य देखकर उसके नीलगाय होने का निश्चय।

उपमान की विशेषता मनोवैज्ञानिक साम्य हैं जिसे प्रसिद्ध अथवा प्रत्यक्ष

साधर्म्य की संज्ञा दी गई है—ऐसा साधर्म्य जो उपमेय को देखते ही उसका निश्चय करा देता है ॥१७॥

अगले सूत्र में क्रमागत शब्द प्रमाण का लक्षण वताया गया है—

आप्तोपदेशः शब्दः ॥१८॥

आप्त पुरुष का कथन शब्द प्रमाण कहाता है।

किसी पदार्थ के साक्षात्कृतधर्मा पुरुष को आप्त कहते हैं। पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों में से किसी का यथार्थ ज्ञान प्राप्त—'ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्'—पुरुष आप्त जनों की कोटि में आता है। वह जैसा अपने आत्मा में जानता है और जिससे वह स्वयं सुख पा चुका है उसी के कथन की इच्छा से प्रेरित हो सब मनुष्यों के कल्याणार्थ उपदेश करता है। ऐसे पुरुष का वचन ही शब्द प्रमाण माना जाता है। जगत् में अनेक प्रकार के व्यवहार शब्द प्रमाण के आधार पर चलते हैं। यदि हम अपने पूर्वजों के कथन पर विश्वास न करते और हर पीढ़ी सब कुछ नये सिरे से करते तो मनुष्य जाति जहां की तहां रहती। आज भी हम अपने अपने सीमित क्षेत्र में विशेष ज्ञान रखने वाले अर्थात् साक्षात्कृतधर्मा लोगों की सहायता से अपना काम चलाते हैं। किंतु पूर्ण आप्त केवल परमेश्वर है। इससे उसका उपदेश स्वतः प्रमाण है तथा पूर्ण, नित्य एवं निर्भ्रान्त है ॥१८॥

शब्द-प्रमाण के भी भेद हैं—यह अगले सूत्र में निर्दिष्ट है—

स द्विविधो दृष्टाऽदृष्टार्थत्वात् ॥१९॥

दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ होने से शब्द दो प्रकार का है।

शब्द-प्रमाण से जाने गये जिस अर्थ को इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सके वह दृष्टार्थ है। किसी ने कहा कि मेरे घर में आम का पेड़ लगा है। वहां जाकर देखा तो आम का पेड़ खड़ा पाया। वक्ता का ऐसा कथन दृष्टार्थ शब्द-प्रमाण का उदाहरण है, क्योंकि उसके कथन की पुष्टि प्रत्यक्ष प्रमाण से हो गई। शब्द-प्रमाण से जाने गये जिस अर्थ में और कोई प्रमाण प्रवृत्त न हो सके वह 'अदृष्टार्थ' शब्द प्रमाण कहाता है। जैसे वैदिक वाङ्मय का प्रसिद्ध विधि-वाक्य है—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' अर्थात् स्वर्ग प्राप्ति की इच्छा वाला यज्ञ करे। इस वाक्य से वोधित अर्थ को इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता। यह वैदिक वाक्य अदृष्टार्थ है। लौकिक वाक्य और वैदिक वाक्य के आधार पर किये शब्द-प्रमाण के विभाग में लौकिक वाक्य 'दृष्टार्थ' तथा वैदिक वाक्य 'अदृष्टार्थ' समझने चाहियें। दोनों को ही प्रमाण मानना चाहिये ॥१९॥

इससे आगे 'ऐतिह्य' प्रमाण का निर्देश किया गया है—

अनिर्दिष्टप्रवक्तृतं प्रवादपारम्पर्यमैतिह्यम् ॥२०॥

जिन बातों को परम्परा से कहते सुनते चले आते हैं या यत्र तत्र ग्रन्थों में जिनका उल्लेख मिलता है ऐसे प्रवादों अथवा कथानकों की परम्परा का नाम 'ऐतिह्य' है। ऐतिह्य में प्रथम प्रवक्ता का निर्देश नहीं रहता। इसी लिए यह शब्द प्रमाण के अन्तर्गत नहीं आता ॥२०॥

अब 'अर्थापत्ति' प्रमाण का कथन करते हैं—

अर्थादापद्यते सा ग्रर्थापत्तिः ॥२१॥

किसी के एक बात कहने से जब दूसरी बात स्वतः सिद्ध हो जाये, तो वह 'अर्थापत्ति' कहाती है। जैसे—किसी के यह कहने पर कि 'बादल न होने पर वर्षा नहीं होती' यह अपने आप सिद्ध हो गया कि 'बादल होने पर ही वर्षा होती है।' इसी प्रकार यह कहने पर कि 'सत्यवादी का विश्वास किया जाता है' अथवा 'कारण के होने पर कार्य होता है' यह बिना कहे सिद्ध हो जाता है कि 'झूठे का विश्वास नहीं किया जाता' अथवा 'कारण के बिना कार्य नहीं होता।' इस प्रकार का ज्ञान 'अर्थापत्ति' प्रमाण से प्राप्त होता है ॥२१॥

अगले सूत्र में 'सम्भव' प्रमाण का लक्षण किया गया है—

सृष्टिक्रमानुकूलत्वात् सम्भवः ॥२२॥

जो सृष्टिक्रम के अनुकूल हो वही 'सम्भव' है। माता पिता के बिना सन्तानोत्पत्ति, मृतकों का जी उठना, वन्ध्या के पुत्र का विवाह होना, चन्द्रमा के टुकड़े होना आदि सब बातें असम्भव हैं ॥२२॥

आठ प्रमाणों के अन्तर्गत अब अन्तिम प्रमाण का उल्लेख करते हैं—

विरोधिज्ञानहेतुरभावः ॥२३॥

विरोधी अर्थ का ज्ञान कराने वाला 'अभाव' कहाता है।

पुरोवात के कारण बादलों के भारी होने पर भी वर्षा का अभाव उसके विरोधी प्रतिबन्धक 'विधारक-वात' का ज्ञान करा देता है। जहां जो पदार्थ न हो वहाँ उसका 'अभाव' है। किसी ने किसी से कहा कि 'तू हाथी ले आ'। उसने वहां हाथी का अभाव देखा और जहां हाथी था वहां से लाकर खड़ा कर दिया। इस प्रकार 'अभाव' अपने विरोधी के ज्ञान का हेतु होने से प्रमाणों में गिना जाता है ॥२३॥

द्वितीय अध्याय
ईश्वर

नेश्वरसिद्धिः सिद्धा ॥१॥

ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता ।

भौतिकवादियों का कहना है कि इन्द्रियातीत होने के कारण मानसिक प्रत्यक्ष के अभाव में ईश्वर की सिद्धि नहीं होती, जब ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं तो उसकी सिद्धि में अनुमान प्रमाण भी सार्थक न होगा, क्योंकि 'प्रत्यक्षपूर्वकमनुमानम्' अर्थात् अनुमान उसी का होता है जिसका पहले कभी प्रत्यक्ष हो चुका हो । जिसका न कभी प्रत्यक्ष हुआ और न अनुमान उसकी सिद्धि में शब्द प्रमाण से भी काम न चलेगा क्योंकि ईश्वरोक्त होने से ही वेद का प्रामाण्य है । जब स्वयं ईश्वर ही असिद्ध होगया तो उसके वाक्य वेद का प्रामाण्य कैसे होगा ? ईश्वर के विना वेद और वेद के विना ईश्वर की सिद्धि न होने से अन्योन्याश्रय दोष होगा ॥१॥

अगले सूत्र में इसका समाधान किया गया है—

ईश्वरस्य प्रत्यक्षत्वम् ॥२॥

ईश्वर का प्रत्यक्ष होता है ।

शुद्धान्तःकरण, विद्या और योगाभ्यास से पवित्रात्मा परमेश्वर को प्रत्यक्ष देखता है । यहां शंका होती है कि जव परमेश्वर 'न चक्षुषा गृह्यते' (मुण्डक ३-१-८) इत्यादि उपनिषद् वचनों के अनुसार इन्द्रियों का विषय ही नहीं तो उसका प्रत्यक्ष कैसे सम्भव है ॥२॥

इसका उत्तर अगले सूत्र में दिया गया है—

रचनादेः प्रत्यक्षतया, गन्धादिगुणानां ज्ञानेन गुणवत्याः पृथिव्याः प्रत्यक्षमिव ॥३॥

जिस प्रकार घ्राण आदि के द्वारा गन्धादि गुणों का ज्ञान होने से गुणी पृथिवी का प्रत्यक्ष होता है वैसे ही सृष्टि में रचना विशेष आदि गुणों के प्रत्यक्ष होने से परमेश्वर का भी प्रत्यक्ष है ।

इन्द्रियों और मन से गुणों का प्रत्यक्ष होता है । फिर गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से गुणों के माध्यम से गुणी का प्रत्यक्ष हो जाता है । इस प्रकार परमात्मा के लिङ्गों को देखकर लिङ्गी परमात्मा का ज्ञान हो जाता है । जव जीवात्मा शुद्ध होकर परमात्मा का विचार करने में तत्पर होता है तो उसे दोनों—जीवात्मा व परमात्मा-प्रत्यक्ष होते हैं ॥३॥

पापाचरणे च भयादेः ।।४।।

पापाचरणेच्छा काल में भयादि होने से भी ।

जब बुरा काम करने में भय, शंका और लज्जा तथा इसके विपरीत अच्छा काम करने में अभय, निःशंकता और आनन्दोत्साह के भाव उत्पन्न होते हैं तो ये परमात्मा की ओर से होते हैं । इसमें भी परमात्मा का साधारण प्रत्यक्ष होता है ।।४।।

जब परमात्मा का प्रत्यक्ष होता है तो अनुमान आदि से उसकी सिद्धि होने में क्या सन्देह है । अगले सूत्रों से भी परमेश्वर की सिद्धि की गई है—

उत्पत्त्यादेः ।।५।।

सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण होने से ।

यह संसार उत्पन्न होने वाला है । प्रत्येक पदार्थ जो उत्पन्न होता है उसका उत्पादक अवश्य होता है । उत्पादक सदा चेतन तत्त्व हो सकता है । जैसे कुम्भकार के विना घटादि का निर्माण नहीं हो सकता अथवा आटा, घी, चीनी, आदि को एक साथ रख देने पर भी हलवाई के विना हलवा नहीं बन सकता, वैसे ही उत्पन्न होने वाले विश्व-ब्रह्माण्ड की रचना किसी चेतन सत्ता के विना नहीं हो सकती । अचेतन उपादान प्रकृति स्वयं जगत् के रूप में परिणत नहीं हो सकती । मानवी सृष्टि में कर्त्ता निर्माण के वाद अपनी कृति के साथ नहीं रहता । किन्तु ईश्वरीय सृष्टि में स्रष्टा परमेश्वर ब्रह्माण्ड में ओत-प्रोत रहकर उसकी स्थिति और संचालन का अधिष्ठाता वना रहता है । उत्पन्न होने वाली वस्तु समय पाकर विगड़ जाती है । इसलिए सृष्टि की प्रलय करके उसे पुनः कारण रूप में लेजाने वाला भी ईश्वर है । अतः सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का कारण होने से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध है ।

वेदादि शास्त्रों में अनेक स्थलों पर सृष्टि को उत्पन्न करने वाले चेतनतत्त्व ब्रह्म का प्रतिपादन कियागया है—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवञ्च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ।। ऋ. १०-१९०-३

परमात्मा ने पूर्व सर्ग के समान ही सूर्य और चन्द्र लोक को वनाया । द्युलोक, पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं अन्य सुखमय लोकों का निर्माण भी उसी ने किया ।

'इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्गवेद यदि वा न वेद ।।१०-१२९-६

यह विविध सृष्टि जहां से उत्पन्न होती है, जिसके द्वारा धारण की जाती है और अन्त में जव यह नहीं रहती, अर्थात् अपने कारण रूप में लीन होजाती है इस सबका जो अध्यक्ष-नियन्ता सर्वव्यापक परमेश्वर है वही इसकी वास्तविकता को जानता है । इस ऋचा के अन्तर्गत 'यत आबभूव, यदि वा दधे, यदि वा

न' कह कर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तीनों अवस्थाओं का एक साथ उल्लेख कर दियागया है। सम्भवतः वेद के इन पदों के अभिप्राय को ही महर्षि वेदव्यास ने 'जन्माद्यस्य यतः' के रूप में सूत्रवद्ध कर दिया है। 'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्' (यजु. १४-४) अर्थात् वह पृथिवी और द्युस्थानीय समस्त लोक-लोकान्तरों को धारण करता है तथा 'तस्मिन्निदं सञ्च विचैति सर्वम्' (यजुः-३२-८) अर्थात् यह जगत् उसी में एकत्र होता और उसी में विखर जाता है— इत्यादि वाक्यों में भी ब्रह्म के कर्त्ता, धर्ता एवं हर्ता रूप का उल्लेख मिलता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् का निम्न सन्दर्भ भी इस विषय में द्रष्टव्य है—

'यतो वा इमानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।

यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म। तै. ३-१

ये प्राणि-अप्राणिरूप भौतिक जगत् जिससे उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर जिसके आश्रय से जीवित रहते हैं और जिसके द्वारा अन्त में लीन होते हैं उसको जानने की इच्छा करो—वह ब्रह्म है। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' का प्रेरणा स्रोत यही है॥५॥

रचनावैचित्र्यात् ॥६॥

जगत् की रचना इस वात को सिद्ध करती है कि इस रचना का कर्त्ता कोई पूर्ण पुरुष है जिसने रचना को ऐसा गूढ़ और विचित्र वनाया है कि उसे देखकर कोई भी उसकी सत्ता को स्वीकार किये विना नहीं रह सकता। शरीर को ही देखें तो उसकी रचना अत्यन्त दुरुह जान पड़ती है—इतनी दुरुह कि आज का भौतिक विज्ञान, आयुर्विज्ञान एवं जन्तु विज्ञान के इतना अधिक उन्नत हो जाने पर भी शरीर रचना के पूर्ण ज्ञान का दावा नहीं किया जा सकता; रचना करने की तो वात ही क्या। शरीर में रक्त आदि धातु, प्राण तथा ज्ञानवाहक नाड़ियों का जाल विछा हुआ है। यह नाड़ी जाल इतना सूक्ष्म एवं परस्पर गुंथा हुआ है कि उसकी पूरी जानकारी मानव शक्ति से बाहर है। त्वग् इन्द्रिय का समस्त शरीर में व्याप्त रहना तथा प्रत्येक रोम एवं छोटे से छोटे अंश पर संवेदनशीलता व उसकी संचार शक्ति का विद्यमान होना, न्यूनाधिक मांसपेशियों का यथास्थान संघटन एवं विभिन्न अंगों में छोटे वड़े जोड़ों का सामंजस्य, सिर, भुजाओं, उदर आदि की चमत्कारी रचना, विभिन्न प्रकोष्ठों में वात, पित्त, कफ़ के प्रतिष्ठान व संचार आदि की व्यवस्था, मुख, कण्ठ आदि में ध्वनि के उपयोगी अवयवों का सन्निवेश, आमाशय, पक्वाशय एवं विविध प्रकार के ऊर्ध्व-अधः स्रोतों का नितांत व्यवस्थित प्रसार आदि के रूप में शरीर की रचना इतनी सुविचारपूर्ण, नियमित एवं दृढ़ है कि किसी चेतन सत्ता की योजना के विना जड़मय भूततत्त्वों द्वारा स्वयमेव सम्पन्न होना सर्वथा असम्भव है।

'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'। शरीर की भांति ही एक-एक फूल पत्ती में—यहां तक कि एक-एक परमाणु की संरचना में हमें विचित्र रचना कौशल के दर्शन होते हैं। प्रसिद्ध लेखक फिलण्ट का कथन है कि "यदि यह माना जाये कि प्रकृति के परमाणुओं ने स्वयमेव मिलकर इस विचित्र एवं दुरुह सृष्टि की रचना करली तो यह भी मानना होगा कि शेक्सपीयर के नाटकों की रचना अंग्रेज़ी भाषा की वर्णमाला के अक्षरों ने उछल उछल कर स्वयं कर डाली। इस नाम से प्रसिद्ध किसी नाटककार—चेतन प्राणी—का इसमें कोई हाथ नहीं।"

ऋग्वेद (१०-७२-२) के शब्दों में यही मानना पड़ता है कि—

'ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत।'

दिव्य लोक लोकान्तरों की रचना के अवसर पर सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म ने इन समस्त लोकों का इसी प्रकार निर्माण किया जैसे कोई शिल्पी उपयुक्त साधनों से कार्य की रचना किया करता है। इस प्रकार यह जगत् अव्यक्त से व्यक्त अवस्था में आजाता है ॥६॥

प्रयोजनवत्त्वात् ॥७॥

सप्रयोजन होने से।

सृष्टि में प्रत्येक वस्तु और घटना का कोई प्रयोजन होता है। सूर्य समुद्र से जल खींचता है, किन्तु उसके क्षारीय अंश को वहीं छोड़ देता और केवल शुद्ध जल को ग्रहण करता है। आकाश से जल न बरसे तो धरती पर प्राणी न रह सकें। सूर्य के द्वारा जल खिचते खिचते समुद्र न सूख जाये और इधर धरती जल में न डूब जाये, इसलिए संसार के काम आने के बाद वही जल नदी नालों के रूप में वह कर फिर समुद्र में जा पड़ता है। प्राणी आक्सीजन से जीता है और वृक्ष कार्वन से। वृक्षों द्वारा प्रदत्त आक्सीजन से प्राणी जीते रहते हैं और प्राणियों द्वारा उत्पन्न कार्वन को वृक्षादि ग्रहण करते रहते हैं। इस प्रकार 'देहि मे ददामि ते' के अनुसार वृक्षादि तथा जीव दोनों का जीवन वना रहता है। पृथ्वी पर बड़े परिमाण में उगा घास पात एक ओर क्षाकाहारी प्राणियों का पेट भरता है तो दूसरी ओर रोगों को दूर करने के लिए औषधरुप में परिणत हो काम देता है। वर्षा से वनस्पति जगत् को जीवन मिलता है तो वृक्षादि वर्षा होने में सहायक होते हैं। प्राणियों के शरीरांगों की रचना भी सप्रयोजन है। जैसे मशीन में हरेक पुर्जा नियत प्रयोजन के लिये यथास्थान लगा होता है वैसे ही प्राणियों के शरीर में एक एक अंग प्रयोजन विशेष के लिये यथास्थान लगा है। न हाथों की जगह पैर और पैरों की जगह हाथ लगाये जा सकते हैं और न पीठ पर आंखों को फ़िट किया जा सकता है। शरीर के एक एक अंग की रचना ही नहीं उनका प्रयोजन भी चमत्कारपूर्ण है। एक हृदय को ही लें। यह

अकेला शरीर से अशुद्ध रक्त को लेता (हृ), शुद्ध करने के लिए फेफड़ों को देता (द) और उनसे शुद्ध रक्त लेकर शरीर में गति करने के लिये भेजता (य) है। इसी लिये निरुक्त में यास्काचार्य ने कहा—'हृदयं कस्मात्—हरति, ददाति, याति'।

प्रयोजन का तात्पर्य है—अर्थ, अर्थात् प्रत्येक पदार्थ किसी अर्थ—उपयोग के लिये बना है। मनुष्य के नेत्रों का अर्थ है—देखना। यदि वाहर पदार्थ न होते तो आंखों का होना व्यर्थ था। इसी प्रकार यदि बाहर शब्द-स्पर्श-रस-गंध न होते तो इनकी ग्राहक इन्द्रियों श्रोत्र, त्वचा, रसना और नासिका का होना व्यर्थ था। इन्द्रियों के अभाव में इन्द्रियार्थ का होना निष्फल था।

सूर्य हमसे करोड़ों मील दूर है, किन्तु इतनी दूर होने पर भी हमारे जीवन से जुड़ा है। इसीलिये उसे 'आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' चराचर जगत् का आत्मा कहा गया है। सूर्य में होने वाले तनिक से परिवर्त्तन का प्राणी तथा वनस्पति जगत् पर गहरा प्रभाव पड़ता है। ऐसी ही स्थिति चन्द्रमा की है। चन्द्रमा का मन से, वायु का प्राण से और सूर्य का चक्षु से सीधा सम्बन्ध है!

इस समय पृथ्वी का जितना आकार है और सूर्य से जितनी दूरी है तथा अयन में घूमने की जो उसकी गति है उसी के कारण पृथ्वी पर जीवधारियों का रहना संभव है। इसी स्थिति में ये प्राणियों का प्रयोजन सिद्ध करते हैं। इनमें न्यूनाधिक्य करते ही सब अस्त व्यस्त हो जायेगा। इस व्यवस्था को देखने से स्पष्ट है कि यह सृष्टि स्वतः उद्भूत न होकर किसी चेतन सत्ता द्वारा रचित है ॥७॥

नियमोपपत्तेः ॥८॥

नियमों की सिद्धि से।

सृष्टि का संचालन किन्हीं नियमों के आधार पर हो रहा है। नियमवद्धता ही प्रकृति में परमात्मा का प्रकटीकरण है। प्रकृति की सूक्ष्म शक्तियों और नियमवद्धता से अनुशासित विश्व ही परमात्मा के अस्तित्व का साक्षी है। विश्व के वृहद् आकार, ग्रहों नक्षत्रों की अगणित संख्या और उन सव पर शासन करने वाले नियमों के वैविध्य को देख कर बुद्धिपूर्वक नियोजन करने वाले कुशल रचयिता पर विश्वास करना ही पड़ता है। यह सारी व्यवस्था इतनी सूक्ष्म और यथार्थ है कि उसकी संगति को प्रकट करने के लिये नियम खोजने पड़ते हैं। इन नियमों की खोज करना ही विज्ञान का लक्ष्य है। मनुष्य की सारी बुद्धि इसी काम में लगी है।

नियम क्या हैं ?—ज्ञात तथ्यों का साधारणीकरण। जो नियम आज सत्य हैं वे कल भी सत्य रहेंगे और परसों भी—जब तक यह विश्व रहेगा तब तक सत्य रहेंगे। यदि ऐसा न हो —इस प्रकार का विश्वास न हो तो गवेषणा

करना व्यर्थ हो जाये और समस्त वैज्ञानिक प्रगति ठप्प हो जाये । किसी सर्वोच्च चेतना और मस्तिष्क के बिना नियमों पर आधारित व्यवस्था नहीं बन सकती । विश्व के चमत्कारों ने निष्पक्ष ज्यतिर्विदों को किसी ऐसी अज्ञात, और कदाचित् अज्ञेय, शक्ति पर विश्वास करने को विवश करदिया है जो विश्व की विशालता और नियमवद्धता के लिये ज़िम्मेदार है ।

तत्त्वों की नियतकालिक सूची भी अनुपम व्यवस्था के ढंग से सब मूल तत्त्वों का संग्रह है जिसमें नियतकाल के पश्चात् सदृशगुण या विशेषतायें घटित होती रहती हैं । जैसे मकान की एक ईंट दूसरी से जुड़ी रहती है वैसे ही सूर्य चंद्रमा से, चन्द्रमा पृथ्वी से, पृथ्वी वनस्पति से और वनस्पति जीवजन्तुओं से जुड़ी है । 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे'—बड़ी से बड़ी वस्तु से लेकर छोटी से छोटी वस्तु तक में एक ही से नियम काम कर रहे हैं । सूक्ष्मतम परमाणु भी सौरमण्डल का ही छोटा रुप है ।

सृष्टि का संचालन कर रहे असंख्य नियमों में से ज्यों ही हमें किसी नियम का पता चलता है त्यों ही वह नियम चिल्ला कर कहता है—'मेरा निर्माता ईश्वर है । तुमने तो बस मुझे खोज निकाला है ।' परमात्मा की सत्ता से शून्य विश्व के ढांचे में व्यवस्था की कल्पना करना ऐसा विरोधाभास है कि जिसका कोई अर्थ नहीं वनता । व्यवस्थापक की सत्ता को नकारना ऐसा ही है जैसा वगीचे की शोभा और सौन्दर्य को सराहना, परन्तु माली के अस्तित्व को स्वीकार न करना ॥८॥

क्रमोपलब्धेः ॥९॥

क्रम या संगति पाये जाने से ।

किसी सेना में सौ दो सौ की टुकड़ी भी ऐसी नहीं मिलेगी जो निदेशक के विना एक साथ पांव उठाती धरती हो या क्रमवद्ध अंगसंचालन करती हो । परंतु सृष्टि में असंख्य ग्रह उपग्रह हैं जो अपनी अपनी धुरी और परिधि में गति कर रहे हैं । परन्तु लाखों करोड़ों वर्ष वीत जाने पर भी एक दूसरे के मार्ग में आकर नहीं टकराये । सब अपने अपने रास्ते चले जा रहे हैं । इसीलिये सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण की भविष्यवाणी सदियों पहले की जा सकती है । ज्वार भाटे के निश्चित समय की पहले से ही जानकारी रहने के कारण यथासमय जहाज़ चलाये जाते हैं । चक्रवर्ती राजा के कार्यालय में नियमपूर्वक जानेवाले कर्मचारी भी कभी कभी देर से पहुंच पाते हैं । परन्तु सूर्य और चन्द्रमा के उदयास्त के क्रम में कभी एक पल भी इधर उधर नहीं हो पाता । दिन के बाद रात और रात के वाद दिन का क्रम निरन्तर चलता रहता है । इसी प्रकार नियत क्रम के अनुसार ऋतुओं का चक्र घूमता रहता है । पहले फूल खिलता है, फिर फल आता है । ऐसा कभी नहीं हो सकता कि पहले फल आजाये और फिर फूल

खिले। गुलाब के बीज से गुलाब और गेंदे के बीज से गेंदा ही पैदा होता है। इस प्रकार की क्रमबद्धता और कार्यकारण शृंखला का बने रहना प्रभुसत्ता संपन्न विश्वात्मा के बिना संभव नहीं ॥९॥

स्वस्वामित्वभावात् ॥१०॥

स्व-स्वामी सम्बन्ध होने से।

जहां स्वत्व होता है वहां कोई न कोई उसका स्वामी अवश्य होता है। छोटे से छोटे पदार्थ से लेकर बड़े से बड़े पदार्थ में यह नियम पाया जाता है। तब इस विराट् सृष्टि का स्वामी भी कोई न कोई अवश्य होना चाहिये। प्रकृति जड़ होने से स्वामित्व की योग्यता नहीं रखती। जीव अल्पज्ञ, अल्पशक्ति एवं परिच्छिन्न होने से कोटानुकोट भूमण्डलों का स्वामी होने में असमर्थ है। परमात्मा के लिये 'पति' और उसके पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग वेद, उपनिषद् आदि में अनेकत्र पाये जाने से वही इसका एक मात्र स्वामी स्वतः सिद्ध है। उदाहरणार्थ—'यो विश्वस्यजगतः प्राणतस्पतिः' (ऋक्० १-१०१-५) अर्थात् जो समस्त चराचर का स्वामी है। 'यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव' (यजु० २३-३) अर्थात् जो अपने महत्त्व के कारण चराचर जगत् का एकमात्र राजा है।

'भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' (यजु० १३-४) अर्थात् जो उत्पन्न जगत् का स्वामी है।

'स सर्वेषां भूतानामधिपतिः' (बृहद्० २-२-१५) अर्थात् वह सब भूतों का अधिपति है ॥१०॥

परिच्छेदगुणादिविपर्ययात् ॥११॥

परिच्छेद तथा गुणों आदि का विपर्यय होने से।

वस्तुकृत, कालकृत तथा देशकृत तीन परिच्छेद कहाते हैं। एक वस्तु का दूसरी वस्तु के स्वरूप में न होना 'वस्तुकृत' परिच्छेद है। एक वस्तु पहले थी, अब नहीं है अथवा आगे नहीं होगी—यह 'कालकृत' परिच्छेद है। एक वस्तु पूर्व में है, पश्चिम में नहीं—यह 'देशकृत' परिच्छेद है। सत्त्व-रजस् और तमस् तीन गुण हैं। ये तीनों उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के प्रतिनिधि हैं। जितने भी प्राकृत पदार्थ हैं सभी वस्तुकृत, कालकृत और देशकृत परिच्छेद वाले हैं। इसी प्रकार त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण सभी पदार्थों में उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का गुण पाया जाता है। संसार में जो भी वस्तु है उसका उल्टा अर्थात् विपर्यय अवश्य होता है। अतः यदि परिच्छेदों वाले पदार्थ हैं तो इन परिच्छेदों से रहित भी कोई पदार्थ होना चाहिये। इसी प्रकार प्रकृति में उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय है तो कोई सत्ता ऐसी भी होनी चाहिये जो त्रिगुणा-

तीत होने से इन अवस्थाओं से परे हो। वही ईश्वर है ॥११॥

आश्रयाऽश्रयिभावात् ॥१२॥

आश्रय-आश्रयी भाव से।

छोटी वस्तु वड़ी वस्तु के सहारे रहती है। सहस्रों मनुष्य एक जलयान का आश्रय ले यात्रा करते हैं मनुष्य छोटे हैं, जलयान वड़ा। इसलिये वे जलयान का सहारा लेते हैं। इसी प्रकार जलयान अपने से वड़े समुद्र के सहारे और समुद्र पृथ्वी के सहारे रहता है। आश्रय-आश्रयी भाव का यह क्रम जहां जाकर समाप्त होता है वह सवसे वड़ा 'व्रह्म' है ॥१२॥

सापेक्षत्वात् ॥१३॥

सापेक्षता के कारण।

संसार में प्रत्येक पदार्थ किसी से छोटा और किसी से बड़ा होता है। अणु परिमाण से मध्यम परिमाण वड़ा है, और मध्यम परिमाण से महत् परिमाण वड़ा है। इस प्रकार पृथिव्यादि तत्त्वों के समुच्चय से वने व्रह्माण्ड से और अल्पज्ञ एवं परिच्छिन्न जीवात्मा से भी कोई वड़ा होना चाहिये। प्राकृतिक पदार्थ तो सभी सीमा वाले हैं। इसलिये वही शक्ति जो विद्युत् आदि के समान प्राकृतिक नहीं और निराकार होने से जिसकी कोई सीमा नहीं, सवसे महान् है—वही व्रह्म है। अनन्त के विना सान्त की सिद्धि नहीं हो सकती ॥१३॥

आकर्षणहेतुत्वात् ॥१४॥

आकर्षण का हेतु होने से।

प्रत्येक पदार्थ अपने से महान् सजातीय की ओर खिचा जा रहा है। जैसे—नदियाँ समुद्र की ओर खिची चली जाती हैं। फिर यह जीवात्मा किस की ओर खिच रहा है? जिस प्रकार प्राकृतिक वस्तुओं के आकर्षण के हेतु अन्यान्य प्राकृतिक वस्तुएं हैं उसी प्रकार जीवात्मा के आकर्षण का केन्द्र भी अपनें से वड़ा उसी का सजातीय होना चाहिए। सच्चित्स्वरूप जीवात्मा से वड़ी ऐसी शक्ति सच्चिदानन्दस्वरूप व्रह्म ही है ॥१४॥

श्रुतियोनित्वात् ॥१५॥

ऋग्वेदादि के रूप में ज्ञान का कारण—आदिमूल होने से भी ईश्वर सिद्ध होता है।

नैमित्तिक ज्ञान के बिना मनुष्य का काम नहीं चल सकता—यह अनेकशः सिद्ध हो चुका है। गुरु परम्परा को यदि हम पीछे की ओर लेजायें तो उसमें अनवस्था दोष आता है। इसका पर्यवसान सृष्टि के आदि में पहुंच कर व्रह्म में होता

है जिससे पहले और कोई न था। इसलिये 'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' वही कालावच्छिन्न ब्रह्म मनुष्य के नैमित्तिक ज्ञान का कारण–आदि स्रोत है। उसी से सृष्टि के प्रारम्भ में ऋग्वेदादि के रूप में समस्त सत्य विद्याओं का प्रादुर्भाव हुआ। उन्हीं से लौकिक अलौकिक ज्ञानों का उपवृंहण हुआ। सूर्य के समान समस्त अर्थों के प्रकाशक वेदों का प्रादुर्भाव सर्वज्ञ ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा होना सम्भव नहीं। किसी विशेषज्ञ आचार्य के द्वारा जब किसी विषय का प्रतिपादन किया जाता है तो रचना के यथासंभव सर्वांगपूर्ण होने पर भी रचयिता का ज्ञान उसकी अपेक्षा अधिक ही रहता है। तव यह ऋग्वेदादि शास्त्र-जिनका ऋषियों ने व्याख्यान रूप से अनेक शाखाओं में विस्तार किया और आज भी कर रहे हैं, जिनमें जड़ जगत् तथा प्राणि जगत् एवं मानव समाज के वर्णाश्रम धर्म आदि का विस्तार से वर्णन है, ओर जो पृथिवी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त समस्त तत्त्वज्ञान की खान हैं–पुरुष के श्वासोच्छ्वास के समान अनायास उस महान् सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म से प्रादुर्भूत हुआ, यह नितान्त सत्य है।

वृहदारण्यकोपनिषद् (२-४-१०) में इस भाव को 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः' कह कर व्यक्त किया है। स्वयं यजुर्वेद (३२-७) का मन्त्र इसी अर्थ का प्रतिपादन करता है—

'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥'

विश्व के आधार यज्ञरुप ब्रह्म से ऋक्, साम, छन्द (अथर्व.) और यजुर्वेद का प्रादुर्भाव हुआ। रुपात्मक जगत् के समान शब्दात्मक ऋग्वेदादि शास्त्र का भी कारण ब्रह्म होने से उसका अस्तित्व सिद्ध है ॥१५॥

समन्वयाच्च ॥१६॥

जगत् और वेद के समन्वय से भी।

ऋग्वेदादि शास्त्र और जगत् के समन्वय–पारस्परिक सामंजस्य से भी यह वात प्रमाणित होती है कि दोनों का रचयिता एक है। जो ईश्वरीय ज्ञान शब्द अर्थात् सिद्धान्त रूप में वेद है वह प्रयोगात्मक स्थिति में जगत् है। वेदों में सृष्टिविषयक जो संकेत मिलते हैं सृष्टिक्रम के साथ उनका सन्तुलन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि न शास्त्र में कोई ऐसा वर्णन है जो सृष्टिक्रम के विरुद्ध हो और न सृष्टि में कोई ऐसी वात दीखती है जो शास्त्र के विपरीत हो। शास्त्र से सृष्टिरचना का बोध होता है और सृष्टिरचना की जानकारी से शास्त्र की परीक्षा की जा सकती है। मनुस्मृति में लिखा है कि 'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे' अर्थात् वेदों के शब्दों के अनुसार ही पदार्थों का नामकरण किया गया। आगे चलकर महाभारतकार ने भी–'वेदशब्देभ्यः एवादौ निर्मिमीते स ईश्वरः' अर्थात् ईश्वर ने वस्तुओं के नाम वेद के शब्दों से निर्माण किये—

कहकर इस मान्यता को पुष्ट किया। पद (नाम) वेदों में हैं, पदार्थ (रुप) जगत् में। इस प्रकार विश्व की उभयविध नामरुपात्मक रचना का एकमात्र कर्त्ता ब्रह्म है ॥१६॥

पुरुषकर्माफल्यदर्शनापत्तेः ॥१७॥

पुरुष के कर्मों की असफलता देखे जाने से।

कर्मफल अवश्यम्भावी है। किन्तु जड़ होने से कर्म स्वयं फल नहीं दे सकते और तात्कालिक होने से वे कालान्तर में फल उत्पन्न नहीं कर सकते। अल्पज्ञ होने से जीवात्मा अपने समस्त कर्मों को यथावत् जान नहीं सकता और अल्पशक्ति होने से वह उन सब साधन व सामग्री को अपने सीमित सामर्थ्य से जुटा नही सकता जो फलभोग की व्यवस्था के लिये अपेक्षित हैं। कोई भी जीव अपने अशुभ कर्मों का फल भोगना नहीं चाहता। कोई भी मनुष्य अपराध करके स्वयं वन्दीगृह में नहीं जाता किन्तु राज्य व्यवस्था से पकड़ा जाकर ही यथोचित दंड पाता है। यदि केवल कर्म ही शरीरधारण में निमित्त हों तो कोई जीव निकृष्ट योनियों में अथवा मनुष्य योनि में भी किसी दरिद्र के घर में कभी जन्म नहीं लेगा। अतः कर्मफल की यथार्थ व्यवस्था तब तक नहीं हो सकती जब तक जीवेतर कोई शक्ति इस कार्य को न करे। सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही जीवात्माओं के कर्मफलों की व्यवस्था करने में समर्थ है। किस कर्म का फल कब, कहां, किस रीति पर, किन साधनों द्वारा, किन परिस्थितियों में भोगा जा सकता है–इस स्थिति को ब्रह्म के अतिरिक्त कोई नहीं जान सकता। इसीलिए श्वेताश्वतर उपनिषद् (६-११) में उसे 'कर्माध्यक्ष' के नाम से पुकारा गया है। ईश्वर के अभाव में यह सब संभव न होगा ॥१७॥

अब ईश्वर के स्वरूप का निरुपण करते हैं :

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥१८॥

अविद्यादि क्लेश, शुभाशुभ कर्म, कर्मफल तथा आशय (अनादि काल से संचित कर्मों का भण्डार)–इन सबके सम्बन्ध से सर्वथा अछूते चेतन आत्मतत्त्व विशेष का नाम ईश्वर है।

पुरुष पद का प्रयोग जीवात्मा और परमात्मा दोनों के लिए किया जाता है। जैसा चेतन तत्त्व जीवात्मा है वैसा ही चेतन तत्त्व परमात्मा है। उनके चेतन स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। जीवात्मा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, परिच्छिन्न परिमाण है और अधर्म, मिथ्याज्ञान, प्रमाद, राग, द्वेष आदि से अभिभूत हो जाता है। इसके विपरीत परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परममहत्परिमाण, सत्यसंकल्प आदि है तथा अधर्म आदि से कभी अभिभूत नहीं होता। इस प्रकार जीवात्मा के समान चेतन होने पर भी क्लेश आदि जीवात्म-धर्मों से सर्वथा अलिप्त रहने के

कारण उससे अत्यन्त विशिष्ट तत्त्व ईश्वर है। कठोपनिषद् (५-११) में इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा गया है–'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' जैसे सूर्य सब लोक का चक्षु होकर चक्षु में होने वाले बाह्य दोषों से प्रभावित–दूषित नहीं होता वैसे एक परब्रह्म सब भूतों में व्याप्त होता हुआ लोकदुःख से दुःखी नहीं होता।' स्पष्ट है, जीवात्मा भोगापवर्ग की सिद्धि के लिए शुभाशुभ कर्म करता और उनके फलों को भोगता हुआ संसार में लिप्त रहता है जबकि परमात्मा भोगों से अलिप्त रह कर सबकी व्यवस्था करता है ॥१८॥

ईश्वर की सर्वव्यापकता का निरूपण अगले सूत्र में किया गया है—

ईशावास्यं जगत् ॥१९॥

समस्त संसार ईश्वर से व्याप्त (आच्छादित) है।

परब्रह्म परमात्मा विश्व के कण कण में व्याप्त है। परमात्मा के लिए शास्त्रों में अनेक स्थानों पर 'सर्वव्यापी' और 'सर्वगत' आदि पदों का प्रयोग हुआ है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (१-१६) में कहा गया है कि 'सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम्' परमात्मा दूध में घी की भांति अदृष्ट रुप में सृष्टि में समाया है। यजुर्वेद (३२-८) में बताया है—'स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु' वह परमात्मा सर्वव्यापक होता हुआ सब प्रजाओं में ओतप्रोत हैं। ऋग्वेद (१०-९०-१) के अनुसार 'स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठत्' वह पृथिवी आदि लोकलोकान्तरों को सब ओर से घेरे हुए है। 'वस्' धातु का 'वसने' तथा 'आच्छादने' दो अर्थो में प्रयोग होता है। इन दोनों अर्थो को व्यक्त करते हुए 'यजुर्वेद (४०-५) में कहा गया है–'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः' वह परमात्मा सब पदार्थो के अन्दर भी विद्यमान रहता है और वाहर भी। गीता में भी उसे 'वहिरन्तश्च भूतानाम्' बताया है। जब पानी केवल क्यारी के भीतर होता है तो वह क्यारी के आकार वाला दीखता है किन्तु जब अन्दर वाहर सर्वत्र आप्लावित रहता है तो आकारहीन हो जाता है। इसी प्रकार यदि परमात्मा अन्तर्यामी रुप से केवल जीवात्मा के भीतर विद्यमान होता तो सम्भव है उसके आकार की कल्पना की जा सकती। किन्तु अन्दर बाहर सर्वत्र व्याप्त होने से वह आकारहीन हो जाता है। उसी परमेश्वर को मुण्डकोपनिषद् (१-१-६) में 'नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्' अत्यन्त सूक्ष्म सर्वव्यापक विभु और नित्य कहा है ॥१९॥

परमात्मा के सर्वव्यापी होने का कारण है उसका निराकार होना, यह वात अगले सूत्र में दर्शाई गई है—

निराकारः परमेश्वरो व्यापकत्वादेः ॥२०॥

व्यापकत्वादि गुणों के कारण परमेश्वर निराकार है।

वेदादि समस्त आर्य ग्रन्थों में ईश्वर को निराकार माना गया है । यजुर्वेद (४०-८) में उसे स्पष्ट रूप से 'अकाय' अथवा शरीर रहित कहा गया है । 'अकाय' कह देने के बाद 'अव्रणमस्नाविरम्' (व्रण तथा नसनाड़ियों से रहित) कहने की क्या आवश्यकता थी—इसका स्पष्टीकरण करते हुए उव्वट ने अपने वेदभाष्य में लिखा है—'अकायमव्रणमस्नाविरमिति पुनरुक्तान्यभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्त इत्यदोषः' अर्थात् बलपूर्वक निरूपण करने की भावना से की गई पुनरुक्ति में कोई दोष नहीं है । महीधर ने भी यास्काचार्य के 'अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' (निरुक्त १०-४२) को उद्धृत करके 'अकायमव्रणमस्नाविरमिति पुनरुक्तिरर्थातिशयद्योतनाय' अर्थातिशय को व्यक्त करने के उद्देश्य से की गई पुनरुक्ति को निर्दोष माना हैं । दोनों भाष्यकर्ताओं ने 'अकायत्वादेव शुद्धमनुपहतं सत्त्वरजस्तमोभिरपापविद्धं क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टम्' अकाय होने के कारण ही परमेश्वर को शुद्ध अर्थात् सत्त्वरजस्तम के प्रभाव से असम्पृक्त तथा योगदर्शन (स.पा.२४) के अनुसार अविद्यादि क्लेश, कुशल-अकुशल, इष्ट-अनिष्ट और मिश्र फलदायक कर्मों की वासना से रहित कहा है । महीधर ने ईश्वर के अशरीरी होने का बलपूर्वक प्रतिपादन करते हुए कहा है—'अकायोऽशरीरः लिङ्गशरीरवर्जित इत्यर्थः । अव्रणोऽस्नाविर इति विशेषणद्वयेन स्थूलशरीरप्रतिषेधः' अर्थात् 'अकाय' के साथ 'अव्रण' तथा 'अस्नाविर' इन दो विशेषण पदों के लगने से ईश्वर के साकार होने का पूरी तरह निषेध हो जाता है। केनोपनिषद् (१-२-२२) में भी उसे 'अशरीरं शरीरेषु' लोगों के शरीर में रहते हुए भी शरीर रहित कहा है ॥२०॥

शरीरधारी हो जाने पर परमेश्वर सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सर्वनियन्ता, सर्वशक्तिमान् आदि कुछ भी न रहेगा क्योंकि—

न ह्यप्राप्तदेशे कर्त्तुः क्रिया ॥२१॥

जहां कर्त्ता नहीं होता वहां उसकी क्रिया नहीं होती ।

यदि परमात्मा को शरीरी माना जाये तो वह एकदेशी हो जायेगा । एक देश में अवस्थित हो जाने पर उसका समस्त संसार के साथ सम्बन्ध नहीं रह सकेगा जो विश्व के संचालन और नियन्त्रण के लिये आवश्यक है । शरीरी एकदेशी परमात्मा अनन्त विश्व का न संचालन कर सकेगाः न अनन्त जीवात्माओं के कर्मफल आदि का नियन्त्रण । अथर्ववेद (४-१६-२) में कहा है—

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।
द्वौ सन्निषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥

अर्थात् जो मनुष्य खड़ा है या चलता है, जो दूसरों को ठगता है, जो छिप कर कुछ करतूत करता है, जो किसी पर अत्याचार करता है और जब दो आदमी मिलकर, एक साथ बैठकर गुप्त मंत्रणा करते हैं उसे भी तीसरा होकर वरुण भगवान् जानते हैं । शरीरी एकदेशी ईश्वर यह काम कैसे कर सकेगा ? गीता में

कहा गया है—'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'—ईश्वर सब प्राणियों के हृदय में वास करता है। इसी प्रकार उपनिषद् (श्वे. ६-११) में भी उसे 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' बताया गया है। हाड़मांस से बने पुतले का सर्वव्यापी होना असम्भव है और सर्वव्यापी न होने पर वह सर्वज्ञ तथा सर्वनियन्ता नहीं रह सकता ॥२१॥

किन्तु हम देहधारी मनुष्यों को शासन व्यवस्था करते देखते है—इस शंका का समाधान करने के लिये कहा है—

परिमिते वस्तुनि परिमिता एव गुणकर्मस्वभावाः ॥२२॥

परिमित वस्तु के गुण कर्म और स्वभाव भी सीमित होंगे।

देहधारी मनुष्यों का शासन क्षेत्र सीमित होता है। समस्त ब्रह्माण्ड की तुलना में तो बड़े से बड़ा साम्राज्य भी एक अणु से अधिक नहीं निकलेगा। फिर देहधारी मनुष्य की शासन व्यवस्था न पूर्ण होती है और न निर्दोष। देहधारी कितना ही महान और शक्तिशाली क्यों न हो उसके सामर्थ्य की सीमा कहीं न कहीं अवश्य होगी। यह निर्विवाद है कि शरीरी चेतन परिमित शक्ति के अनुसार सीमित रचना करने तथा उसकी व्यवस्था करने में समर्थ हो सकता है। विश्व की विशालता को देखते हुए यह असम्भव है कि कोई शरीरधारी एकदेशी उसकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय कर सके ॥२२॥

लोक में कोई कर्त्ता अधिष्ठाता बिना शरीर के नहीं होता। इस लिए ब्रह्म पुरुष के शरीरी होने की कल्पना की जा सकती है। इसका विवेचन अगले सूत्र में किया गया है—

संयोगादुत्पद्यमानस्य संयोजयितान्य एव ॥२३॥

जो संयोग से उत्पन्न होता है उसको संयुक्त करने वाला उससे भिन्न होना चाहिये।

यदि बिना शरीर के कोई रचना नहीं कर सकता तो परमेश्वर के भी आंख कान आदि अवयवों को बनाकर उसे साकार करने वाला उससे भिन्न कोई शरीरी पुरुष होना चाहिये। फिर उस पुरुष की रचना करने वाला उससे भिन्न कोई और पुरुष होना चाहिये। इस प्रकार करते रहकर अनवस्था दोष आ जायेगा। यह निश्चय है कि जो शरीर जिस पुरुष से सम्बद्ध होता है उसका निर्माता वह पुरुष स्वयं नहीं हो सकता ॥२३॥

इस पर कोई कहता है कि—

स्वयमेव निर्मितमात्मनः शरीरं सर्वशक्तिमत्त्वात् ॥२४॥

सर्वशक्तिमान् होने से ईश्वर ने अपना शरीर आप ही आप बना लिया। कोई पुरुष अपने शरीर का निर्माता स्वयं नहीं हो सकता—यह बात अस्म-

दादि के लिए तो ठीक है। किन्तु सर्वशक्तिमान् परमेश्वर पर यह सिद्धान्त लागू नहीं होता। वह जो चाहे कर सकता है ।।२४।।
पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत इस तर्क का उत्तर अगले सूत्र में दिया है—

देहधारणात्प्राक् तस्याकायत्त्वं सिद्धम् ।।२५।।

सर्वशक्तिमान् होने का यह अर्थ नहीं कि परमात्मा जो चाहे कर सकता है। यदि दुर्जनतोषन्याय से यह मान भी लिया जाये कि परमेश्वर ने स्वयं अपना शरीर बना लिया तो भी शरीर धारण करने से पूर्व उसका निराकार अर्थात् अकाय होना सिद्ध होगया। फिर यदि ब्रह्मपुरुष अपने शरीर की रचना स्वयं शरीरी हुए विना कर सकता है तो विना शरीर के जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय भी कर सकेगा। यदि समस्त विश्व की उसके शरीर के रूप में कल्पना कीजाय, तो इसमें कोई आपत्ति नहीं ।।२५।।

परमेश्वर को शरीरी मानने पर और भी कई दोष उत्पन्न हो जाते हैं जिनका विवेचन आगे के सूत्रों में किया गया है—

अनित्यं ब्रह्म सावयवत्त्वात् ।।२६।।

सावयव होने पर ब्रह्म अनित्य हो जायेगा।

निरवयव नित्य शरीर की कल्पना व्यर्थ है, ब्रह्म का नित्य, निरवयव सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी स्वरूप तो शास्त्रानुसार स्वीकार किया हुआ है। सावयव मानने पर निश्चित रूप से वह एकदेशी और अनित्य हो जायेगा। सर्ग से पूर्व उसका अस्तित्व नहीं होगा और जब अशरीर ब्रह्म द्वारा जगत्सर्ग होगया तो वाद में उसका शरीरी होना व्यर्थ है ।।२६।।

अगले सूत्र में एतद्विषयक एक शंका को प्रस्तुत किया गया है।

सावयवत्त्वं देहाङ्गवर्णनात् ।।२७।।

देहांगों का शास्त्रों में वर्णन पाये जाने से ईश्वर का सावयव शरीरी होना सिद्ध है।

वेदादि शास्त्रों में अनेकशः ईश्वर के शरीरांगों का वर्णन उपलब्ध है। 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' (ऋ० १०-९०-१; यजु ३१-१) 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्' (अथर्व १३-२-२६) 'सर्वतोमुखः' (यजु० ३२-४) 'सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्' (श्वे० ३-१६) आदि अनेक वाक्यों से ईश्वर का शरीरी होना सिद्ध होता है ।।२७।।

इसका समाधान अगले सूत्र में किया है।

तत्त्वौपचारिकम् ॥२८॥

यह तो केवल औपचारिक एवं आलंकारिक है।

वेदादि शास्त्रों में जहां कहीं भी इस प्रकार का कथन है वह परमात्मा के काल्पनिक विराट् रूप का वर्णन है जिसका अभिप्राय आलंकारिक रूप में उसकी सर्वव्यापकता, सर्वान्तर्यामिता एवं सर्वशक्तिमत्ता को प्रगट करना मात्र है। 'सहस्र' पद भी यहां अनेक अथवा असंख्य का द्योतक है। इस सन्दर्भ में अथर्ववेद (१०-७-३२, ३३, ३४) में ब्रह्म के विराट रूप का वर्णन द्रष्टव्य है—

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

भूमि जिसका पैर है, अन्तरिक्ष पेट और द्यौ सिर है, सूर्य तथा पुनः पुनः नवीन होता चन्द्रमा जिसके नेत्र हैं, अग्नि को जिसने अपना मुख बनाया है, वायु जिसके प्राण-अपान है और समस्त प्रकाश जिसके चक्षु हैं, दिशाओं को जिसने व्यवहार साधन बनाया उस सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म के लिए नमस्कार है।

इसी से मिलता-जुलता वर्णन मुण्डकोपनिषद् में पाया जाता है—

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशःश्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥

तेजोमय द्युलोक जिसका सिर है, चन्दसूर्य जिसके नेत्र हैं, दिशा श्रोत्र और वेदवाणी हैं, वायु प्राण एवं विश्व हृदय है तथा पृथिवी पैर है—वही समस्त जगत् का अन्तरात्मा है।

इस समूचे वर्णन को ध्यानपूर्वक देखने के बाद कौन कह सकता है कि यहां ब्रह्म के प्राकृतिक वस्तुभूत सिर, पैर, हाथ, आंख आदि का उल्लेख है। उसके सहस्र सिर, पैर, आंख आदि का कथन उसकी अनन्त शक्ति का द्योतक है। प्रकृति अथवा समस्त प्राकृतिक जगत की उसके शरीर के रूप में कल्पना करना सर्वथा औपचारिक अथवा आलंकारिक है। इससे परमात्मा का शरीरी होना सिद्ध नहीं होता। शरीरी होने पर ब्रह्म विकारी हो जायेगा ॥२८॥

क्योंकि—

सकायत्वे शीतोष्णक्षुत्तृषारोगच्छेदनभेदनादिदोषाणामाविर्भावः ॥२९॥

साकार ईश्वर शीतोष्ण, क्षुधा-तृषा, रोग-दोष, छेदन-भेदन आदि विकारों से ग्रस्त होगा।

शरीरी होने पर ईश्वर इन्द्रियों से युक्त होगा। इन्द्रियों से युक्त शरीर कर्म व भोगादि के लिए होता है। पञ्चभूतों से निर्मित शरीर सब प्रकार के

द्वन्द्वों से प्रभावित हुए विना न रहेगा। जिस प्रकार शरीरधारी जीव आचरण करता है वैसे ही ईश्वर को भी करना होगा। इससे ब्रह्म विकारी होकर अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को खो बैठेगा।

ईश्वर को प्रकृति का अधिष्ठाता माना गया है। किन्तु जब वह स्वयं अपने अस्तित्व-शरीर के लिए उस पर अवलम्बित और उसके विकारों से प्रभावित होगा तो वह उसका नियामक होने का दावा किस प्रकार कर सकेगा ॥२९॥

यदि ईश्वर निराकार है तो सृष्टि सम्बन्धी कार्य कैसे कर सकता है—इसका समाधान अगले सूत्र में किया गया है—

इन्द्रियाभावे तत्कार्यानुष्ठानं सर्वान्तर्यामित्वात् ॥३०॥

इन्द्रियों के न होने पर भी वह इन्द्रियों और अन्तःकरण से होने वाले समस्त कार्य सर्वान्तर्यामी होने के कारण अपने सामर्थ्य से करता है।

चेतन ब्रह्म को अपने कार्य सम्पादन करने व वस्तु ज्ञान के लिए करण अपेक्षित नहीं होते। इन्द्रियों की साधन रूप में आवश्यकता अपने से बाहर कार्य करने के लिए पड़ती है। दूसरे तक अपनी बात पहुंचाने के लिए वाणी की आवश्यकता होती है किन्तु अपने से बात करने में नहीं। बाहर पड़ी वस्तु को उठाने के लिए हाथ की आवश्यकता है किन्तु स्वयं हाथ को उठाने के लिए नहीं। इसी प्रकार जहां कोई नहीं है वहां पहुंचने के लिये उसे पैरों की आवश्यकता होती है। क्योंकि परमेश्वर 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः' सबके अन्दर बाहर ओत-प्रोत है, इसलिये उसे अपने से बाहर कुछ भी क्रिया करनी नहीं पड़ती। फिर उसे करणों (इन्द्रियों) की अपेक्षा क्यों हो? यजुर्वेद (४०-४) में परमात्मा को 'अनेजत्' (न हिलने वाला) और 'तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्' (स्थिर रहते हुए दौड़ने वालों से आगे निकल जाने वाला) इसीलिए कहा है कि सर्वव्यापक होने से वह 'पूर्वमर्षत्' जहां पहुंचना है वहां वह पहले से ही हैं। वेद में जो ब्रह्म को 'सहस्रशीर्ष' 'सहस्राक्ष' 'सहस्रपाद' आदि पदों से अलंकृत किया गया है वह उसकी विविध शक्तियों का द्योतक है। अपने बाह्य अंग व इन्द्रियां न रखते हुए भी सर्वान्तर्यामी होने के कारण वह सब शक्तियों का स्रोत है ॥३१॥

अन्यत्र भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है—यह अगले सूत्र में दर्शाया है।

उपनिषद्वचनाच्च ॥३१॥

उपनिषद् का वचन होने से भी।

श्वेताश्वतर उपनिषद् (३-१७)तथा गीता (१३-१४) में कहा है—'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्' अर्थात् इन्द्रियों से रहित होने पर भी वह सब

विषयों को ग्रहण कर लेता है। अन्यत्र (३-१९) इसी का व्याख्यान करते हुए कहा गया है–'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्णः' अर्थात् उसके हाथ पैर नहीं हैं पर इसके विना ही वह सर्वत्र प्राप्त है और सबको थाम रहा है। आंखें नहीं हैं, पर सबको देखता है, कान नहीं हैं, पर सब कुछ सुनता है ॥३१॥

न हि तस्यावतार : श्रुतिविप्रतिषेधात् ॥३२॥

वेद विरुद्ध होने से ईश्वर का शरीरधारी के रूप में अवतार नहीं माना जा सकता।

यजुर्वेद (३४-५३) में ईश्वर को 'अज' (कभी जन्म न लेने वाला) कहा गया है। यजुर्वेद (४०-८) में ही उसे 'अकायमव्रणमस्नाविरम्' वताते हुए 'स्वयम्भूः' नाम से पुकारा गया है। शंकर स्वामी सहित सभी प्राचीन आचार्यों ने 'अकायम्' का अर्थ 'लिंगशरीरवर्जितम्' किया है। लिंग शरीर 'सप्तदशैकं लिङ्गम्' (सा० ३-९) अठारह घटक (पांच ज्ञानेन्द्रियां, पाँच कर्मेन्द्रियां, पांच तन्मात्र, मन, बुद्धि और अहंकार) अवयवों वाला होता है। इस प्रकार 'अकाय' कह देने से ईश्वर के सूक्ष्म शरीर का निषेध हो जाता है। इन्हीं आचार्यों के अनुसार 'अव्रण' और 'अस्नाविर' कह देने से उसके स्थूल शरीर का निषेध हो जाता है। 'स्वयम्भू' का अर्थ भी महीधर ने 'स्वयं जन्म लेने वाला' न करके 'स्वयम्भूः स नित्यः ईश्वरः' 'नित्य' किया है। ऋग्वेद (४-१-११) में ईश्वर को 'अपादशीर्षा' (सिर और पैर से रहित) और १-१५२-३ में 'अपादेति पद्वतीनाम्' अर्थात् पैर वालों में विना पैर वाला बताया गया है। इस प्रकार वेद में ईश्वर के अवतार के लेने का स्पष्ट निषेध है। अन्य ग्रन्थों में भी प्रतिषेध पाया जाता है ॥३२॥

उपनिषत्स्वपि प्रतिषेधात् ॥३३॥

उपनिषदों में भी प्रतिषेध होने से।

श्वेताश्वतर (२-१) उपनिषद् में कहा है—

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥

वह परमात्मा अजर, अमर सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी, विभु और नित्य है। ब्रह्मवादी कहते हैं कि वह जन्म नहीं लेता।

इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद् (२-१-२) में ईश्वर के अजन्मा होने का वर्णन करते हुए कहा गया है—

दिव्योऽह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥

वह परमेश्वर अमूर्त, अन्तर्वहिः व्यापक, अजन्मा, प्राणरहित, मनरहित, शुद्ध तथा अत्यन्त सूक्ष्म है।३६॥

जन्म लेने पर ईश्वर आवागमन के चक्र में फंस जायेगा—इसका विवेचन अगले सूत्र में है—

अनन्तत्वात्तस्य ॥३४॥

उसके अन्त वाला-नाशवान् न होने से।

जो शरीर ग्रहण करता है वह कभी न कभी इसका परित्याग भी अवश्य करता है। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च' (गीता) जो पैदा होगा वह मरेगा अवश्य और जो मरेगा वह जन्म भी अवश्य लेगा। यदि जीवात्माओं की तरह ईश्वर भी कभी शरीर ग्रहण करेगा और कभी परित्याग; तो वह भी जीवात्मा की भांति जन्म-मरण के चक्र में फंसकर मोक्ष का अभिलाषी होगा। इस प्रकार वह प्रकृति और जीवात्म पुरुषों का अधिष्ठाता परब्रह्म न रहकर अन्तवला-विनाशी (अदर्शनं हि नाशः) हो जायेगा। किन्तु ईश्वर तो नित्य तथा निर्विकार है। इसलिए वह अवतार नहीं ले सकता ॥३४॥

शरीर धारण करने पर ब्रह्म द्रष्टा न रहकर भोक्ता बन जायेगा। किन्तु वह भोगों से अलिप्त है। इसलिये शरीरी नहीं हो सकता—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टत्त्वात् ॥३५॥

क्लेश, कर्म, कर्मफल और वासना से रहित होने से।

'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'—प्रभु ने सृष्टि की रचना भोग और अपवर्ग की प्राप्ति के साधन रूप में की है। 'अनेक जन्म संसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (गीता)। इसी के निमित्त जीवात्मा बार-बार देह धारण करता है क्योंकि 'भोगायतनं शरीरम्' कर्मफल भोगने के लिए ही शरीर होता है। वस्तुतः 'कर्मैव देहारम्भकारणम्' देह का कारण ही कर्म है। किन्तु परमेश्वर तो क्लेश, कर्म, कर्मफल और वासना से रहित है। इसलिये उसके शरीर धारण करने की कल्पना नहीं की जा सकती। आंशिक साधर्म्य मात्र से जीवात्मा के समान उसका शरीर धारण करना नहीं बन सकता। इसमें ईश्वर के वैधर्म्य गुण बाधक हैं ॥३५॥

मिथ्याज्ञानाभावाच्च ॥३६॥

मिथ्या ज्ञान के न होने से।

गौतम मुनि अपने न्याय-दर्शन में अपवर्ग प्राप्ति के सन्दर्भ में कहते हैं—'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः' (१-१-२) अर्थात् मिथ्या ज्ञान से दोष, दोष से प्रवृत्ति, प्रवृत्ति से जन्म तथा

जन्म से दुःख होता है। यहां जन्म के मूल में मिथ्या ज्ञान है। क्योंकि परमात्मा में मिथ्या ज्ञान का अभाव है इसलिये इसके जन्म लेने का प्रश्न ही नहीं उठता।

सर्वव्यापक होने से भी परमेश्वर का सृष्टि में आना जाना नहीं बनता–यह तर्क उपस्थित करते हुए कहा है—

न तस्य प्रवेशनिर्गमौ अनन्तत्त्वात् विभुत्वाच्च ॥३७॥

अनन्त और सर्वव्यापक (विभु) होने से, भी उसका आना जाना नहीं है।

आना जाना वहां होता है जहां कोई न हो। जैसे आकाश अनन्त और सर्वव्यापक होने से कहीं आता जाता नहीं वैसे ही अनन्त और सर्वव्यापक होने से परमात्मा का कहीं आना जाना सिद्ध नहीं हो सकता। इसीलिए उसका किसी के गर्भ में आना या उससे बाहर निकलना असम्भव है क्योंकि वह सदा से गर्भ के अन्दर भी विद्यमान है और बाहर भी। फिर 'भूमि जिसका पैर है, अन्तरिक्ष पेट और द्यौ सिर'–इतने विशाल आकार (काल्पनिक) वाला अनन्त ब्रह्म किसी नारी के गर्भ में कैसे समा सकता है? जो परमेश्वर बिना शरीर धारण किये अपने अनन्त सामर्थ्य से समस्त ब्रह्मांड की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय कर सकता है उसका छोटे मोटे काम करने के लिये शरीर धारण करने का विचार भी हास्यास्पद लगता है ॥३७॥

आर्षवचनादपि ॥३८॥

ऋषियों के कथन से भी ईश्वरावतार का निषेध है।

साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों ने भी एक स्वर से ईश्वर के शरीर धारण करने के विरुद्ध अनेक तर्क उपस्थित किये हैं। इस सन्दर्भ में वेदान्त दर्शन के कुछ सूत्र द्रष्टव्य हैं—

'पत्युरसामंजस्यात्—शरीरधारी जगत् का स्वामी नहीं हो सकता।

'सम्बन्धानुपपत्तेश्च'—देहधारी परमात्मा एकदेशी होगा। एकदेशी होने से उस का सम्बन्ध सम्पूर्ण संसार से न रह सकेगा।

'अधिष्ठानानुपपत्तेश्च'—शरीरधारी परमात्मा को कोई अधिष्ठान-आश्रय भी चाहिये जो कि हो नहीं सकता। यदि उसका आश्रय पहले से है तो वह सर्वकर्त्ता नहीं रहता।

'करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः'—शरीरधारी हमारी तरह सुख-दुःख का भोक्ता होगा। सुख-दुःख कर्मों के फलस्वरूप होंगे। कर्म, जड़ होने से, स्वयं फल नहीं देते। इसलिए ईश्वर को कर्मफल देने के लिए किसी अन्य ईश्वर की अपेक्षा होगी। इससे अनवस्था हो जायेगी।

'उत्पत्त्यसम्भवात्'—शरीरधारी परमात्मा परिमित साधन वाला होने से सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय न कर सकेगा।

इन युक्तियों और प्रमाणों से परमात्मा के निराकार और अकाय सिद्ध होने पर भी कहा जा सकता है कि सर्वशक्तिमान् होने से वह जो चाहे कर सकता है। अब इसका समाधान करते हैं।

अन्यानपेक्षयैवोत्पत्त्यादिकर्त्तेति सर्वशक्तिमच्छब्दार्थः ॥३९॥

'सर्वशक्तिमान्' शब्द का अर्थ है ईश्वर का किसी अन्य के साहाय्य बिना सृष्ट्युत्पत्ति आदि का कर्त्ता होना।

ईश्वर के जो स्वाभाविक कर्म हैं—जैसे सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करना, सब जीवों के कर्मों की यथायोग्य व्यवस्था करना आदि—उनके करने में उसे किसी की सहायता की अपेक्षा नहीं। इन्हें वह अपने अनन्त सामर्थ्य से कर लेता है। यही 'सर्वशक्तिमान्' शब्द का अर्थ है। अपने गुणकर्म-स्वभाव और सृष्टिक्रम के विरुद्ध वह कुछ नहीं कर सकता। अपने को मार कर किसी दूसरे को ईश्वर नहीं बना सकता। इसी प्रकार वह ऐसा पत्थर नहीं बना सकता जिसे वह स्वयं न उठा सके। कारण के बिना कार्य, अभाव से भाव की उत्पत्ति, द्रव्यों के स्वाभाविक गुणों को विपरीत करना आदि अनेक ऐसे कार्य हैं जिन्हें वह नहीं कर सकता। इसलिए अपने करने के कार्यों में बिना किसी की अपेक्षा के करने में समर्थ होना ही सर्वशक्तिमान् शब्द का अभिप्राय है ॥३९॥

न तु स्वेच्छाचारित्वम् ॥४०॥

स्वेच्छाचारिता नहीं।

'सर्वशक्तिमान्' होने का अर्थ यह नहीं कि परमात्मा जो चाहे कर सकता है। ईश्वर से ऊपर कोई नहीं है। तथापि यह समझ लेना, कि वह जो करे सो न्याय, भूल होगी। वह वैधानिक सम्राट् है जिसे अपने पूर्व घोषित नियमों को तोड़ने का अधिकार नहीं है। ईश्वरीय नियम सत्य और पूर्ण हैं। उनके विपरीत वह आचरण नहीं कर सकता। जीवात्मा को अपनी इच्छानुसार कार्यों में प्रवृत्त करके जीव के कर्मस्वातंत्र्य को छीन लेना, कृतहानि या अकृताभ्यागम का विचार किये बिना कर्मफल देना जैसे मनमाने कार्य करने की उसे छूट नहीं है। वन्ध्या के औरस पुत्र का विवाह वह नहीं करा सकता। आदि सृष्टि के पश्चात् वह माता पिता के संयोग के बिना सन्तानोत्पत्ति नहीं कर सकता ॥४०॥

स्वार्थ से प्रेरित होकर ईश्वर कुछ नहीं करता क्योंकि—

अकामो हि परमेश्वरः ॥४१॥

ईश्वर में कोई इच्छा नहीं है।

इच्छा सुख विशेष देने वाली अप्राप्त वस्तु की होती है। कोई पदार्थ ऐसा नहीं जो ईश्वर को अप्राप्त हो या उससे उत्तम हो। पूर्ण सुखयुक्त (आनन्द-

स्वरूप) होने से उसे किसी सुख की अभिलाषा भी नहीं है। इसलिये ईश्वर में इच्छा का होना सम्भव नहीं है। अथर्ववेद (१०-८-४४) में उसे 'अकामः रसेन-तृप्तः न कुतश्चनोनः' अर्थात् स्वार्थ कामना से रहित, आनन्द से तृप्त तथा हर प्रकार से पूर्ण (कहीं से न्यून नहीं) कहा गया है ।।४१।।

क्या परमात्मा त्रिकालदर्शी है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

सर्वज्ञ एव त्रिकालज्ञो जीवात्मकर्मापेक्षया ।।४२।।

जीव के कर्मों की अपेक्षा से ईश्वर सर्वज्ञ होने के कारण ही त्रिकालज्ञ है।

जो होकर न रहे वह 'भूतकाल' और जो न होकर हो जाये वह 'भविष्यत् काल' कहाता है। परमेश्वर का ज्ञान सदा एक रस, अखण्डित वर्तमान रहता है। भूत भविष्यत् जीवों के लिए है। सर्वज्ञता के कारण जीवों के कर्म की अपेक्षा से ईश्वर में त्रिकालज्ञता कही जा सकती है, स्वतः नहीं। जीव कर्म करने में स्वतंत्र है। किन्तु जिन प्राक्तन संस्कारों के वशीभूत होकर जीव अनेक कर्म करता है उन्हें वह नहीं जानता, ईश्वर जानता है। इसलिये जैसा ईश्वर जानता है वैसा जीव करता है–यह कहा जाता है ।।४२।।

न्यायकारी दयालुश्चापीश्वरः ।।४३।।

ईश्वर दयालु भी है और न्यायकारी भी ।।४३।।

किन्तु ये दोनों गुण परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। जो न्याय करे तो दया और दया करे तो न्याय नहीं होगा। कर्मों के अनुसार सुखदुःख देना 'न्याय' है और अपराधी को दण्ड दिये विना छोड़ देना 'दया' है। ये दोनों साथ साथ नहीं चल सकते। इस शंका का निवारण अगले सूत्र द्वारा किया है।—

न मिथो विप्रतिषिद्धौ गुणाविमौ समानप्रयोजनत्वात् ।।४४।।

समान प्रयोजन होने से 'दया' और 'न्याय' परस्पर विरोधी गुण नहीं हैं।

'न्याय' और 'दया' में नाममात्र का ही भेद है। जिसने जितना बुरा कर्म किया उसे उतना और वैसा ही दण्ड देना 'न्याय' है। दण्ड देने का प्रयोजन है मनुष्य को अपराध करने से रोक कर दुःख पाने से बचाना। 'दया' का प्रयोजन भी दुःखों से छुड़ाना है। अपराधी को दण्ड न देने को यदि दया मान लिया जाये तो दया का नाश हो जाये। एक डाकू को न्यायपूर्वक दण्ड न देकर दया के नाम पर उसे छोड़ देने का अर्थ होगा उसे सहस्रों मनुष्यों को दुःख देने की छूट देना और स्वयं भी दुःख पाने के लिए पापकर्म में प्रवृत्त होने का अवसर देना। ऐसा करने से दया कहां हुई? डाकू को कारागार में रखकर पाप करने से बचाने और अन्य सहस्रों मनुष्यों की उसके अत्याचारों से रक्षा करने में दया भी है और न्याय भी। जीवों के कल्याणार्थ संसार में नाना प्रकार के पदार्थ

उत्पन्न कर देना उसकी दया है और पूर्वकृत कर्मों के अनुसार संसारस्थ प्राणियों में सुख-दुःख के तारतम्य की व्यवस्था करना उसका न्याय है। मन में सबको सुखी करने की इच्छा और क्रिया करना 'दया' और बाह्य चेष्टा अर्थात् यथा-वत् दण्ड देना 'न्याय' कहाता है। दोनों का लक्ष्य एक होने से दया और न्याय में कोई विरोध नहीं है ॥४४॥

ईश्वर की सर्वज्ञता को परखने के लिये प्रश्न करते हैं—

अपि स्वीयमन्तमवैति सर्वज्ञेश्वरः? ॥४५॥

क्या सर्वज्ञ होने के कारण परमात्मा अपना अन्त जानता है?

ईश्वर की सर्वज्ञता के विषय में यह बड़ा दुरूह प्रश्न है। यदि सर्वज्ञ है तो उसे अपने अन्त का भी ज्ञान होना चाहिये। यदि कहा जाये कि सर्वज्ञ सब कुछ जानने में समर्थ है। इसलिये अपना अन्त भी अवश्य जानता है। इससे पर-मात्मा सान्त हो जायेगा। सान्त होने पर अनादि भी नहीं रहेगा। यदि कहा जाये कि अनन्त होने से अपना अन्त नहीं जानता तो उसकी सर्वज्ञता में दोष आ जायेगा। इसका समाधान अगले सूत्र में किया है।—

न अनन्तत्वात् ॥४६॥

अनन्त होने से नहीं जानता।

परमात्मा पूर्ण ज्ञानी है। 'यथार्थदर्शनं ज्ञानमिति' जो पदार्थ जैसा है अर्थात् जिसका जैसा गुण-कर्म-स्वभाव है उसे वैसा ही जानना ज्ञान-विज्ञान कहाता है। परमेश्वर अनन्त है। इसलिये वह अपने को अनन्त ही जानता है। यही उसकी सर्वज्ञता है। अनन्त को सान्त और सान्त को अनन्त जानने से वह अज्ञानी हो जायेगा ॥४६॥

अब ईश्वर सगुण है या निर्गुण इसका विवेचन करते हैं—

सगुणोनिर्गुणश्चेश्वरः ॥४७॥

ईश्वर सगुण और निर्गुण दोनों है।

सगुण का अर्थ प्रायः साकार और निर्गुण का निराकार समझा जाता है। यह सर्वथा भ्रान्त धारणा है। निराकार तत्त्व भी सगुण हो सकता है—जैसे निराकार आकाश का गुण शब्द है। ब्रह्मवादी ब्रह्म को निर्गुण ही मानते हैं और जब तक मायोपाधि से ब्रह्म ईश्वर नहीं बन जाता तब तक वे ब्रह्म में किसी गुण का अध्यारोप नहीं करते हैं। इस भ्रान्ति का कारण 'सगुण' और 'निर्गुण' के अर्थ को ठीक प्रकार से न समझना है। संसार में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जिसमें केवल सगुणता या केवल निर्गुणता हो। अपने अपने स्वाभाविक गुणों से सहित और विरोधी गुणों से रहित होने से सभी पदार्थ सगुण और निर्गुण हैं।

इस प्रकार एक ही पदार्थ में एक ही समय में सगुणता और निर्गुणता दोनों रहती हैं—जैसे पृथिवी गन्धादि गुणों के कारण सगुण और इच्छादि गुणों से रहित होने के कारण निर्गुण है। इसी प्रकार चेतन के गुणों से रहित होने से जड़ पदार्थ 'निर्गुण' और अपने गुणों से युक्त होने से 'सगुण' हैं तथा जड़ के गुणों से पृथक् होने से जीव 'निर्गुण' और इच्छा ज्ञानादि अपने गुणों से युक्त होने से 'सगुण' है। ऐसे ही परमेश्वर भी—

गुणेभ्यः पार्थक्यान्निर्गुणः ॥४८॥

गुणों से रहित होने से निर्गुण है।

जगत् के जड़त्व और जीव की अल्पज्ञता, राग-द्वेष आदि से रहित होने के कारण ईश्वर निर्गुण है। कठोपनिषद् (३-२५) में उसके निर्गुण रूप का निरुपण करते हुए उसे 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्'—शब्द, स्पर्श, रूपादि से रहित बताया है। यही ईश्वर का निर्गुण होना है ॥४८॥

और—

गुणैस्सह वर्त्तमानत्वात्सगुणः ॥४९॥

गुणों से युक्त होने से वह सगुण है।

सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी होने और पवित्रता, दयालुता तथा अनन्तज्ञान-बलादि गुणों से युक्त होने से वह सगुण है ॥४९॥

सगुण का अर्थ साकार नहीं माना जा सकता क्योंकि वेदादि शास्त्रों में ईश्वर के साकार या मूर्त्त होने का सर्वत्र निषेध है—

दिव्योह्यमूर्त्तः पुरुषः ॥५०॥

दिव्यरूप (अलौकिक प्रकाशयुक्त) होते हुए भी परमात्मा आकार रहित है। प्रकाश की विद्यमानता में अनेक दूषित व अदूषित पदार्थ पड़े रहते हैं, उनके दोषों से प्रकाश दूषित नहीं होता क्योकि उसका स्वरूप उनसे सर्वथा भिन्न है। इसी प्रकार 'ज्योतिषां ज्योतिः' परमेश्वर प्रकृति में व्याप्त होते हुए भी उसका रूप धारण नहीं करता। प्राकृतिक पदार्थ जड़ होने से सदा एक रूप नहीं रहते। परिणामी होने से वह दिव्य नहीं हो सकते। ऐसी दिव्य सत्ता प्रकृति के तत्त्वों से निर्मित मूर्ति का रूप धारण नहीं कर सकती ॥५०॥

ब्रह्म के अमूर्त्त होने में दूसरी युक्ति देते हैं—

न तस्य प्रतिमा व्यापित्वात् ॥५१॥

सर्वव्यापकता के कारण उसकी मूर्ति नहीं हो सकती।

वेद के पुरूष सूक्त में परमात्मा के 'सहस्रशीर्षा' आदि विशेषण देकर उपलक्षण से सारे ब्रह्माण्ड को उसकी देह बताकर उसकी सर्वव्यापकता और विशालता

का चित्रण किया गया है। इतने महिमामय विराट् पुरुष की मूर्ति की कल्पना कैसे की जा सकती है ? जिसके रूप की कल्पना नहीं की जा सकती उसे कागज या पत्थर में कैसे उतारा जा सकता है ! इसलिये जगत् में व्याप्त उस निराकार परमेश्वर की 'प्रतिमा' परिमाण, उपमान वा मूर्ति नहीं हो सकती। यजुर्वेद (३२-३) का भाष्य करते हुए महीधर आदि ने भी स्पष्ट कह दिया है—'तस्य पुरुषस्य प्रतिमा प्रतिमानमुपमानं किंचिद्वस्तु नास्ति'। 'सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं सर्वतः श्रुतिमल्लोके'—जिसके हाथ, पैर, नेत्र, सिर, मुख, और कान सारे ब्रह्माण्ड में फैले हों, प्रयत्न करके भी उसकी मूर्ति कौन बना सकता है ? कल्पना से बनाई गयी मूर्ति या तसवीर किसी पुरुष की तो बन सकती है किन्तु 'पुरुष विशेष' परमेश्वर की नहीं। जिसका मूर्त्तरूप किसी ने देखा नहीं उसका चित्र कोई कैसे बनायेगा ? 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (यजु. ३१-३) का अभिधा से अर्थ करने पर ब्रह्म चार पैरों वाला-चौपाया बन जाता है। यह अर्थ किसी को मान्य नहीं होगा। यहां भी प्रकारान्तर से ईश्वर की व्यापकता एवं विशालता का ही निर्देशन है। इस मन्त्र का महीधर का भाष्य द्रष्टव्य है—"अस्य पुरुषस्य विश्वा सर्वाणि भूतानि कालत्रयवर्तीनि प्राणिजातानि पादश्चतुर्थांशः। अस्य पुरुषस्यावशिष्टं त्रिपात्स्वरूपं अमृतं विनाशरहितं तत् दिवि द्योतनात्मके स्वप्रकाशे स्वरूपेऽवतिष्ठत इति शेषः। यद्यपि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' त्याम्नातस्य परब्रह्मण इयत्ताया अभावात् पादचतुष्टयं निरूपयितुमशक्यं तथापि जगदिदं ब्रह्मरूपापेक्षयाल्पमिति विवक्षितत्वात्पादत्वोपन्यासः" अर्थात् ब्रह्म की इयत्ता सीमायें नहीं हैं। फिर भी ब्रह्म की तुलना में जगत् की तुच्छता दिखाने के लिए ही इस रूपक का सहारा लिया गया है ॥५१॥

इन्द्रियों का विषय न होने से भी ईश्वर की मूर्ति का होना सम्भव नहीं—

न अदृश्यत्वादेः ॥५२॥

अदृश्यत्व आदि के कारण भी नहीं।

यदि ईश्वर की मूर्ति होती तो अन्य साकार पदार्थों की भाँति ईश्वर भी दिखाई-सुनाई पड़ता। किन्तु उसे तो अनेकत्र इन्द्रियातीत कहा गया है। 'न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति' (केन. १-३) न वहां आंख पहुंचती है, न वाणी। 'यच्चक्षुषा न पश्यति, येन चक्षूंषि पश्यति' (केन. १-४) जो आँख से दिखाई नहीं देता, जिससे आँख देखती है। 'यच्छ्रोत्रेण न श्रृणोति, येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्' जो कान से नहीं सुना जाता, जिससे कान सुनते हैं—'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते' उसी को तू ब्रह्म जान, न कि उसे जिसकी लोग उपासना करते हैं। 'न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्' (कठ. ६-९) इस ब्रह्म का कोई रूप नहीं है और न इसे कोई आंखों से देख सकता है। 'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्' (मु. १-१-६) जो परमात्मा न देखा

जाता है, न पकड़ा जाता है, जिसका कोई गोत्र नहीं, जिसके न कोई नेत्र हैं, न श्रोत्र, न हाथ और न पैर। 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैः' (मु. ३-१-८) —वह ब्रह्म न आंख से ग्रहण किया जाता है, न वाणी से और न अन्य इन्द्रियों से। 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' (कठ. ३-१५)—वह ब्रह्म न शब्द है, न स्पर्श, न रूप और इसी प्रकार 'अरसं नित्यमगन्धवत्' वह न रस वाला है न गन्ध वाला —अर्थात् वह इन्द्रियों का विषय नहीं है। 'न तस्य लिङ्गम्' (श्वेत. ६-९) उसका कोई चिन्ह या प्रतीक नहीं है। नैनद्देवा आप्नुवन्' (यजु. ४०-४) इन्द्रियां उस परमेश्वर को नहीं पा सकतीं। इसी प्रकार महाभारत में भी कहा है—

न ह्ययं चक्षुषा दृश्यो न च सर्वैरपीन्द्रियैः।
मनसा तु प्रदीपेन महानात्मा प्रकाशते॥
अशब्दस्पर्शरुपं तदरसागन्धमव्ययम्।
अशरीरं शरीरेषु निरीक्षेत निरिन्द्रियम्॥ (शान्तिपर्व २३९-१६-१७)

परमात्मा न आंखों से देखने योग्य है, न शेष इन्द्रियों से। मन रूप प्रदीप से देखा जाता है। वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से रहित, अव्यय और निराकार रूप से शरीरों में व्याप्त है। उस निरिन्द्रिय को देखो।

देवी भागवत (स्कन्ध ३, अ. ७) में लिखा है—

निर्गुणस्य मुनेरूपं न भवेद् दृष्टिगोचरम्।
दृश्यं च नश्वरं यस्मादरूपं दृश्यते कथम्॥

निर्गुण का रूप दृष्टि गोचर नहीं होता क्योंकि दृश्य तो नश्वर है। अरूप का दर्शन कैसे सम्भव है?

'न मांसचक्षुषा द्रष्टुं ब्रह्मभूतः स शक्यते' (वि. पु. ६-६)—ब्रह्म को चर्म चक्षुओं से नहीं देखा जा सकता।

यजुर्वेद (३२-२) का भाष्य करते हुए उव्वट और महीधर दोनों ने स्पष्ट घोषणा की—'न ह्यसौ प्रत्यक्षादीनां विषयः' अर्थात् ईश्वर प्रत्यक्षादि का विषय नहीं है।

यदि परमेश्वर की मूर्ति बनाकर उसका दर्शन-पूजन सम्भव होता तो सभी शास्त्रों में बार-बार उसे इन्द्रियातीत कहने की आवश्यकता न पड़ती॥५२॥

ईश्वर का मूर्त्तरूप सम्भव न होने से सर्वत्र मूर्तिपूजा का निषेध किया है—

वेदादिषु प्रतिषेधाच्च ॥५३॥

वेदादि शास्त्रों में मूर्तिपूजा का निषेध होने से भी।

श्रीमद्भगवद् गीता में लिखा है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥

अ. १६-२३-२४

जो मनुष्य वेदादि शास्त्रों की आज्ञा को छोड़कर अपनी इच्छानुसार चलता है वह न सिद्धि को प्राप्त होता है, न सुख को और न उत्तम गति (मोक्ष) को। इसलिए कर्त्तव्याकर्त्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण है–ऐसा मानकर शास्त्र द्वारा अनुमोदित कर्म ही करने चाहियें।

मूर्तिपूजा के सन्दर्भ में यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का नौवां मन्त्र सर्वथा निर्णायक है—

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूयऽइव ते तमो य उ सम्भूत्या ँरताः ॥

जो 'असम्भूति' अर्थात् सत्व, रजस्, तमस् तीन गुणों वाली अनुत्पन्न, अव्यक्त अनादि प्रकृति-कारण की उपासना करते हैं वे गहरे अन्धकार–अज्ञान और दुःख में डूब जाते हैं और जो 'सम्भूति' अर्थात् कारण से उत्पन्न हुए कार्यरूप पृथिवी आदि भूत, पाषाण और वृक्षादि अवयव, और मनुष्यादि के शरीर की ब्रह्म के स्थान में उपासना करते हैं वे उससे भी गहरे अन्धकार में डूब जाते हैं।

फिर पूजा किसकी मूर्ति की करेंगे? क्योंकि 'न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः' (यजु. ३२-३) जिसका यश (सृष्टि के रचियता तथा सूर्य-चन्द्रमादि पदार्थों का अधिकरण होने से) प्रसिद्ध है उसकी तो कोई प्रतिकृति अथवा मूर्ति हो नहीं सकती।

केनोपनिषद् (खण्ड १, मन्त्र ४-८) में बड़े विस्तार से समझाया गया है कि आंखों आदि से दिखाई-सुनाई देने वाले और मन से मनन में आने वाले जिस तथाकथित ईश्वर की लोग उपासना करते हैं उसे तुम ईश्वर न मानो।

महाभारत में मूर्तिपूजा का खण्डन करते हुए लिखा है—

मृच्छिलाधातुदार्वादिमूर्त्तावीश्वरबुद्धयः ।
क्लिश्यन्ति तपसा मूढाः परां शान्तिं न यान्ति ते ॥

जो लोग मूर्खतावश मिट्टी, पत्थर, धातु या काष्ठ की बनी मूर्तियों को ईश्वर समझकर उनकी पूजा करते हैं उन्हें कभी शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

आदि जगद्गुरू शंकराचार्य ने मूर्तिपूजा की आलोचना करते हुए अपने ग्रन्थ 'परापूजा' में लिखा—

सर्वाधारो निराधारः सर्वव्यापक ईश्वरः ।
प्राणादि प्रेरकत्वेन जीवने हेतुरेव च ॥
पूर्णस्यावाहनं कुत्र सर्वाधारस्य आसनम् ।
स्वच्छस्य पाद्यमर्घ्यञ्च शुद्धस्याचमनं कुतः ।

परमेश्वर सर्वाधार, निराधार और सर्वव्यापक है। प्राणों का प्रेरक होने

से जीवन का हेतु है। ऐसे पूर्ण परमेश्वर का आवाहन कैसा ? सर्वाधार को आसन कैसा ? नित्य पवित्र और स्वच्छ के लिए पाद्य और अर्घ्य कैसा ? और शुद्ध के लिये आचमन कैसा ?

गणेशपूजन की आलोचना करते हुए 'शङ्करदिग्विजय' में लिखा है—

"कथं सगुणस्य गजमुखस्य गणपतेः जगत् कारणं कल्पयितुमुचितम् किञ्च रुद्रसुत इति लोके प्रसिद्धिरस्ति। तस्य ब्रह्मणत्वे कल्पिते पित्रादिकारणत्वं सुतस्यानुचितमेव। अतो रुद्रादिकारणं परब्रह्मैव, 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' इत्यादि वाक्यात्' (पृष्ठ ४८)।

सगुण (साकार) गणेश जगत् का कारण कैसे हो सकता है ? वह शिव (रुद्र) का पुत्र प्रसिद्ध है। उसे ब्रह्म मान लेने पर पिता का कारण पुत्र को मानना पड़ेगा। इसलिये परब्रह्म ही रुद्रादि का कारण है–'वही सृष्टि से पूर्व विद्यमान था' इत्यादि उपनिषद् प्रमाण है।

गणेशपूजन में प्रायः 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे' (यजु० २३-१९) आदि मन्त्र का विनियोग किया जाता है। किन्तु उव्वट और महीधर ने भी इस मंत्र को गणेश (गजमुख) दैवत न मानकर अश्वदैवत माना है। पूर्वापर प्रसंग को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इस मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय 'परमात्मा' वा 'राष्ट्रपति' (गणराज्य का सर्वोच्च शासक गणपति) है। इसके आगे के कई मन्त्र 'राजप्रजे' दैवत हैं।

शंकर स्वामी ने पुराणों के वचन उद्धृत करके भी मूर्ति पूजा पर कड़ा प्रहार किया है—

अधमा प्रतिमापूजा स्तोत्रजाप्यं च मध्यमा।
उत्तमा निगमा पूजा-सोऽहं पूजा महात्मनः ॥१॥
तीर्थेषु पशुयज्ञेषु काष्ठपाषाणमृन्मये।
प्रतिमायां मनो येषां ते नरा मूढचेतसः ॥२॥
पाषाणैरालये बद्ध्वा देवः पाषाण एव च।
ब्रूहि पण्डित देवस्तु कस्मिन् स्थाने स तिष्ठति ॥३॥
स्वगृहे पायसं त्यक्त्वा भिक्षामिच्छति दुर्मतिः।
शिलामृद्दारुचित्रेषु देवता बुद्धिकल्पिता ॥४॥
निर्मलस्य कुतः स्नानं वस्त्रं विश्वोदरस्य च।
निरालम्बस्योपवीत रम्यस्याभरणं कुतः ॥५॥
निर्लेपस्य कुतो गन्धं पुष्पं निवसनस्य च।
निर्गन्धस्य कुतो धूपं स्वप्रकाशस्य दीपकम् ॥६॥
नित्यतृप्तस्य नैवेद्यं निष्कामस्य फलं कुतः।
ताम्बूलं च विभोः कुत्र नित्यानंदस्य दक्षिणा ॥७॥
स्वयं प्रकाशमानस्य कुतो नीराजनं विधिः।

प्रदक्षिणाऽह्यनन्तस्य अद्वितीयस्य का नतिः ॥८॥
अन्तर्बहिश्च पूर्णस्य कथमुद्वासनं भवेत् ।
इयमेव परापूजा शम्भो सत्यपरायणः ॥९॥
देहो देवालयः प्रोक्तो ब्रह्मदेवः सनातनः ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहं भावेन पूजयेत् ॥१०॥

प्रतिमा पूजन अधम है, स्तोत्रों का जपना मध्यम है, वेद पूजा सर्वोत्तम है, महात्माओं की पूजा 'सोऽहं' है ॥१॥

तीर्थ, पशुयज्ञ, लकड़ी, पत्थर और मिट्टी की मूर्तियों में जिनके मन लगे हैं, वे मनुष्य मूढ़ अज्ञानी हैं ॥२॥

पत्थरों से एक स्थान में बांधकर और देव को पाषाण बना कर, अरे पंडित, कह तो सही, वह देवता कहां पर रहता है ॥३॥

अपने घर में खीर छोड़ कर, अरे दुर्मति, भिक्षा मांगता फिरता है ! पत्थर, लकड़ी और मिट्टी के चित्रों में देवता बुद्धि रखता है ॥४॥

अरे निर्मल का स्थान कैसा ? विश्वोदर के लिए वस्त्र कैसे ? निरालम्ब के लिए यज्ञोपवीत कैसा ? रम्य के लिए आभूषण कैसे ? ॥५॥

निर्लेप के लिए गन्ध क्या, निर्वास के लिए पुष्प कैसे ? निर्गन्ध के लिए धूप कैसी और स्वप्रकाश के लिए दीपक कैसा ? ॥६॥

नित्यतृप्त के लिए नैवेद्य क्या ? निष्काम के लिए फल कैसे ? विभु के लिए ताम्बूल कैसा ? नित्यानन्द के लिए दक्षिणा कैसी ? ॥७॥

प्रकाशस्वरूप को दीप क्या दिखाना ? अनन्त की प्रदक्षिणा कैसी ? अद्वितीय को नमस्कार क्या करना ? ॥८॥

जो अन्दर बाहर परिपूर्ण है उसका विसर्जन कहां ? परमात्मा की पूजा विधि यही है कि— ॥९॥

इस शरीर को मन्दिर बनाओ, उसमें व्याप्त परमेश्वर को देवता समझो, अज्ञानरुप निर्माल्य को तजो और 'सोऽहं' भाव से पूजा करो ॥१०॥

श्रीमद्भागवत (स्कन्ध १०, अ० ८४, श्लोक १३) में कितना स्पष्ट लिखा—

"यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।
यत्तीर्थबुद्धिः सलिलेन कर्हिचित् जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥

वात-पित्त-कफ से बने दुर्गन्धयुक्त शरीर में जो आत्मबुद्धि, स्त्री आदि में स्वबुद्धि, पृथ्वी से बनी मूर्तियों में पूज्यबुद्धि, व जलों में तीर्थ बुद्धि रखता है वह गौओं का चारा ढोने वाला गधा है ।

निम्न वचन भागवत (१०-८४-११) और देवीभागवत (९-७-४२) में एक जैसा पाया जाता है—

'नाम्बुमयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।'

पानी के तीर्थ नहीं होते और मिट्टी-पत्थर के भगवान् नहीं होते । शिव-

पुराण में भी एक स्थान पर (सं० ३६-२६) लिखा है—

तीर्थानि तोयपूर्णानि देवान् पाषाणमृन्मयान् ।
योगिनो न प्रपद्यन्ते स्वात्मप्रत्ययकारणात् ।।

जल से पूर्ण तीर्थों और मिट्टी-पत्थर के देवताओं को योगिजन आत्मविश्वास के कारण नहीं मानते।

महामति चाणक्य ने (चाणक्यनीति, ४-१६) व्यवस्था दी है—

अग्निर्देवो द्विजातीनां मुनीनां हृदि दैवतम् ।
प्रतिमा स्वल्पबुद्धीनां सर्वत्र सर्वदर्शिनः ।।

द्विजों की देवता अग्नि (अग्निहोत्र) है, मुनियों के हृदय में देवता है, अल्पबुद्धियों के लिये मूर्ति और समदर्शियों के लिए सर्वत्र देवता है ।।५३।।

किसी किसी की मान्यता है कि ईश्वर साकार भी है और निराकार भी। ऐसा होना सम्भव नहीं है क्योंकि—

न युगपद् विरुद्धधर्मसमावेशः शीतोष्णवत् ।।५४।।

एक ही वस्तु में एक समय में दो विरोधी गुण नहीं रह सकते, सरदी गरमी के समान।

जैसे एक ही समय में जलादि कोई पदार्थ ठण्डा और गरम नहीं हो सकता, वैसे ही परमात्मा साकार और निराकार दोनों नहीं हो सकता। वेदान्तदर्शन के सूत्र 'न स्थानतोऽपि परस्परोभयलिङ्गं सर्वत्र हि' (३-२-११) का भाष्य करते हुए शंकर स्वामी लिखते हैं—

"न तावत् स्वत एव परस्य ब्रह्मण उभयलिंगत्वमुपपद्यते । न ह्येकं वस्तु स्वत एव रूपादिविशेषोपेतं तद्विपरीतं चेत्यवधारयितुं शक्यं विरोधात् । सर्वत्र हि ब्रह्मस्वरूपप्रतिपादनपरेषु 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम् ।।"

स्वतः ही परब्रह्म साकार और निराकार दोनों प्रकार का नहीं हो सकता। एक ही वस्तु रुपादि वाली तथा साथ ही रुपरहित नहीं हो सकती, क्योंकि ये दोनों गुण परस्पर विरोधी हैं। सब जगह ब्रह्म के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले वाक्यों में उसे शब्द, स्पर्श एवं रुपरहित और अव्यय कहा है ।।५४।।

कहा जा सकता है कि शास्त्र में दोनों प्रकार के सन्दर्भ मिलते हैं। अगले सूत्र में इसका समाधान किया गया है—

प्रधानत्वादकायः ।।५५।।

मुख्यतः निराकार रूप में वर्णन किये जाने से वह रूपरहित है।

जीवात्मा या परमात्मा का अपना कोई आकार नहीं है। पर जीवात्मा देह धारण करने से आकार वाला कहा जाता है। साधारणतया देह में हाथ, पैर आंख, नाक आदि अंग होते हैं। परन्तु यह नितान्त अनिवार्य नहीं है। अनेक

कृमि कीट आदि शरीरी होते हुए भी अंग नहीं रखते। फिर भी वे देही या आकार वाले कहाते हैं। परन्तु परमात्मा का ऐसा कोई रूप या आकार नहीं होता। वह निर्विवाद रूप से अशरीरी है। शास्त्र में मुख्य रूप से उसका वर्णन 'अकाय' 'अशरीरी' और 'अमूर्त्त' के रूप में ही किया गया है। जहां कहीं उसके देह या देहांगों का उल्लेख मिलता है वह केवल औपचारिक एवं आलंकारिक है। वहां लक्ष्यार्थ अभिप्रेत है। अभिधा से उसे अन्यथा नहीं समझ लेना चाहिये ॥५५॥

इतने पर भी एक वात कही जा सकती है। यदि मूर्त्ति और मूर्त्तिपूजा का कहीं विधान ही न होता तो उसके इतने तीव्र खण्डन की आवश्यकता क्यों होती ? स्पष्ट है कि मूर्त्ति और मूर्त्तिपूजा के कारण ही वेदादि शास्त्रों में उसका निषेध किया गया है क्योंकि—

प्राप्तौ सत्यां निषेधः ॥५६॥

प्राप्त पदार्थ का ही निषेध होता है।

जो है ही नहीं, उसका निषेध कैसा ? जो वैठा नहीं उसे उठने को कहने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसी प्रकार यदि मूर्त्तिपूजा का कहीं विधान ही नहीं, तो उसका खण्डन कैसा ? ॥५६॥

इसका उत्तर अगले सूत्र में दिया गया है।—

अप्राप्तस्यापि निषेधः ॥५७॥

अप्राप्त का भी निषेध होता है।

निषेध प्राप्त और अप्राप्त दोनों का होता हैं। जैसे-कोई बैठा है तो उसे उठा देना 'प्राप्त' का निषेध है। वैसे ही किसी को यह कहना कि 'झूठ मत वोलो, चोरी मत करो, दुष्टों का संग मत करो' आदि 'अप्राप्त' का निषेध है। इससे यह समझ लेना कि जिसे झूठ वोलने, चोरी करने या दुष्टों का संग करने से रोका जा रहा है वह पहले इन दोषों में प्रवृत्त है, ठीक नहीं होगा। जो मनुष्यों के ज्ञान में अप्राप्त है: वह परमेश्वर के ज्ञान में प्राप्त होने से उसका निषेध किया जा सकता है। अप्राप्त निषेध का तात्पर्य भी प्राप्त के नियम में होता है। यथा—'न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि' (तै० स० ५-२-७) यहां अन्तरिक्ष तथा द्यु में अग्निचयन का निषेध है। इसका 'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्' हिरण्य रख कर ही अग्निचयन करना चाहिये, में तात्पर्य है। इसी प्रकार वेदादि शास्त्रों में जो अप्राप्त का निषेध है, उसका 'ईश्वर ही उपासनीय है' में तात्पर्य समझना चाहिये ॥५७॥

तव प्रश्न उपस्थित होता है—

पुण्यं नोचेत्पापमपि न स्यात् ॥५८॥

मूर्त्तिपूजा करने में पुण्य नहीं तो पाप भी नहीं है ॥५८॥

इसका उत्तर आगे के सूत्रों में दिया है—

विधिनिषेधात्मकानि द्विविधानि कर्माणि ॥५९॥

विधि-निषेध भेद से दो प्रकार के कर्म हैं।

वेदादि शास्त्रों में सत्यभाषणादि जिन कर्त्तव्य कर्मों का प्रतिपादन किया गया है, वे 'विहित' कर्म हैं। इसके विपरीत मिथ्या भाषणदि जिन कर्मों का निषेध किया गया है, वे 'निषिद्ध' कर्म हैं ॥५९॥

तदनुसार—

विहितस्यानुष्ठानं धर्मस्तस्याननुष्ठानमधर्मः ॥६०॥

विहित कर्मों का अनुष्ठान करना 'धर्म' और न करना 'अधर्म' है ॥६०॥

निषिद्धस्यानुष्ठानमधर्मः ॥६१॥

निधिद्ध कर्म का करना 'अधर्म' है ॥६१॥

वेदविरुद्धत्वात् प्रतिमापूजनमधर्मः ॥६२॥

वेदविरुद्ध होने से मूर्त्तिपूजा करना पाप है।

ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त का मत है कि वेद विरुद्ध कर्मों का सर्वथा परित्याग कर वेदानुकूल आचरण करना ही धर्म है। जैमिनि के मत में 'विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्' (मीमांसा १-३-३) वेद के विरूद्ध होने से प्रामाण्य नहीं होता, अविरोध होने पर प्रामाण्य का अनुमान किया जा सकता है। इसलिये वेद विरूद्ध होने से मूर्त्तिपूजन अधर्म है। वेद ही सत्य अर्थ का प्रतिपादक है। यदि किन्हीं ग्रंथों में मूर्त्तिपूजा का विधान मिलता है तो उसे प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि—

नास्तिको वेदनिन्दकः ॥६३॥

वेदों की निन्दा करने वाला 'नास्तिक' कहाता है।

मनु जी के अनुसार 'धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' धर्माधर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वेद ही परम प्रमाण हैं। इसलिये—

ये वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥
उत्पद्यन्ते च्यवंते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ॥
(मनु०१२-९५,९६)

जो ग्रन्थ वेद वाह्य कुत्सित पुरुषों के वनाये संसार को दुःखसागर में डुबाने वाले हैं वे सब निष्फल, अन्धकाररूप, इस लोक और परलोक में दुःखदायक हैं।

जो ग्रन्थ वेदों के विरुद्ध उत्पन्न होते हैं वे आधुनिक होने से शीघ्र ही नष्ट हो जाने वाले हैं। उनका मानना निष्फल और असत्याचरण है।

इस प्रकार मूर्त्तिपूजा में प्रवृत्त होना वेदनिन्दा में प्रवृत्त होना है।

किसी भी पदार्थ में ईश्वर की भावना करके उसकी पूजा करने में क्या दोष है—इसकी समीक्षा करते हुए कहा है—

यथार्थज्ञानाविरोधिनी भावना ॥६४॥

जो यथार्थज्ञान के अविरुद्ध हो वही 'भावना' कहाती है।

जो पदार्थ जैसा हो उसे वैसा ही मानना भावना है। रोटी को रोटी, अग्नि को अग्नि, जल को जल, वैसे ही पत्थर को पत्थर मानना यथार्थ ज्ञान (यथार्थदर्शनं हि ज्ञानम्) है। इसी को भावना कहते हैं ॥६४॥

नोचेद् वैपरीत्यं प्रसज्येत ॥६५॥

इसके विपरीत 'अभावना' होगी।

अग्नि में जल की, जल में अग्नि की, रोटी में पत्थर की और पत्थर में रोटी की भावना करना मिथ्याज्ञान अर्थात् अन्य में अन्यबुद्धि भ्रमरूप 'अभावना' कहाती है। इसी प्रकार सर्वव्यापक अनन्त ब्रह्म को किसी एक वस्तु में सीमित कर उसी में उसकी भावना करना ऐसा है जैसा किसी चक्रवर्त्ती राजा को सत्ताच्युत कर किसी झोंपड़ी में बन्द कर देना। सृष्टि के कण कण में ईश्वर को व्याप्त जानना ही सच्ची भावना है। ऐसा न मानने से भावना, अभावना में और अभावना, भावना में वदल जायेगी ॥६५॥

लोक में प्रचलित मान्यता है कि श्रद्धापूर्वक भावना करने से फल अवश्य मिलता है। इस भ्रम के निवारणार्थ अगला सूत्र कहा गया है—

नान्यथा भावनाऽनुरूपफलदा ॥६६॥

विपरीत भावना के अनुरूप फल नहीं मिलता।

यदि 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' सत्य हो, तो बालू में शक्कर की भावना करके खाने से मुंह मीठा हो जाये। इसी प्रकार चूने के पानी को मथकर मक्खन, धूल से आटा और मैदा, पत्थर से सोना चांदी, समुद्र फेन से मोती, कंकड़ों से वादाम आदि की प्राप्ति हो जाये। दरिद्र अपने चक्रवर्ती राजा होने, विद्यार्थी अध्यापक होने, संसद् सदस्य अपने मन्त्री होने और चोर अपने सिपाही होने की भावना करके घर बैठे सब कुछ पा जायें। परन्तु ऐसा होता नहीं। भावना मात्र से किसी की वास्तविकता नहीं बदली जा

सकती। जगद्गुरु शंकराचार्य ने ठीक ही लिखा है—'नह्युपाधियोगादप्यन्यादृशस्य वस्तुनोऽन्यादृशः स्वभावः संभवति' अर्थात् उपाधि के योग से भी अन्य प्रकार की वस्तु अन्य प्रकार के स्वभाव वाली नहीं हो सकती। यदि ऐसा होना सम्भव होता, तो भूल से विष को दवाई समझ कर पी जाने वाले रोगी की कभी मृत्यु न होती। मरुस्थल में बालू को जल समझने वाला हिरन दौड़ दौड़ कर जान गंवाने को विवश न होता। अन्य में अन्य की भावना करके यदि सिद्धि हो सकती, तो हम अपने शरीर में रेल की भावना करके बैठे विठाये जहां चाहते वहां पहुंच जाते। अन्धा पुरुष देखने लग जाता। सब प्राणी सदा सुखी रहने और कभी न मरने की भावना करते हैं—इससे कोई कभी न दुःखी होता और न मरता। परन्तु भावना मात्र से ऐसा 'न भूतो न भविष्यति' न कभी हुआ और न होगा। इसी प्रकार ईश्वर की भावना करने पर भी पत्थर, पत्थर ही रहेगा। न उसमें चेतनता आ सकती है, न उससे कभी हमारा हित हो सकता है ॥६६॥

मूर्त्ति में प्राण प्रतिष्ठा अथवा आवाहन की समीक्षा अगले सूत्र में की है—

न प्राणप्रतिष्ठात्वं तत्कर्मणां तत्रादर्शनात् ॥६७॥

प्राणसंचार से होने वाली क्रियाओं के अभाव में प्राणप्रतिष्ठा मिथ्या है।

जड़ पाषाण से निर्मित मूर्त्ति में भगवान् तब आते हैं जब भगवान् का आवाहन करके उसमें प्राणप्रतिष्ठा कर दी जाती है—यह कहना अपने को और सबको धोखा देना है। क्योंकि प्राण आदि के कारण होने वाली कोई क्रिया मूर्त्ति में दिखाई नहीं पड़ती—न वह सांस लेती है, न बोलती है और न खाती पीती है। फिर सर्वव्यापक होने से परमेश्वर पहले ही मूर्त्ति में विद्यमान है। तब उसका आवाहन और विसर्जन कैसा? और यदि मन्त्रबल से इच्छानुसार परमेश्वर का आवाहन कर मूर्त्ति में प्रविष्ट किया जा सकता है और जब चाहें विसर्जन किया जा सकता है, तो अपने प्रिय जनों के मरने पर उनके शरीरों में उनके जीवात्मा को बुला कर प्राणसंचार और इसी प्रकार अपने शत्रुओं के शरीरों से जीवात्मा का विसर्जन क्यों नहीं किया जा सकता? ईश्वरीय नियमों का अन्यथा करने का सामर्थ्य किसी में नहीं है। जो पदार्थ जड़ बनाये गये हैं वह कभी चेतन नहीं हो सकते ॥६७॥

यह कहना भी कि जब परमात्मा सर्वव्यापक होने से मूर्त्ति में भी है तो उसके माध्यम से भी उसका प्रत्यक्ष किया जा सकता है, युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि—

न प्रतिमायां ब्रह्मसान्निध्यं उपासकजीवस्य तत्राभावात् ॥६८॥

मूर्त्ति में व्याप्त ब्रह्म से जीव का सान्निध्य सम्भव नहीं, स्वयं उपासक जीव के वहां न होने से।

दो सत्ताओं में मेल वहीं हो सकता है जहां दोनों विद्यमान हों। सर्वव्यापक होने से मूर्त्ति में परमेश्वर तो है किन्तु एक देशी होने से स्वयं जीव वहां नहीं है। इसलिये मूर्त्ति में ईश्वर से उसका मेल नहीं हो सकता। जीव को परमेश्वर का साक्षात्कार हृदय में ही हो सकता है जहां जीवात्मा और परमात्मा दोनों का वास है ॥६६॥

नेशस्मरणं मानवकृतित्वात्तस्याः ॥६९॥

मनुष्य द्वारा निर्मित होने से मूर्ति को देखकर ईश्वर का स्मरण नहीं हो सकता।

किसी चित्र अथवा मूर्ति को देखकर उसके रचयिता का ध्यान आता है, जिसने अपनी कृति के माध्यम से सृष्टि में उपलब्ध किसी एक पदार्थ का सादृश्य उपस्थित किया है। यदि कलाकार द्वारा निर्मित एक मूर्ति के दर्शन मात्र से परमेश्वर का स्मरण हो सकता है तो स्वयं उसके बनाये ब्रह्माण्ड और रचना-कौशल को देखकर उसका स्मरण क्यों नहीं होना चाहिये? क्या ऐसी अद्भुत रचना युक्त पृथिवी पहाड़ आदि परमेश्वर रचित महामूर्तियां कि जिन पहाड़ आदि से मनुष्यकृत मूर्तियाँ बनती हैं परमेश्वर का स्मरण नहीं करा सकतीं? यह कहना भी कि मूर्ति को देखने से उसमें व्याप्त परमेश्वर की महिमा का ज्ञान होता है, सर्वथा निराधार है। व्याप्त को देख कर व्यापक का ज्ञान चर्मचक्षुओं से नहीं हो सकता। इसके लिए ज्ञानचक्षुओं की आवश्यकता है। यह तभी संभव हैं जब हमारी वृत्तियां अन्तर्मुखी हों। मूर्तिपूजा से हमारी समस्त वृत्तियां बहिर्मुख होती हैं। इसलिये उसके द्वारा ईश्वर का बोध कभी नहीं हो सकता ॥६९॥

साकार में मन के स्थिर होने की मिथ्या धारणा का निराकरण करते हुए कहा है—

परमात्मन्येव मनःस्थैर्यं अविषयत्वात्तस्य ॥७०॥

परमात्मा में ही मनः स्थैर्य सम्भव है, उसके निर्विषय होने से।

ध्यान का लक्षण करते हुए सांख्यदर्शन में कहा है—'ध्यानं निर्विषयं मनः।' जिसमें मन निर्विषय हो जाये उसी का नाम ध्यान है। जब तक मन शब्द-स्पर्श रूप-रस-गन्ध में लीन है तब तक वह ध्यान की स्थिति में नहीं आ सकता। 'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः' (गीता २-६०) प्रबल इन्द्रियां बलात् मन को अपने विषयों की ओर खींच ले जाती है। मूर्ति के सावयव होने से उसके सामने जाने पर मन उसी के एक-एक अवयव में घूमता फिरेगा। नैवेद्य, पुष्प, धूप, वस्त्र आदि से युक्त होने से मूर्ति में रस, गन्ध, रूप आदि विषय पूरे दलबल के साथ उपस्थित होंगे। ऐसी अवस्था में वह मन को एकाग्र करने का साधन कैसे हो सकती है? साकार पदार्थ में मन स्थिर हो सकता

तो सबका मन स्थिर होता क्योंकि समस्त संसार ही साकार है। वस्तुतः ज्यों-ज्यों मनुष्य सांसारिक पदार्थों में लिप्त अथवा अनुरक्त होता है त्यों-त्यों उसके मन की चंचलता बढ़ती जाती है। केवल निरवयव परमात्मा में लगने पर ही मन स्थिर हो पाता है ॥७०॥

क्या मूर्तिपूजा से मनुष्य का विकास सम्भव है—इसका उत्तर देते हुए कहा है—

न जडपूजया ज्ञानवर्द्धनम् ॥७१॥

जड़ की पूजा से ज्ञान नहीं बढ़ता।

जड़ की पूजा (संगति, सान्निध्य) से मनुष्य का ज्ञान नहीं बढ़ता। किन्तु जो होता है वह भी नष्ट हो जाता है। मूर्तिपूजा करते-करते कोई ज्ञानी नहीं हुआ। यही कारण है कि एक मूर्तिपूजक सदा मूर्तिपूजक ही बना रहता है जबकि अष्टांग योग के द्वारा वह मोक्ष प्राप्त कर लेता है ॥७१॥

यदि कोई ज्ञान बढ़ाना चाहता है तो यह—

ज्ञानिनां सङ्गेनैव ॥७२॥

ज्ञानी पुरुषों की संगति से ही हो सकता है।

चेतन प्राणिमात्र की निष्काम सेवा, विद्वान् आप्त पुरुषों की पूजा (आदर-सत्कार व सत्संग) एवं यमनियमादि के पालन से ही मनुष्य उन्नति की सीढ़ियां चढ़कर ऊपर पहुंच सकता है। इसीलिये वेद में प्रार्थना की गई है—'देवानां सख्यमुपसेदिमा वयम्' (यजु. २५-१५) हमें देवों (विद्वानों) की मैत्री और उपासना करनी चाहिये। सज्जन पुरुषों की संगति का महत्त्व निम्नांकित श्लोक में द्रष्टव्य है—

> सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत् त्यक्तुं न शक्यते।
> स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम् ॥

सज्जन पुरुषों का संग सर्व रोगों की सर्वोत्तम ओषधि है ॥७२॥

क्या परमेश्वर का बार-बार नाम लेने से कुछ लाभ होता है?

न नामस्मरणमात्रमुपादेयम् ॥७३॥

नाम-स्मरण मात्र का कोई लाभ नहीं हैं।

जैसे मिसरी-मिसरी कहने से मुँह मीठा और नीम-नीम कहने से कड़ुवा नहीं होता। चाखने से ही मीठा या कड़ुवा होता है। ऐसे ही वाणी से नामस्मरण-मात्र से कुछ फल नहीं मिलता ॥७३॥

नामस्मरण की वेदोक्त रीति बताते हैं—

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥७४॥

उसके अर्थ की भावना करना ही उसका जप है।

ईश्वर के मुख्य नाम 'ओ३म्' का जप और उसके वाच्य ईश्वर के स्वरूप का बार-बार चिन्तन करना ही वास्तविक जप अथवा नामस्मरण है। जैसे 'न्यायकारी' ईश्वर का एक नाम है। पक्षपात रहित होकर परमात्मा सबका यथावत् पालन करता है। इसीलिये वह न्यायकारी कहाता है। इस भाव को ग्रहण कर सदा न्याययुक्त व्यवहार में प्रवृत्त रहना—किसी के भी साथ कभी अन्याय न करना—ही ईश्वर को 'न्यायकारी' नाम से स्मरण करना है ॥७४॥

'पञ्चायतनपूजा' अथवा 'पञ्चदेवपूजा', जो प्राचीन परम्परा से चली आती है, उस का प्रतिपादन करते हुए कहा है—

वेदोक्ता पञ्चायतनपूजा ॥७५॥

पंचायतन पूजा वेदोक्त है।

पांच मूर्तिमान् देवों की पूजा अर्थात् तन-मन-धन से इनका सेवा सत्कार करना वेदोक्त है। क्योंकि इनके संग से मनुष्यों के देह की उत्पत्ति, उनका पालन, सत्य शिक्षा और सत्योपदेश की प्राप्ति होती है। ये ही परमेश्वर को प्राप्त करने की सीढ़ियाँ हैं। मातादि मूर्तिमानों की सेवा में ही कल्याण है। साक्षात् माता आदि प्रत्यक्ष सुखदायक 'देवों' को छोड़कर, 'अदेव' पाषाणादि में सिर मारना उचित नहीं है ॥७५॥

मातृपित्राचार्यातिथयः भार्यायाः भर्त्ता भर्त्तुश्च भार्येति मूर्त्तिमन्तो देवाः ॥७६॥

माता, पिता, आचार्य, अतिथि, स्त्री के लिए पति और पुरुष के लिये पत्नी—ये पांच मूर्तिमान् देव हैं। इनकी पूजा ही सच्ची पंचायतन और वेदानुकूल देवपूजा और मूर्तिपूजा है ॥७६॥

न तु शिवादिमूर्त्तयः ॥७७॥

किन्तु शिवादि की मूर्त्ति नहीं।

शिव, विष्णु, अम्बिका, गणेश और सूर्य की मूर्तियां बनाकर धूप-नैवेद्य आदि से उनकी पूजा करना पंचायतन पूजा नहीं है। इन्हें देव नहीं मानना चाहिये ॥७७॥

अब ईश्वर को अनेक नामों से पुकारे जाने की समीक्षा करते हैं—

तस्य वाचकः प्रणवः ॥७८॥

ईश्वर का वाचक मुख्य नाम 'ओ३म्' है।

प्रणव अर्थात् 'ओ३म्' जगन्नियन्ता, सर्वेश्वर और सच्चिदानन्दस्वरूप प्रभु का अपना नाम है। इसलिये 'ओ३म्' के साथ उसका नित्य सम्बन्ध है। यही उसका सर्वोत्तम नाम है क्योंकि इसमें अ उ और म् तीन अक्षर मिल कर एक 'ओम्' समुदाय हुआ है। इस एक नाम में परमेश्वर के बहुत नाम आ जाते हैं। जैसे—अकार से विराट्, अग्नि और विश्वादि, उकार से हिरण्यगर्भ, वायु और तेजस् आदि; मकार से ईश्वर, आदित्य और प्राज्ञादि।

यह भाव माण्डूक्योपनिषद् के निम्न सदर्भ का सार जान पड़ता है—

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा
अकार उकारो मकार इति ॥८॥
जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्वाद्वाप्नोति
ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥९॥
स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति
ह वै समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥१०॥
सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति
ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥११॥

यह आत्मा अक्षर में अधिष्ठित है, यह अक्षर ओङ्कार है और वह ओङ्कार मात्राओं में अधिष्ठित है। पाद मात्रा और मात्रा पाद हैं और वे मात्रा अकार, उकार व मकार हैं ॥८॥

ब्रह्म का पहला पाद जाग्रत् स्थानी 'वैश्वानर' है और ओङ्कार की पहली मात्रा 'अकार' है जो सबमें व्याप्त है और सबसे पहला है। जो उसे इस प्रकार जानता है वह सब कामनाओं को प्राप्त करता है ॥९॥

ब्रह्म का दूसरा पाद स्वप्न स्थानी 'तैजस्' नाम वाला है। वही ओंकार की दूसरी मात्रा 'उकार' है जो दोनों के मध्य में है। जो उसे इस प्रकार जानता है उसका उत्कर्ष होता है। वह अपने कुल में ज्ञान का विस्तार कर समान स्थिति को प्राप्त करता है। उसके कुल में कोई अब्रह्मवित् अर्थात् ब्रह्म को न जानने वाला नहीं होता ॥१०॥

ब्रह्म का तीसरा पाद सुषुप्तस्थान वाला 'प्राज्ञ' है। वही ओंकार की तीसरी मात्रा है जो कोई इसे मान और दोनों (पाद व मात्रा) के एकीभाव को लक्ष्य में रखकर उपासना करता है वह सारे विश्व को माप लेता है—उसकी थाह पा लेता है और आत्ममय हो जाता है ॥११॥

यजुर्वेद के अध्याय २ मन्त्र १२ में जीवात्मा को परमेश्वर की उपासना की प्रेरणा करते हुए कहा गया—'ओ३म् प्रतिष्ठ' अर्थात् ओ३म् में स्थिति कर। अन्तिम समय में भी प्रभु का स्मरण करने का उपदेश देते हुए कहा गया—'ओ३म् स्मर' (यजु. ४०-१५) अर्थात् ओ३म् को स्मरण कर। पुनः यजुर्वेद अध्याय ४० मन्त्र १७ में कहा—'ओ३म् खंब्रह्म' अर्थात् ओ३म् आकाशवत्

व्यापक होने से 'खम्' और सबसे बड़ा होने से 'ब्रह्म' है। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के तीसरे सूक्त के सातवें मन्त्र के अन्तर्गत 'ओमास:' पद द्रष्टव्य है जो सन्धिच्छेद होने पर 'ओम्+आस:' बन जाता है। इस प्रकार 'ओमास:' का अर्थ ब्रह्म के पास बैठने वाला अथवा ब्रह्मज्ञानी है।

मनुस्मृति में 'अ उ म्' से मिल कर बने 'ओ३म्' का विश्लेषण करते हुए कहा गया—'अकारञ्चाप्युकारञ्च मकारञ्च प्रजापतिः। वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरिनीति च ॥ (२-७६)

अर्थात् प्रजापति ने, जिस प्रकार दूध से मक्खन निकाला जाता है, अकार, उकार और मकार को ऋग्-यजुः—साम रूपी दूध से मक्खन के रूप में निकाल लिया—साथ ही भूः, भुवः और स्वः इन तीन महाव्याहृतियों को भी।

'ओ३म्' के महत्व के विषय में ऐतरेय ब्राह्मण में भी मनुस्मृति के उपर्युक्त कथन से मिलती-जुलती बात कही गई है—

तान् वेदानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त, भूरित्येव ऋग्वेदादजायत्, भुवरितियजुर्वेदात्स्वरिति सामवेदात्। तानि शुक्राण्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति तानेकधा समभरत्तदो३मिति। ऐत. ५-३२

वेदों को तपाया, उन तपाये गये वेदों से तीन शुक्र उत्पन्न हुए—ऋग्वेद से भूः, यजुर्वेद से भुवः, सामवेद से स्वः। फिर उन तीनों शुक्रों को तपाया गया, उन तपाये हुओं से तीन वर्ण उत्पन्न हुए—अकार, उकार और मकार। इन तीनों को इकट्ठा किया गया तब 'ओ३म्' बना। तात्पर्य यह कि ओ३म् ही वेदों का सार है। वही वेदों का मुख्य विषय है। इसीलिये माण्डूक्योपनिषद् १ में कहा है—'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम्' अर्थात् एक ओम् ही अविनाशी है, शेष सम्पूर्ण जगत् उसी का विस्तार है। वाचक (नाम) और वाच्य (नामी) में अभेद होता है इसलिये ओम् के विस्तार होने का अर्थ है कि समस्त ब्रह्माण्ड ईश्वर की रचना होने से उसके कतिपय गुणों का प्रदर्शन मात्र है।

स्वामी शकराचार्य ने माण्डूक्योपनिषत्कारिका के नाम से विष्णुसहस्रनाम के भाष्य में लिखा है—

प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदये स्थितम्।
सर्वव्यापिनमोंकारं मत्वा धीरो न शोचति ॥

मनुष्य ओम् को सबके हृदय में रहने वाला ईश्वर ही जाने।
उस सर्वव्यापी का मनन करके बुद्धिमान् शोकादि में नहीं पड़ता।

ओंकार की महिमा का बखान करते हुए गोपथ ब्राह्मण में कहा है—'यो ह वा एतदोङ्कारं न वेद न वशः स्यादिति। अथ य एवं वेद ब्रह्मवशः स्यादिति' (गोपथ प्र. १ ब्रा. २९) अर्थात् जो ओंकार को नहीं जानता वह वेद के वश में

नहीं होता और जो उसे जानता है वह ब्रह्म (ईश्वर व वेद दोनों) के वश में होता अर्थात् दोनों को जानता है।

छान्दोग्योपनिषद् में आलंकारिक रूप में ओंकार का विवेचन इस प्रकार किया गया है—

'एषां भूतानां पृथिवी रसः, पृथिव्या आपो रसः, अपामोषधयो रसः, ओषधीनां पुरुषो रसः, पुरुषस्य वाग्रसः, वाच ऋग्रसः, ऋचः साम रसः, साम्न उद्गीथो रसः' (१-१-२) 'य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथः' (१-५-१) 'ओमित्येदक्षरमुद्गीथमुपासीत' (१-१-१)।

पांच भूतों का रस पृथिवी है, पृथिवी का जल रस, जल का रस ओषधि, ओषधियों का रस पुरुष, पुरूष का रस वाणी, वाणी का रस ऋचायें, ऋचाओं का रस साम और साम का रस उद्गीथ है। जो उद्गीथ (उच्च स्वर से गाने से) है वही प्रणव (ओ३म्) है और जो प्रणव है वही उद्गीथ है। इसलिये ओम् नाम वाले अविनाशी उद्गीथ की ही उपासना करनी चाहिये।

शिवि के पुत्र सत्यकाम ने जब महर्षि पिप्पलाद से पूछा—
'हे भगवन् ! जो व्यक्ति जीवन भर ओंकार की उपासना करता है उसे किस लोक का अधिष्ठातृत्व पद प्राप्त होता है ?' महर्षि पिप्पलाद बोले—

स यद्येकमात्रमभिध्यायति स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत् सम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्त्तते ॥

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायति स तेजसि सूर्ये संपन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै पाप्मना विनिर्मुक्तःस सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते। तदेतौ श्लोकौ भवतः—

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योऽन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥
ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते।
तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥

(प्रश्नोपनिषद् पंचम प्रश्न ३-७)

जो प्रभु भक्त ओङ्कार की एक मात्रा 'अ' का अभिध्यान करता है अर्थात् ओंकार में थोड़ा सा भी चित्त लगाता है वह उतने से ही सचेत हो जाता है। उसका आत्मा जाग उठता है और वह संसार में बड़ी जल्दी समस्त सुख-सामग्री का संचय कर लेता है। ओंकार की एक मात्रा का ध्यान ऋग्वेद का ज्ञान है।

ऋक् ज्ञान उसे मनुष्य लोक में ले जाता है जहां वह तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से युक्त होकर परमात्मा की महिमा का अनुभव करता है।

यदि भक्त ओंकार की दो मात्राओं 'अ' 'उ' का ध्यान करता है अर्थात् उसमें और अधिक चित्त लगाता है तो वह उससे मानसिक जगत् की सम्पूर्ण सुखशान्ति का सम्पादन कर लेता है। द्विमात्र का ध्यान मानों ऋक् के साथ-साथ यजुर्वेद का भी ध्यान है और अन्तरिक्ष लोक में पहुंच जाता है। वहां वह सोमलोक में मन सम्बन्धी समस्त सुखदायिनी सामग्री से उत्पन्न आनन्द का अनुभव करके फिर यहां लौट आता है।

और जो मनुष्य ओंकार की तीनों मात्राओं 'अ' 'उ' 'म्' से अर्थात् अनन्य-भाव से परम पुरूष ब्रह्म का ध्यान करता है उसमें तेज उत्पन्न हो जाता है, वह सूर्य के समान तेज का सम्पादन कर लेता है। जैसे सांप केंचुली को छोड़ देता है वैसे ही वह पाप को छोड़ देता है। वह सामवेद से ब्रह्मलोक में जा पहुंचता है। तव वह जीव के शरीर से परे से परे सूक्ष्मातिसूक्ष्म, सृष्टि में व्याप्त परम पुरुष को देख लेता है। इस विषय में ये दो श्लोक भी प्रमाण हैं—

ओंकार की तीनों मात्राओं से युक्त ज्ञानी मनुष्य जब अनन्य भाव से परमेश्वर के ध्यान में अवस्थित होता है तो बाह्य, आभ्यन्तर और मध्यम क्रियाओं में ठीक-ठीक प्रयोग से अपने मार्ग से विचलित नहीं होता और मृत्यु को जीत लेता है।

इसीलिये तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा है—'ओमिति ब्रह्म, ओमितीदं सर्वम्' अर्थात् ओ३म ही ब्रह्म है, ओ३म ही सब कुछ हैं।

मुण्डकोपनिषद् में आता है—

प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥२-२-४

ओ३म् नाम के धनुष पर आत्मा रूपी वाण को चढ़ाकर, आलस्य और प्रमाद को त्यागकर, तन्मय हो ब्रह्म को लक्ष्य कर वेधे। तब, जैसे शर लक्ष्यमय हो जाता है वैसे ही आत्मा ब्रह्ममय हो जायेगा।

कठोपनिषद् में लिखा है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥२-१५, १६

सब वेद जिस पद का वार-वार वर्णन करते हैं, सब तप जिसको पुकारते हैं जिसको चाहते हुए लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं उस पद को मैं तुझे संक्षेप में कहता हूं—'वह ओ३म् है'।

ओ३म् ही अविनाशी ब्रह्म है, यही सबसे महान है। इस अक्षर को जान

लेने वाला जो कुछ चाहता है प्राप्त कर लेता है। इसी भाव को गीता में इन शब्दों से दुहराया गया है।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये॥ ८-११

प्रत्येक कार्य का अनुष्ठान ओ३म् के उच्चारण से करने का आदेश देते हुए गीता (१७-२४) में कहा गया है—

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥

ब्रह्मवादियों की शास्त्रोक्त क्रियायें—यज्ञ, दान व तप ओ३म् शब्द के उच्चारणपूर्वक ही हुआ करती हैं।

इस श्लोक का भाष्य करते हुए रामानुजाचार्य ने लिखा—

'ब्रह्मवादिनां वेदवादिनां यज्ञदानतपःक्रिया विधानोक्ताः आदौ 'ओ३म्' इति उदाहृत्य सततं सदा प्रवर्त्तन्ते।'

'ओमभ्यादाने' (अष्टाध्यायी ८-२-२७) के नियम से यज्ञ में मन्त्रों का उच्चारण करते समय मन्त्र के आरम्भ में 'ओ३म्' जोड़ दिया जाता है। 'प्रणवष्टेः' (८-२-८९) के नियम से मन्त्र के 'टि' की जगह 'ओम्' आदेश हो जाता है और 'अचोऽन्त्यादि टि' (१-१-६४) के नियम से अचों के मध्य में अन्त का अच् है वह जिसके आदि में हो उसकी 'टि' संज्ञा होती है। वेद की प्रतीक 'अपां रेतांसि जिन्वति' का उच्चारण 'अपां रेतांसि जिन्वतोम्' होगा।

यजुर्वेद (४०-१७) के 'ओ३म् स्मर' का अनुमोदन करते हुए भगवान् कृष्ण गीता (८-१३) में कहते हैं—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

मरते समय परमात्मा का स्मरण करते हुए जो मनुष्य 'ओ३म्' का उच्चारण करता है वह परम गति मोक्ष को प्राप्त करता है। उपर्युक्त समस्त शास्त्रीय प्रमाणों से परमात्मा का निज तथा सर्वोत्तम नाम होने से ओ३म् के साथ उसका नित्य सम्बन्ध सिद्ध है॥७८॥

नैमित्तिकान्यन्यानि ॥७९॥

अन्य नाम नैमित्तिक हैं।

ईश्वर के अनेक नाम हैं। किन्तु 'ओ३म्' के अतिरिक्त शेष सभी गौणिक-गुणनिमित्तक (जैसे जगत् में व्याप्त होने से 'विष्णु') कार्मिक-कर्मनिमित्तक (जैसे दुष्टों को दण्ड देकर रुलाने से 'रुद्र') तथा स्वाभाविक-स्वभावनिमित्तक (जैसे सबको आनन्द देने वाला होने से 'चन्द्र') अर्थों के वाचक हैं। इसी प्रकार कल्याणकारी होने से 'शिव', सबसे बड़ा होने से 'ब्रह्मा', अक्षरादि जड़ और

जीवों की गणना करने वालों का स्वामी होने से 'गणेश' जल और जीवों (नारा) में निवास करने से 'नारायण', सर्वैश्वर्यवान् होने से 'ईश्वर', ईश्वरों अर्थात् समर्थों में सर्वाधिक समर्थ होने से 'परमेश्वर', सब जीवों का अन्तर्यामी आत्मा होने से 'परमात्मा' सबका आच्छादन (कुवि आच्छादने) करने से 'कुवेर', उत्पत्ति और प्रलय से बचा रहने से 'शेष' सुखकारी होने से 'शंकर', अखिल ऐश्वर्ययुक्त होने से 'इन्द्र', देवों अर्थात् विद्वानों का भी विद्वान् और सूर्यादि पदार्थों का प्रकाशक होने से 'महादेव' कहाता है। जैसे परमेश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव अनन्त हैं वैसे ही उसके नाम भी अनन्त हैं। वेदादि शास्त्रों में परमात्मा के असंख्य गुण-कर्म-स्वभाव व्याख्यात हैं। उनमें से प्रत्येक गुण-कर्म और स्वभाव का एक-एक नाम है ॥७९॥

एकं सद् बहुधोक्तम् ॥८०॥

एक होते हुए भी उस सत्य रूप ब्रह्म को अनेकशः पुकारा जाता है।

परमेश्वर अद्वैत अर्थात् अद्वितीय है—अथर्ववेद (१३-४) में इसकी स्पष्ट घोषणा करते हुए कहा गया है—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते। नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। स एष एक एकवृदेक एव (१६-२०)

अर्थात् न वह दूसरा है न तीसरा, न चौथा, न पांचवा, न छठा, न सातवां न आठवां, न नवां और न दसवां—वह तो एक ही है, सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्य वह एक ही है।

इसी प्रकार ऋग्वेद में भी उसके अद्वितीय होने का उल्लेख करते हुए कहा गया है—'न त्वदन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते' (ऋक् ७-३२-२३) अर्थात् हे भगवन्! तुझ जैसा न कोई दिव्य है और न कोई पार्थिव; न कोई हुआ है और न कभी होगा।

किन्तु एक होने पर भी प्रकरणान्तर्गत उसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। इसमें ऋग्वेद (१-१६४-४६) की साक्षी है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

एक सत्यरूप ब्रह्म को विद्वान् लोग इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा आदि अनेक नामों से पुकारते हैं।

यजुर्वेद (३२-१) भी इसमें प्रमाण हैं—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥

वह पूर्ण पुरुष ब्रह्म, अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, अप् तथा प्रजापति है।

ऐतरेय ब्राह्मण (२-४१) के अनुसार भी 'चन्द्रमा वै ब्रह्म' ब्रह्म का नाम ही चन्द्रमा है।

मैत्रायण्युपनिषद् (६-८) में कहा है—

एष हि खल्वात्मेशानः शम्भुर्भवो रुद्रः प्रजापतिर्विश्वसृड् हिरण्यगर्भः सत्यं प्राणो हंसः शान्तो विष्णुर्नारायणोऽर्कः सविता धाता सम्राडिन्द्र इन्दुरिति।

यह परमात्मा ही ईशान, शम्भु, भव, रुद्र, प्रजापति, विश्वसृट्, हिरण्यगर्भ, सत्य, प्राण, हंस, शान्त, विष्णु, नारायण, अर्क, सविता, धाता, सम्राट्, इन्द्र और इन्दु है।

'सूर्यशतनाम' में भी 'इन्द्रो विवस्वान् दीप्तांशुः शुचिः सौरिः शनैश्चरः' कह कर इन्द्र, विवस्वान्, दीप्तांशु, शुचिः, सौरि तथा शनैश्चर पदों से परमात्मा का उल्लेख किया है।

कठोपनिषद् (५-८) के अनुसार भी 'तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते' वही शुक्र, वही ब्रह्म और वही अमृत कहाता है।

कैवल्य उपनिषद् (५-८) में भी आया है—

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्स शिवस्सोऽक्षरस्स परमः स्वराट्।
स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः॥

वही ब्रह्मा है, वही विष्णु, रुद्र, शिव, अक्षर, परम और स्वराट् है। वही इन्द्र, कालाग्नि और चन्द्रमा है।

विष्णुधर्मोत्तर पुराण (३-१२३-१३) ने भी अन्त में कह डाला—

'सर्वाण्येतानि नामानि परस्य ब्रह्मणः' अर्थात् ये सब नाम परब्रह्म के हैं।

———

तृतीय अध्याय

जीवात्मा

पाञ्चभौतिको देहः ॥१॥

शरीर पांच भूतों से बना है।

स्थूल देह पांच भूतों से मिलकर बना है। भीतरी बाहरी मुख्य भाग पृथिवी तत्वों से बना है। समस्त रक्त तथा अन्य धातुओं एवं अवयवों का संश्लेषण जलीय तत्वों से बना है। इसी प्रकार पाचन संस्थान तथा जीवनोपयोगी ऊष्मा अग्नितत्वों से, समस्त प्राण एवं रक्त तथा अन्य धातुओं व मलों का देह में संचरण वायुतत्वों से और बाहर भीतर समस्त अवकाश प्रदान आकाश तत्वों से बने हैं। इस प्रकार स्थूल देह पंचभूतों का संघात है ॥१॥

किन्तु पंचभूतों के संघात से चैतन्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती—इसका कारण अगले सूत्र में बताया है—

न सांहत्येऽपि भूतचैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः ॥२॥

प्रत्येक में न देखे जाने से संघात में भी भूतों का चेतन होना संभव नहीं।

भूतों का विश्लेषण करने पर किसी भी मूलभूत तत्त्व में चेतन की प्रतीति नहीं होती। भूतों का मूल उपादान तत्त्व सर्वथा जड़ है। जब उनमें प्रत्येक में चैतन्य का अभाव है तो उनके संघात में चैतन्य कहां से आ जायेगा? जो है ही नहीं वह व्यक्त कैसे होगा? तिल के एक दाने में तेल है तो इन दानों के संघात से तेल की धार बह निकलेगी। बालू के एक कण में भी तेल नहीं तो बालू के ढेर में से भी उसकी एक बूंद न टपकेगी। इससे स्पष्ट है कि चेतना इनसे सर्वथा भिन्न है ॥२॥

प्रतिपक्षी इसके विरुद्ध तर्क उपस्थित करता है—

भूतसंयोगेन चैतन्योत्पत्तिर्मदवत् ॥३॥

भूतों के मिलने से चैतन्य की उत्पत्ति सम्भव है, मद की तरह।

जिन अनेक द्रव्यों के मेल से मद की उत्पत्ति होती है उनमें से किसी में भी पृथक् रूप में मादकता की प्रतीति नहीं होती। फिर भी सबके मेल से तैयार घोल में मादकता आ जाती है। वैसे ही जड़ मूल तत्त्वों के संयोग से चैतन्य की उत्पत्ति सम्भव है ॥३॥

इस तर्क की समीक्षा अगले सूत्र में की गई है—

प्रत्येकपरिदृष्टेः सौक्ष्म्यात् सांहत्ये तदुद्भवः ॥४॥

सूक्ष्म रूप से देखने पर प्रत्येक द्रव्य में मादकता की प्रतीति होने से ही उनके घोल में मादकता आती है ।

वैज्ञानिक आधार पर विश्लेषण करने पर स्पष्ट हो जाएगा कि मद्य को तैयार करने में प्रयुक्त होने वाले प्रत्येक पदार्थ में मादकता का अंश है । इसी कारण उनके सांहत्य में मादकता उत्पन्न हो जाती है । यदि द्रव्यों में मादकता नहीं है तो उनके संघात से मादकता की जगह कुछ और उत्पन्न क्यों नहीं हो जाता ? अथवा मद्य बनाने में द्रव्य विशेष का ही प्रयोग क्यों किया जाता है ? मादक घोल के प्रत्येक द्रव्य में मादकता के अंश की तरह जगत् के मूल तत्वों में किसी भी रूप में चेतना का अंश नहीं पाया जाता । इसलिए इन तत्वों के संघात से भी चेतना नहीं आ सकती । इस विषय में ज्ञातव्य है कि वस्तुतः मद्य में मद उत्पन्न नहीं होता । मद तो मद्य के पीने से चेतन को होता है । मद में कारण होने से ही मद्य को 'मद्य' कहते हैं । मद्य की व्युत्पत्ति है–'मदे साधु मद्यम्' (अष्टा ४।४-९८ तत्र साधुः सूत्र) ॥४॥

इस पर प्रतिपक्षी आपत्ति प्रस्तुत करता है—

तच्चैतन्यविशिष्टदेह एव आत्मा देहातिरिक्ते आत्मनि प्रमाणाभावात् ॥५॥

चैतन्ययुक्त शरीर ही आत्मा है, क्योंकि मरे पीछे जीव प्रत्यक्ष नहीं होता ॥॥५॥

इसके निराकरण के लिए कहा—

पदार्थनामदर्शनं न त्वभावः ॥६॥

पदार्थ अदृष्ट होते हैं, उनका अभाव नहीं होता ।

किसी पदार्थ के न दीखने से उसे नष्ट हुआ नहीं मानना चाहिये । 'नष्ट' शब्द 'णश्-नश्' (णश् अदर्शने-धातुपाठ ४-८३) धातु से निष्पन्न हुआ है । अतः इसका अर्थ 'अदर्शन' है । पाणिनि के अनुसार 'अदर्शनं लोपः' अदर्शन ही लोप कहाता है । सिद्धान्त भी यही है कि 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' (गीता २-१६) अर्थात् असत् का भाव और सत् का अभाव नहीं हो सकता । इसलिए अदृश्य होने से जीव का अभाव नहीं माना जा सकता । यदि पांचभौतिक देह को आत्मा मान लिया जाये तो मरण आदि अवस्थाओं का भी अभाव हो जाना चाहिए । देह में चेतन का रहना या चेतन द्वारा शरीर को छोड़कर चले जाना ही मृत्यु है । यदि समस्त देह स्वतः चेतन है तो किसी के छोड़कर चले जाने का प्रश्न ही नहीं रहता । पर यह सब प्रत्यक्ष के विरुद्ध है । जहां तक आत्मा के प्रत्यक्ष न होने का सम्बन्ध है, यह स्मरण रखना चाहिए कि प्रत्यक्ष गुणों का होता है और गुण-गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से

गुणों के द्वारा ही गुणी का प्रत्यक्ष होता है। जब जीवात्मा सदेह होता है तभी उसकी अभिव्यक्ति होती है। यह अभिव्यक्ति ही उसका प्रत्यक्ष है ॥६॥

जीवात्मा के गुणों द्वारा प्रत्यक्ष होने में अन्य युक्ति देते हैं।

उत्क्रान्ते जीवात्मनि ज्ञानाद्यभावात् ॥७॥

जीवात्मा के निकल जाने पर ज्ञानादि का अभाव हो जाता है।

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, और ज्ञान आत्मा के लिंग हैं। इसलिये जब तक शरीर में जीवात्मा रहता है तब तक ये सब प्रत्यक्ष रहते हैं। जीवात्मा के शरीर से निकलते ही, शरीर के ज्यों के त्यों रहते हुए भी, इन सब का अभाव हो जाता है। इसी से जीवात्मा का प्रत्यक्ष है। यदि देह से भिन्न कुछ अन्य न हो तो देह के रहते ज्ञानादि का अभाव कभी न हो। अतः जिसके संयोग से चेतनता और वियोग से जड़ता आती है वही जीवात्मा है ॥७॥

यह शरीर से भिन्न है—इसमें एक और हेतु देते हैं।

व्यवहारस्वातन्त्र्यात् ॥८॥

व्यवहार की स्वतन्त्रता के कारण।

वातावरण से प्राप्त होने वाले उत्तेजकों के प्रत्युत्तर में शरीर तुरन्त प्रतिक्रिया करता है। व्यवहारवाद के सिद्धांत के अनुसार यह प्रतिक्रिया सदा एक सी होनी चाहिये और सभी प्राणियों में एक समान होनी चाहिये। किन्तु व्यवहार में इसे भिन्न रूप में देखा जाता है। एक व्यक्ति एक गाल पर थप्पड़ खाकर दूसरा गाल मारने वाले के सामने कर देता है, दूसरा चुपचाप चला जाता है और तीसरा बदले में एक की जगह दो मार देता है। एक आदमी सामने भेड़िया देखकर भाग खड़ा होता है तो दूसरा लाठी लेकर लड़ने को तैयार हो जाता है। इसी प्रकार अत्यधिक कष्ट में जब एक मनुष्य भगवान् को कोसने लगता है, दूसरा उसे प्रभु की इच्छा मानकर प्रसन्नवदन कहता है–ईश्वर तेरी इच्छा पूर्ण हो। तात्पर्य यह, कि मनुष्य किसी उत्तेजक के प्रत्युत्तर में किसी निश्चित प्रतिक्रिया से बंधा नहीं है, वरन् अनेक प्रकार की प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति में स्वतन्त्र है। यदि पांचभौतिक शरीर से भिन्न कोई चेतन सत्ता न हो, तो मानवीय क्रियायें यंत्रवत् सदा सब में एक जैसी हों। वस्तुतः प्राणी की बौद्धिक प्रतिक्रियायें किसी ऐसे जड़ पदार्थ का गुण नहीं हो सकतीं, जो शरीर में स्नायु मण्डल को बनाता है ॥८॥

इसलिये—

शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान् वैशिष्ट्यात् ॥९॥

विशेषता के कारण जीवात्मा शरीरादि से भिन्न है।

देहादि समस्त पदार्थ परिणामी, जड़ एवं नश्वर हैं परन्तु जीवात्मा नित्य, चेतन तथा अपरिणामी हैं। देहादि पदार्थ भोग्य अथवा भोग का साधन हैं। पर आत्मा स्वयं भोक्ता है। शरीर का परिणामी और आत्मा का अपरिणामी होना हम हर समय अनुभव करते हैं। शरीर के परमाणु प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। बुढ़ापे अथवा मृत्यु तक पहुंचते-पहुंचते शरीर विल्कुल वदल जाता है। फिर भी हम कहते हैं कि यह वही व्यक्ति है जो कभी बालक था। हम समझते हैं कि इस नित्य बदलते शरीर में कुछ ऐसा है जो किंचित् नहीं बदलता। कभी-कभी हम यह भी अनुभव करते हैं कि इस शरीर में स्वेच्छा से नहीं आये, अपितु किसी ने हमें वलात् बन्दी वना दिया है। शरीर से अपने को भिन्न मानकर ही कभी-कभी हम इसमें से निकल भागना चाहते हैं। आत्म-हत्या के लिये उद्यत हो जाना इसी भावना का परिणाम है ॥९॥

आत्मा देहादि संघात से भिन्न है—इसे सिद्ध करने के लिए अगले सूत्रों में कुछ अन्य हेतु प्रस्तुत किये गये हैं—

शरीरदाहे पातकाभावात् ॥१०॥

शरीर के जलाये जाने पर पाप के अभाव से।

शरीर-देह से भिन्न आत्मा न हो तो मृत देह को जलाने में भी पाप होना चाहिये। हम देखते हैं कि जिस प्रकार जीवित देह को जलाने वाले को अपराधी मानकर दण्ड दिया जाता है वैसे मृत देह को जलाने वाले को नहीं। क्योंकि यह माना जाता है कि मरने के बाद तो मिट्टी रह जाती है और तव उसे सुख दुःख की अनुभूति नहीं हो सकती। इसलिये अब उसे जलाने में कोई दोष नहीं है। स्पष्ट है कि चेतन (जीवात्मा से संयुक्त) देह को जलाना पाप है, जड़ को जलाना निर्दोष है ॥१०॥

पापपुण्ययोर्विनाशाभावात् ॥११॥

पाप-पुण्य का नाश न होने से (शरीर के जल जाने पर)।

यदि देहादि संघात को आत्मा माना जाये तो उसके न रहने पर पाप और पुण्य भी न रहेंगे। क्योंकि जिस शरीर ने पाप-पुण्य किये थे वह तो भस्म हो गया और 'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः'। भस्म हुआ शरीर तो अब आने से रहा, इसलिये कर्त्ता शरीर के अभाव में पाप-पुण्य का अभाव और पाप-पुण्य के अभाव में संसार में सुख दुःख का अभाव होगा। यह प्रत्यक्ष के विरूद्ध है ॥११॥

कृतहान्यकृताभ्यागमदोषाच्च ॥१२॥

कृतहानि और अकृताभ्यागम दोष के आ जाने से भी।

खानपान आदि आहार पर अवलम्बित होने से देह में निरन्तर परिवर्तन

होता रहता है। प्रतिक्षण शरीर के कुछ अंश नष्ट होते और कुछ नये उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार प्रत्येक क्षण में शरीर अन्य का अन्य होता जा रहा है। जो शरीर आज है वह कल नहीं रहेगा। इसलिये यदि देह को आत्मा माना जाये तो आज की देह के किये कर्म के फल को कल वाला शरीर भोगेगा। और कर्त्ता शरीर दण्ड पाने से छूट जायेगा। इस प्रकार देहादि संघात को आत्मा मानने पर देहादि प्राणी का प्रतिक्षण भेद होते रहने से कृतहानि और अकृता-भ्यागम दोष प्राप्त होगा ॥१२॥

षष्ठोव्यपदेशादपि ॥१३॥

षष्ठी विभक्ति के व्यवहार से भी।

सामान्य व्यवहार में भी सब लोग 'मेरा हाथ' 'मेरी आंख' इत्यादि शब्दों का प्रयोग करते हैं। इससे स्पष्ट है कि 'हाथ' और 'आंख' का स्वामी इनसे भिन्न है। क्योंकि षष्ठी विभक्ति का व्यवहार वस्तुओं में भेद होने पर किया जाता है। यदि देह को आत्मा मान लिया जाये तो 'मैं हाथ' 'मैं आंख' ऐसा प्रयोग होना चाहिए, न कि 'मेरा हाथ' 'मेरी आंख'। इस प्रकार षष्ठी विभक्ति का व्यवहार स्वस्वामिभाव का द्योतक है। आत्मा स्वामी और शरीर उसका स्वत्व है ॥१३॥

दर्शनस्पर्शाभ्यामेकार्थग्रहणात् ॥१४॥

चक्षु और त्वक् इन्द्रियों के द्वारा एक अर्थ के ग्रहण से।

प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय का ग्रहण और प्रतिसन्धान कर सकती है, अन्य इन्द्रिय के ग्राह्य विषय का नहीं। किन्तु जिस वस्तु को हम आंख से देखते हैं उसी को हाथ से छूकर कहते हैं कि जिसे आंख से देखा था उसी को हाथ से छू रहे हैं या जिसे हाथ से छुआ था उसी को आंख से देख रहे हैं। खाद्य पदार्थ को आंखों से देखकर ही जिह्वा में पानी भर आता है। यदि इन्द्रियां ही ज्ञाता होतीं तो ऐसा कभी न होता क्योंकि और के देखे का और को स्मरण नहीं हो सकता। जो विभिन्न इन्द्रियों द्वारा गृहीत ज्ञानों का प्रतिसन्धान करता है वह इनसे भिन्न आत्म-तत्त्व है ॥१४॥

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ॥१५॥

बाईं आंख से देखे पदार्थ का दाईं आंख से प्रत्यभिज्ञान होने से।

पहले और पिछले दो ज्ञानों का जो एक विषय में मिला हुआ ज्ञान होता है उसे 'प्रत्यभिज्ञान' कहते हैं। जिस वस्तु को पहले बाईं आंख से देखा हो उसे दाईं आंख से देखकर यह कहना कि यह वही वस्तु है जिसे पहले बाईं आंख से देखा था उस वस्तु का प्रत्यभिज्ञान है। यदि देह से भिन्न आत्मा को न माना जाये

तो प्रत्यभिज्ञान हो ही नहीं सकता क्योंकि अन्य के देखे का अन्य को स्मरण नहीं हो सकता ॥१५॥

संहतपरार्थत्वात् ॥१६॥

संघात के परार्थ होने से ।

संहत अर्थात् संघात रूप में विद्यमान समस्त अचेतन तत्त्व परार्थ देखा जाता है । उसकी समस्त प्रवृत्ति 'पर' के लिये है । समस्त त्रिगुणात्मक जगत् भोग्य है । उसकी उपयुक्तता व सफलता तभी है जब कोई उसका भोक्ता हो । अचेतन भोग्य जगत् का कोई चेतन भोक्ता होना आवश्यक है । भोग्य स्वयं अपना भोक्ता नहीं हो सकता । इसलिये प्रकृति के भोक्ता के रूप में जीवात्मा का अस्तित्त्व सिद्ध है ॥१६॥

यह आत्मा, सिद्ध होते हुए भी, इन्द्रियों से दिखाई नहीं देता क्योंकि वह इन्द्रियों का विषय नहीं है—

न ह्यात्मनः प्रत्यक्षमिन्द्रियैः ॥१७॥

इन्द्रियों से आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता ।

प्रत्यक्ष का करने वाला अपना ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं कर सकता । जैसे आंख सबको देखती है किन्तु अपने को नहीं । द्रष्टा द्रष्टा ही रहता है, दृश्य नहीं होता । हां, आत्मा और मन के संयोग विशेष से योगी को आत्मा में अपने और पराये आत्मा का प्रत्यक्ष हो जाता है । यह अलौकिक प्रत्यक्ष है क्योंकि इसमें वाह्येन्द्रियों का उपयोग नहीं होता ॥१७॥

अगले सूत्रों में आत्मा के नित्यत्व का विवेचन किया गया है ।

अनाद्यनन्तो जीवात्मा ॥१८॥

जीवात्मा अनादि और अनन्त है ।

ब्रह्म की भांति जीव भी अनादि और अनुत्पन्न है । वह स्वरुप से नित्य है । न उसकी उत्पत्ति प्रकृति के तत्वों से हुई है जैसा कि प्रकृतिवादी कहते हैं और न ब्रह्म से जैसा कि नवीन वेदान्ती मानते हैं । जड़ पदार्थ से संभव नहीं क्योंकि जड़ में चेतना न होने से उससे चेतन जीव नहीं बन सकता । यदि कहें कि परमात्मा ने अपने में से बना दिया तो परमात्मा स्वयं विकारी हो जायेगा । जीव ईश्वर का न अंश है, न छाया । अंश होता है अवयवी का । किन्तु ईश्वर अखण्ड और विभु है । इसलिए जीव और ईश्वर में अशांशी भाव नहीं घट सकता । छाया पड़ती है किसी पदार्थ की किसी दूरस्थ दूसरे पदार्थ में । ईश्वर से दूरस्थ कोई पदार्थ नहीं जिसमें ईश्वर की छाया पड़ सके । इसलिए प्रतिबिम्बवाद से भी जीव की उत्पत्ति सम्भव नहीं । कार्य-कारण सम्बन्ध से भी

जीव का उत्पन्न होना नहीं बनता। प्रथम तो 'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः' के नियम के अनुसार ईश्वर को कारण और जीव को उसका कार्य मानने से जीव के गुण-कर्म-स्वभाव ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव के सदृश होने चाहियें। किन्तु ऐसा है नहीं। ईश्वर सच्चिदानन्द है जब कि जीव केवल सच्चित् है। इसी प्रकार ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, और निर्विकार है जबकि जीव अल्पशक्ति, अल्पज्ञ और विकारी है। दूसरे कारण, कार्य से पहले होता है। इसलिये ईश्वर और जीव दोनों का एक साथ होना नहीं बनता। इस प्रकार जीव को किसी भी रूप में निर्मित अथवा उत्पन्न हुआ मानना तर्क विरुद्ध है। फिर, जो बना है वह कभी नष्ट भी अवश्य होगा ॥१८॥

परन्तु—

अनुच्छित्तिधर्मायमात्मा ॥१९॥

आत्मा तो अविनाशी है।

जिसका आदि है उसका अन्त अवश्य होगा। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः'-जो उत्पन्न होगा वह मरेगा भी अवश्य। किन्तु जीवात्मा अमर है। 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे (गीता)-शरीर के नष्ट हो जाने पर भी वह बना रहता है। देह भस्म हो जाता है, जीव नहीं। 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते' (छान्दोग्य ६-११-३)—जीवात्मा से रहित यह शरीर मरता है, जीव नहीं। 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ' (श्वेत १-९) जड़ (प्रकृति) और चेतन (जीव)—एक शासक और दूसरा शासित—दोनों ही अजन्मा हैं। 'न जायते म्रियते वा विपश्चित:' (कठ. १-२-१८) यह चेतन आत्मा न जन्मता है, न मरता है। बृहदारण्यक उपनिषद् (४-३-८) में कहा—'स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः स उत्क्रामन् म्रियमाणः' अर्थात् जब वह जीवात्मा पुरुष शरीर से युक्त होता है तब जन्मा हुआ कहा जाता है और जब शरीर से उत्क्रमण करता है तब मरा हुआ कहलाता है। इस प्रकार जीवात्मा में जन्म मरण का व्यवहार देह के संयोग-वियोग के आधार पर होता है। शंकराचार्य ने अपने शांकर भाष्य (२-३-१६) में लिखा—

न जीवस्योत्पत्तिप्रलयौ स्तः। शरीरानुविनाशिनि हि जीवे शरीरान्तर्गतेष्टानिष्टप्राप्ति परिहारार्थौ विधिप्रतिषेधावनर्थकौ स्याताम्।

जीव की उत्पत्ति प्रलय नहीं होते। यदि शरीर के साथ जीव भी नष्ट हो जाये तो दूसरे शरीर में इष्ट अनिष्ट की प्राप्ति का परिहार कैसे हो? और शास्त्र में जो विधिनिषेधात्मक उपदेश हैं वह भी व्यर्थ हो जायें। यदि कहीं जीव की उत्पत्ति या विनाश का उल्लेख पाया जाये तो वह शरीर की अपेक्षा से ही मानना चाहिये।

देह को छोड़ कर जीव स्थानान्तर और शरीरान्तर को प्राप्त कर लेता है।

पूर्व-पूर्व जन्म में अनुष्ठित कर्मों के अनुसार विविध प्रकार के शरीरों को धारण करना जीवात्मा की अनादि और अनन्त जन्म-कर्म-फल परम्परा को सिद्ध करता है। जातमात्र बालक द्वारा हर्ष, भय शोक की अभिव्यक्ति और आहार की इच्छा तथा प्रयत्न को देख सहज ही उसके पूर्व जन्म के अभ्यास की प्रतीति होती है। यह जीवात्मा के अविनाशी होने और अविनाशी होने से उसके अनुत्पन्न होने का स्पष्ट प्रमाण है ॥१९॥

आत्मा के नित्यत्व में एक अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

नाभावो विद्यते सतः ॥२०॥

सत् (भाव) का अभाव नहीं होता।

जिस प्रकार अभाव से भाव की उत्पत्ति संभव नहीं, उसी प्रकार भाव का विनाश अथवा अभाव भी संभव नहीं। यदि आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है तो उसका अनादि और अनन्त होना स्वतः सिद्ध है। यदि 'हम हैं' सत्य है तो 'हम थे' और 'हम होंगे' भी उतना ही सत्य है। जिस तर्क से 'हम हैं' उसी तर्क से 'हम थे' और 'हम होंगे' भी ॥२०॥

अब जीवात्मा के परिमाण का विवेचन करते हैं—

परिच्छिन्नो जीवात्मा ॥२१॥

जीवात्मा परिच्छिन्न (अणु परिमाण) है।

अणु जीवात्मा शरीर में रह कर मन आदि के द्वारा सारे शरीर का नियन्त्रण करता है। जैसे चन्दन का एक बिन्दु एक अंग में लगा हुआ सारे शरीर को आल्हाद की अनुभूति देता है वैसे ही समस्त शरीर में फैली हुई ज्ञानवहा नाड़ियों के द्वारा जीवात्मा एक देश में रहता हुआ देह के प्रत्येक अंग में होने वाले बाह्य स्पर्श आदि का अनुभव करता है। लोक में एकत्र स्थित राजा सचिव आदि सहायकों के द्वारा समस्त राष्ट्र की व्यवस्था करता है। वैसे ही हृदय में स्थित जीवात्मा समूचे देह की व्यवस्था करता है। मुण्डकोपनिषद् (३-१-९) में स्पष्ट रुप से आत्मा को अणु बताया है—'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' यह अणु आत्मा शुद्धान्तःकरण से जानने योग्य है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (५-९) में आत्मा के माप का उल्लेख होने से भी उसके अणु होने की पुष्टि होती है। जीवात्मा को विभु मानने का तात्पर्य होगा कि जीवात्मा आकाश के समान सर्वत्र ओत प्रोत है—एक ही आत्मा सर्वत्र वर्तमान होने से सब शरीरों में वर्तमान होगा और सब जीवों के सुख. दुःख और समस्त क्रियाओं में पूर्ण समानता होगी। उस अवस्था में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, जन्म, मरण, संयोग, वियोग कुछ भी न होगा। जीवात्मा के उत्क्रान्ति, गति, आगति आदि धर्मों का भी सामंजस्य न रहेगा। मुण्डकोपनिषद (१-२-११) में आता है—'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति'

आत्मज्ञानी पुरुष निर्दोष होकर सूर्यद्वार से चले जाते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् (४-४-२) में कहा—'तेन प्रद्योतेनैव आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वा अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः' अपने उस चेतन स्वरुप के साथ यह आत्मा चक्षु से, मूर्धा से और शरीर के अन्य भागों से निकल जाता है। कौषीतकी ब्राह्मणोपनिषद् (१-२, ३-३) में भी जीवात्मा की गति का वर्णन उपलब्ध है। अथर्ववेद का भाष्य करते हुए सायणाचार्य ने 'अव्यसः' (१९-६८-१) शब्द का अर्थ किया है—अव्यसः—अव्यापकस्य परिच्छिन्नस्य जीवात्मनः अर्थात अव्यापक परिच्छिन्न जीवात्मा का। यह उत्क्रान्ति एवं आना जाना अणु परिमाण जीव में ही संभव है। देह तथा देहावयवों से निकलना व उन्हें छोड़ना आत्मा के विभु होने पर असंभव है। जब पक्षाघात (लकवा) हो जाता है तो तन्तु सम्बन्ध में विकार आ जाने से प्रभावित क्षेत्र में कांटा चुभना अनुभव नहीं होता। यदि आत्मा विभु होता तो पक्षाघात होने का कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए था। ये सब युक्तियां और प्रमाण आत्मा के अणु परिमाण को सिद्ध करती हैं। इस परिच्छिन्न जीव की शक्तियां ही शरीर में प्राण, बिजली और नाड़ी आदि के साथ संयुक्त होकर कार्य करती हैं ॥२१॥

अगले सूत्र में इस भ्रम का निवारण किया गया है कि जितना बड़ा शरीर होता है उतना ही बड़ा उसमें रहने वाला आत्मा—

न स्वदेहपरिमाणः ॥२२॥

देह के अनुरूप जीवन का परिमाण नहीं होता।

जीव अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ है जो परमाणु में भी रह सकता है। छोटे-बड़े शरीरों के अनुसार आत्मा को मध्यम परिमाण मानने पर उसमें संकोच-विकास के आवश्यक होने से वह अनित्य हो जायेगा। यदि जीव का परिमाण शरीर के बराबर हो तो मनुष्य शरीर में ही जन्म के समय छोटा होगा और जैसे जैसे शरीर में वृद्धि होगी वैसे वैसे जीवात्मा भी शरीर में फैलता जायेगा—बच्चे का जीव छोटा और युवा का बड़ा होगा। कृशकाय व्यक्ति का छोटा और स्थूलकाय व्यक्ति का जीव बड़ा होगा। इससे जीव अवयवी हो जायेगा क्योंकि निरवयव पदार्थ का शरीरों के अनुसार घटना बढ़ना नहीं हो सकता। सावयव होने पर अवयवों के संयोग वियोग के कारण जीव विकारी हो जायेगा। मैं छोटे कमरे में भी रह रह सकता हूं और बहुत बड़े में भी। हां, यह आवश्यक है कि वह कमरा मेरे शरीर से बड़ा और मेरा शरीर उस कमरे से छोटा हो। अणु परिमाण होने से जीव चींटी और हाथी दोनों के शरीर में रह सकता है। ऐसा न मान कर जीव को शरीर- परिमाणी मानने पर हाथी का जीव चींटीं में और चींटी का जीव हाथी में कैसे समायेगा और कार्य करेगा ? ॥२२॥

अब जीव के परिमाण का उल्लेख करते हैं।

वालाग्रादणीयाञ्जीवः ॥२३॥

जीवात्मा बाल से सूक्ष्म है।

प्रकारान्तर से जीव के अणुत्व का उल्लेख करते हुए अथर्ववेद (१०-८-२५) में कहा—'वालादेकमणीयस्कमुतैकं नैव दृश्यते। ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया'। एक अर्थात् जीवात्मा वाल से भी सूक्ष्म है और एक प्रकृति है जो दीखती ही नहीं। इन दोनों में व्याप्त जो देवता है वही मेरा प्रिय है। इस मन्त्र में वर्णित जीव के स्वरुप को श्वेताश्वतर उपनिषद् (५-६) में स्पष्ट करते हुए कहा—'वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्ताय कल्पते' अर्थात् बाल के अग्रभाग के सौ भाग किये जायें तो उनमें से एक के बराबर जीव परिमाण है और वह मुक्ति के लिए समर्थ होता है। उपनिषदों में अनेकत्र (कठ.४-१२ व १३, ६-१७, श्वेत. ५-८) जीवात्मा को अंगूठे के बराबर (अंगुष्ठमात्रः पुरूषः) बताया है। अंगुष्ठमात्र कहने का यह अभिप्राय नहीं कि वह अंगूठे के बराबर परिमाण वाला है। शरीर में जिस स्थान पर जीवात्मा रहता है उसकी रचना अंगूठे जैसी होने के कारण 'तास्थोपाधि' से कह दिया है—जैसे 'मंचस्थपुरुषाः क्रोशन्ति' के स्थान पर 'मंचाः क्रोशन्ति' कह दिया जाता है। तथापि किसी संभावित भ्रान्ति का पहले ही निवारण कर देने के उद्देश्य से 'अंगुष्ठमात्रः' के साथ ही 'आराग्रमात्रः' (सुई की नोक के बराबर) कह दिया। वस्तुतः ये बातें जीवात्मा के नियत माप का निर्देश नहीं करतीं। यह केवल उसके अत्यन्त सूक्ष्म अणु परिमाण का बोध कराने के लिए कही गई हैं ॥२३॥

अब शरीर में जीव की स्थिति का निरूपण करते हैं—

हृदि ह्येष आत्मा ॥२४॥

आत्मा हृदय में रहता है।

आत्मा के अणु परिमाण होने से यह स्वतः सिद्ध है कि वह शरीर में किसी नियत स्थान में रहता है। वह स्थान कौन सा है? छान्दोग्य उपनिषद् (८-३-३) में बताया—'स वा एष आत्मा हृदि, निश्चय से वह आत्मा हृदयदेश में रहता है। इसी प्रकार वृहदारण्यकोपनिषद् (४-३-७) में भी कहा है—'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' आत्मा कौन है, जो यह ज्ञाता प्राणों (इन्द्रियों) के वीच घिरा हुआ हृदयदेश के अन्दर चेतन पुरूष है। आत्मा का हृदयदेश में निवास निश्चित हो जाने पर प्रश्न उपस्थित होता है कि जिस हृदय में आत्मा का वास है वह हृदय स्वयं कहां है? क्या रक्त का प्रक्षेप करने वाला हृदय ही आत्मा का निवास स्थान है? सुश्रुत (शरीर. ४-३४) में कहा गया है—

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम्।
तमोऽभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनम् ॥

हे सुश्रुत ! देहियों का चेतना स्थान हृदय कहा जाता है। वह हृदय जब तमस् से अभिभूत हो जाता है तो देही निद्रा अवस्था में प्रवेश करता है। रक्त का प्रक्षेप करने वाला हृदय तो जाग्रत और निद्रा दोनों अवस्थाओं में अनवरत अपना काम करता रहता है। इसलिये उसके तमस् से अभिभूत होकर निद्रा का प्रयोजक बनने का प्रश्न ही नहीं है। निश्चय ही इस हृयय का स्थान मस्तिष्क में है। मस्तिष्कगत हृदयदेश की वह क्रिया तमस् से अभिभूत होने पर शिथिल हो जाती है जो ज्ञानवहा नाड़ियों के द्वारा बाह्य इन्द्रियों का सम्पर्क मस्तिष्कगत उस प्रदेश के साथ जोड़ती है जहां मन आदि अन्तःकरणों के सहयोग से आत्मा बाह्य विषयों की अनुभूति रखता है। ज्ञानतन्तुओं का केन्द्र मस्तिष्क में होने से वहीं आत्मा का आवास है। जहां से वह ज्ञानतन्तुओं के द्वारा सम्पूर्ण शरीर का नियन्त्रण करता है। आत्मा का निवास स्थान रक्त के आक्षेप और प्रक्षेप करने वाला हृदय नहीं किन्तु वह मस्तिष्कगत प्रदेश है— इसका संकेत अथर्ववेद के नीचे दिये मन्त्रों (१०-२-३१,३२,३३) में मिलता है—

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम्॥

निश्चय ही शरीर में कोई ऐसा स्थान होना चाहिये जिससे इस वर्णन का सामंजस्य हो सके। 'अष्टचक्रा नव द्वारा देवानां पूरयोध्या' तो निःसन्देह यह पांचभौतिक देह है। इस देह में उस स्थान को खोजना है जिसकी 'संज्ञा हिरण्यय कोश' है और जिसके विशेषण 'स्वर्ग' व 'ज्योतिषावृत' हैं तथा जिसके मध्यवर्ती 'त्र्यर त्रिप्रतिष्ठित' स्थान में आत्मा का निवासस्थान है। 'हिरण्यय' पद का अर्थ है हिरण्यय अर्थात् सुवर्ण की प्रचुरता से बना हुआ। मस्तिष्क में एक अवयव है जो हलके पीले रंग वाले पदार्थ से बना है। आधुनिक शरीरशास्त्र में इसे 'आज्ञाकन्द' या 'आज्ञाचक्र' कहते हैं। वह दो भागों में विभक्त होता है। यह आज्ञाकन्द ही 'हिरण्यय कोश' है। इसकी आकृति मनुष्य के पैर के अंगूठे के अग्रपर्व के समान होती है। इममें रहने के कारण ही 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषः' कह कर आत्मा का वर्णन किया गया। आज्ञाकन्द के दोनों भागों के मध्य में थोड़ा अवकाश रहता है जिसे 'ब्रह्मगुहा' कहते हैं। यही आत्मा का निवास है। यह अवकाश त्रिकोण सा प्रतीत होता है और ऐसा लगता है जैसे कोई वस्तु तीन पायों पर टिकी हो। इस लिये इसे 'त्र्यरा त्रिप्रतिष्ठित' कहा गया है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में स्वर्ग ऊर्ध्वस्थानीय बताया गया है। शरीर के ऊर्ध्व भाग में अवस्थित होने से ही हिरण्यय कोश को स्वर्ग कहा गया है। क्योंकि

हिरण्यय कोश का निर्माण पीताभवर्ण पदार्थों से हुआ है इसलिये उसे ज्योतिषावृत कहना सर्वथा उचित है। कठोपनिषद् में जीवात्मा को भी धूमरहित ज्योति के समान बताया है। 'आत्मन्वत् यक्ष' का अर्थ है–शरीर से युक्त आत्मा। इस प्रकार मस्तिष्क के अन्तर्गत पीताभवर्ण दो आज्ञाकन्दों के बीच स्निग्ध तरल से पूर्ण त्रिकोण परिखाकार स्थान है वही वह हृदय है जहाँ आत्मा का आवास है। योगी जन इसी को 'ब्रह्मगुहा' कहते हैं ॥२५॥

जहां एक वस्तु होती है वहां दूसरी नहीं रह सकती। इसलिये जीव को परिच्छिन्न मानने पर ईश्वर और जीव का संयोग सम्बन्ध हो सकता है, व्यापक व्याप्य नहीं–इसकी समीक्षा अगले सूत्र द्वारा की गई है—

जीवापेक्षयेशस्य व्यापित्वात्तयोर्व्याप्यव्यापकसम्बन्धः ॥२५॥

जीव की अपेक्षा ईश्वर के व्यापक होने से दोनों में व्याप्य–व्यापक सम्बन्ध है।

एक ही देश में दो पदार्थ नहीं रह सकते–यह नियम समान आकार वाले पदार्थों में घटता है, असमान आकृति वालों में नहीं। अग्नि लोहे से सूक्ष्म है। इसलिये अग्नि अथवा विद्युत् अपने से स्थूल लोहे में रह सकती है। जीव परमेश्वर से स्थूल और परमेश्वर जीव से सूक्ष्म होने से जीव व्याप्य और परमेश्वर व्यापक है। इस प्रकार उनमें व्याप्य–व्यापक सम्बन्ध होने में कोई आपत्ति नहीं आती। वस्तुतः ईश्वर सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से सृष्टि के कण कण में ओतप्रोत है ॥२५॥

यदि परमेश्वर सर्वव्यापक है तो सभी पदार्थों में चेतनता होनी चाहिये–इस शंका का निवारण करते हुए कहते हैं—

न तु व्याप्यव्यापकत्वादैकात्म्यम् ॥२६॥

किन्तु व्याप्य और व्यापक एक नहीं होते।

व्याप्य एकदेशी और व्यापक सर्वदेशी होता है। इस भेद के कारण दोनों एक नहीं हो सकते। लोहे के गोले में अग्नि होते हुए भी लोहा और अग्नि एक नहीं हैं। आकाश सबमें व्यापक है किन्तु उसके व्याप्य घटपटादि एकदेशी हैं। इसलिये जैसे आकाश अदृश्य–अस्पर्श्य है वैसे घटपटादि अदृश्य–अस्पर्श्य नहीं हैं। इसी प्रकार चेतन परमेश्वर के सबमें होने से सब चेतन नहीं हैं ॥२६॥

अब जीव के सामर्थ्य के विषय में कहते हैं।—

स्वरूपेणाल्पज्ञो ऽल्पशक्तिश्चात्मा ॥२७॥

जीवात्मा स्वरूप से अल्पज्ञ और अल्पशक्ति है।

कोई अपने स्वरूप को नहीं छोड़ सकता। जीवात्मा चाहे जब तक और चाहे जितना अपना ज्ञान और सामर्थ्य बढ़ाता जाये उसका ज्ञान परिमित

और सामर्थ्य सीमित ही रहेगा। अपने सीमित साधनों के बल पर वह चाहे कितना ही पुरूषार्थ करे, ईश्वर के समान सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् नहीं बन सकता। योगाभ्यास के द्वारा जीव ब्रह्म को जान कर मोक्ष को प्राप्त कर सकता है–'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति'। और ब्रह्म को जानने के बाद कुछ जानने को नहीं रह जाता। इतने पर भी जीव 'सर्ववित्' एवं 'सर्वकर्त्ता' नहीं हो सकता। बड़े से बड़ा योगी भी आज तक ईश्वरकृत सृष्टिक्रम को न बदल सका है, न भविष्य में कभी बदल सकेगा। अल्पज्ञता अपने में अज्ञान को रखती है और अज्ञान के कारण ही वह अपवित्रता में पवित्रता, दुःख में सुख, अनित्य में नित्य और अनात्मा में आत्मा की भावना करके आवरण में आता, शरीर के साथ प्रकट होने पर जन्म लेता, पापकर्मों के फल–भोगरुप बन्धन में फंसता, और उससे छूटने का प्रयत्न करता रहता है ।।२७।।

शरीर में जीवात्मा के अस्तित्व की पहचान बताते हैं—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ।।२८।।

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान आत्मा के चिह्न (परिचायक) हैं।

किसी पदार्थ का रसना से रुचिकर आस्वादन कर कालान्तर में उसे आंख से देखते ही उसे लेने की इच्छा का होना जीवात्मा के अस्तित्व में प्रमाण है। प्रत्येक इन्द्रिय नियत विषय है। इसलिये आंख से देख कर रसना द्वारा गृहीत रसास्वाद का स्मरण होना किसी ऐसी तीसरी सत्ता के अस्तित्व का परिचायक है जो अकेली दोनों को ग्रहण करने में समर्थ हो। वही इन्द्रियों से अतिरिक्त उनका स्वामी इन्द्र (आत्मा) है। दुःख के कारणों को दूर कर सुख के साधनों को जुटाना प्रयत्न है। जड़ में स्वयं क्रिया का होना संभव नहीं। इसलिये प्रयत्न या क्रिया के लिए आत्मा का होना सिद्ध है। दुःख के कारण को देख कर उसके प्रति द्वेष भावना की अभिव्यक्ति भी आत्मतत्व को स्वीकार किये बिना संभव नहीं। इसी प्रकार सुख (आनन्द) और दुःख (अप्रसन्नता) की अनुभूति तथा ज्ञान (विवेक) शरीर में आत्मा–देहादि से भिन्न चेतन तत्त्व की स्थिति के परिचायक चिह्न हैं।

वैशेशिक दर्शन (३-२-४) में इन चिन्हों के अतिरिक्त प्राण (प्राणवायु को बाहर निकालना) अपान (प्राण को वाहर से भीतर लेना) निमेष (आँख मींचना) उन्मेष (आँख खोलना) मन (निश्चय, स्मरण और अहंकार करना) इन्द्रिय (सब इन्द्रियों का कार्य करना) तथा आन्तर विकार (क्षुधा तृषादि) का भी उल्लेख किया गया है ।।२८।।

चेतन आत्मा के इन चिन्हों की अभिव्यक्ति देह के द्वारा ही होती है क्योंकि—

देहाधिष्ठितस्यात्मनो लिङ्गानि सदसद्भावात् ॥२९॥

सदसद्भाव (होने, न होने) से ये चिन्ह शरीर से युक्त आत्मा के हैं।

जब तक आत्मा देह में होता है तभी तक ये गुण प्रकाशित रहते हैं। जब आत्मा शरीर को छोड़ देता है तब ये गुण शरीर में नहीं रहते। इनके न रहने पर प्राणी को मृत घोषित कर दिया जाता है। जिनके होने से जो हों और न होने से न हों वे गुण उसी के होते हैं। जैसे सूर्य और दीपादि के होने से प्रकाश होता और न होने से नहीं होता, वैसे ही जीवात्मा के शरीर में रहने पर ही इच्छा, प्रयत्न, ज्ञानादि के द्वारा उसकी प्रतीति होती है। किन्तु पार्थिव शरीर के न रहने पर भी ये गुण आत्मा में रहते हैं। प्रकारान्तर से इन्हें जीवात्मा के ज्ञातृत्व, कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व की अभिव्यक्ति कहा जा सकता है ॥२९॥

देहादि से भिन्न होने पर भी सर्वत्र देहों में एक ही आत्मा है अथवा प्रत्येक देह में भिन्न-भिन्न। इस जिज्ञासा के समाधानार्थ कहा है—

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ॥३०॥

जन्मादि की व्यवस्था से आत्मा का बहुत्व है।

प्रत्येक व्यक्ति में जन्मादि की व्यवस्था अर्थात् भेद देखा जाता है। एक ही काल व देश में कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई धनी, कोई निर्धन है। कोई मर रहा है, कोई पैदा हो रहा है। एक देह में रहने वाले की स्थिति दूसरे देह में रहने वाले के साथ नहीं मिलती। यदि सर्वत्र शरीरों में एक ही आत्मा हो तो इस प्रकार का भेद नहीं हो सकता। उस अवस्था में सबको एक साथ पैदा होना चाहिये और एक साथ मरना। सुख, दुःख की स्थिति भी एक जैसी होनी चाहिये। सबका एक साथ बन्ध-मोक्ष होना चाहिये, एक ही जैसा बौद्धिक स्तर होना चाहिये। तात्पर्य यह है कि समस्त देहों में एक आत्मा मानने पर समस्त विरोधी घटनाओं का अभाव हो जाना चाहिये। ऐसा सम्भव न होने से समस्त देहों में एक आत्मा का भोक्ता द्रष्टा रूप में माना जाना असंगत है।

वेदों तथा उपनिषदों में अनेकत्र उपलब्ध 'वयं जीवा जीवपुत्राः' (ऋक् १०-३६-९) 'वयं जीवाः प्रतिपश्येम' (ऋक् १०-३७-८) 'ये समानाःसमनसोजीवाः' (यजु० १९-४६) 'नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्' (कठ० २-२-१३) तथा 'श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः' (श्वेत. २-५) आदि वचनों से भी आत्माओं का नानात्व सिद्ध होता है। लोक में भी मैं, हम, तू, तुम, वह आदि व्यवहार होने से प्रत्येक देह में भिन्न आत्मा के अस्तित्व की पुष्टि होती है ॥३०॥

सर्वज्ञ एक आत्मा के होने पर भी प्रत्येक देह में मन भिन्न होने से सुख-दुःखादि का भेद पाया जाता है—इस भ्रम का निवारण करने के लिए कहा—

न अन्तःकरणभेदाद् वैविध्यम् ॥३१॥

अन्तःकरण भेद से विविधता नहीं।

कहा जा सकता है कि आत्मा तो एक ही है किन्तु अन्तःकरण अनेक हैं। उन्हीं के द्वारा देहादि के साथ आत्मा का सम्बन्ध होता है। उसी के आधार पर जन्म-मरण, सुख-दुःखादि के भेद की व्याख्या की जा सकती है। जो अन्तः-करण दुःखी है वहाँ का आत्मा दुःख को और जहाँ का अन्तःकरण सुखी है वहाँ का अन्तःकरण सुख को अनुभव करता है। यदि सुख-दुःख और ज्ञानादि का आश्रय अन्तःकरण होता तो यह हेतु ठीक हो सकता था। किन्तु जड़ होने से अन्तःकरण सुख-दुखादि का आश्रय न होकर केवल साधन है। सुख-दुःख की अनुभूति तो चेतन आत्मा को होती है। फिर, अनेक अन्तःकरणों से सम्बन्ध होने के कारण आत्मा एक ही समय में सुखी-दुःखी, बद्ध-मुक्त होगा। यह तर्क संगत नहीं। अन्तःकरणों में एक ही आत्मा के प्रतिबिम्बित होने की बात भी युक्तियुक्त नहीं। प्रतिविम्ब एक पदार्थ का दूरस्थ दूसरे पदार्थ पर पड़ता है। अन्तःकरण में आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ने के लिये अपेक्षित दूरी कहाँ है? आत्मा तो अन्तःकरण के भीतर ही है। इसलिये समस्त देहों में एक आत्मा का भोक्ता द्रष्टा रूप में माना जाना सर्वथा असंगत है ॥३१॥

जीव का नानात्व सिद्ध करने के अनन्तर जीव स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य का विवेचन करते हैं—

कर्मानुष्ठाने जीवस्य स्वातन्त्र्यम् ॥३२॥

कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है।

ज्ञातृत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्व जीव के स्वाभाविक गुण हैं। पाणिनि के अनुसार 'स्वतन्त्रः कर्ता' (अष्टा. १-४-५४)—कर्त्ता वह है जो 'कर्तुमकर्तुमन्यथा-कर्तुम्' करने, न करने अथवा उल्टा करने में स्वतन्त्र है। और स्वतन्त्र वह है जिसका शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरण उसके अधीन हैं। इस प्रकार अपने सामर्थ्यानुसार कर्म करने में जीव पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है। अपने वस की वात हो तो परुषार्थ ठीक है। परन्तु जहाँ रत्तीभर भी सत्ता और इच्छा नहीं रह जाती वहाँ हल में जुते बैलों की तरह दास्य भाव से चलते रहने के सिवा और क्या हो सकता है? 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी' का तात्पर्य है कि वर्तमान समय में हम जो कुछ करते हैं वह प्रारब्ध कर्मों (संचित कर्मों में से जिनका भोग शुरू हो गया है) का ही परिणाम है। मनुष्य की इच्छा और बुद्धि जो आज हो रही है वह कल के कर्मों का फल है तथा कल जो बुद्धि उत्पन्न हुई थी वह परसों के कर्मों का फल था। इस कारण परम्परा का अन्त कहीं नहीं होगा और यह मानना पड़ेगा कि अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता। तब तो मनुष्य की दशा वही होगी जो नदी के प्रवाह में बहती

हुई लकड़ी की होती है। प्रवाह उसे जिधर खींच ले जायगा उसे चुपचाप चले जाना होगा। इससे यही निष्पन्न होता है कि मनुष्य किसी भी कार्य को करने में स्वतन्त्र नहीं है। फिर मनुष्य में और मनुष्य द्वारा संचालित मशीन में क्या अन्तर रहेगा? किन्तु ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न तो चेतन आत्मा के स्वाभाविक गुण हैं। इसलिये वह ज्ञानपूर्वक इच्छानुसार कर्म करने में स्वतन्त्र है। ऐसा न मानने का अर्थ होगा कि जीवात्मा अपने स्वाभाविक गुणों को खो बैठा। तब उसका अस्तित्व ही कहाँ रहा? अनादि-अनन्त जीव के विषय में ऐसा सोचा भी नहीं जा सकता। मनुष्य के अन्तःकरण की प्रवृत्ति से भी जीव का कर्म-स्वातंत्र्य सिद्ध होता है। प्रत्येक मनुष्य अपने मन में यही सोचता है कि मैं अपने हाथ से होने वाले कार्यों की भलाई बुराई सोचकर उन्हें अपनी इच्छानुसार करूँ या न करूँ। यदि किसी कार्य को करने या न करने के लिए मनुष्य को स्वतन्त्रता नहीं है तो उसे यह कहना भी व्यर्थ है कि अमुक कार्य करना चाहिए, अमुक नहीं। किन्तु ऐसा कहा जाता है—इसमें प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥३३॥

शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट अर्थ वाला होने से कर्त्ता है।

वेदादि शास्त्रों में विधि-निषेधात्मक अर्थ जीवात्मा को लक्ष्य कर के कहे गये हैं। उनका अधिष्ठाता होने से वह कर्त्ता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (५-७) में बताया—'गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव चोपभोक्ता' संसारी जीवात्मा फलप्राप्ति के लिये कर्मों का कर्त्ता है। प्रश्नोपनिषद् (४-९) में तो बहुत स्पष्ट कह दिया गया—'एष हि द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुष': यह जीवात्मा पुरुष द्रष्टा, श्रोता, कर्ता आदि है। आत्मा कर्त्ता न होता तो उसके लिए कर्मों का विधान व निषेध असंगत होता। वेदादि शास्त्रों के अनेक वचन इसके पोषक हैं—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् (यजु. ४०—२), त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' (यजु. ४०—१), ,अक्षैर्मादीव्यः (ऋग् १०—३०—१३), 'पशून्पाहि' (यजु. १—१), सत्यं वद धर्मं—चर' (तै. १—११), 'ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत् धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्' (मनु. ४—९२) इत्यादि सन्दर्भों में अनेकत्र जीवात्मा के लिए 'किं कर्म किमकर्मेति' का विधान है। विहित कर्मों के अनुष्ठान और निषिद्ध कर्मों के परित्याग का निर्देश होने से स्पष्ट है कि कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है ॥३३॥

पापपुण्ययोर्भोक्तृत्वात् ॥३४॥

पाप-पुण्य के फल का भोक्ता होने से।

कर्त्ता ही भोक्ता है—यह न्याय संगत है। यदि जीवात्मा में स्वतन्त्र कर्तृत्व

नहीं होगा तो उसमें भोक्तृत्व भी नहीं होगा। कर्म-स्वातन्त्र्य के मौलिक अधिकार से वंचित होकर यदि जीव परमात्मा की अधीनता में रहकर सब काम उसकी इच्छा और आज्ञा के अनुसार करने पर बाध्य होगा तो पाप-पुण्य के फल का भागी भी परमात्मा ही होगा, जीव नहीं। किसी की हत्या हो जाने पर हत्या करने वाले मनुष्य को दण्ड मिलता है, हत्या में साधन रूप शस्त्र को नहीं। शासन के आदेश से फाँसी देने वाले जल्लाद को हत्या का अपराधी नहीं माना जाता। 'केनापि दैवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' के सिद्धान्त को यदि स्वीकार कर लिया जाये तो कभी किसी को दण्ड न मिले। यदि यह मान लिया जाये कि अपराध करने या न करने में मनुष्य स्वतन्त्र नहीं है अपितु जैसा परमात्मा चाहता है वैसा उसे करना पड़ता है तो अपराधी न्यायालय में जाकर रामचरितमानस से—

राम कीन्ह चाहहिं सो होई। करत अन्यथा अस नहिं कोई।।
जेहि जस रघुपति करहिं जब, सो तस तेहि छन होइ।।
जाको प्रभु दारुण दुःख देहीं। ताकी मति पहले हर लेहीं।।

यह प्रमाण उद्धृत करके दण्ड पाने से बच जाया करें। किन्तु कोई भी इस तर्क को स्वीकार नहीं करेगा। 'कृतं स्मर' (यजु॰ ४०–१५), 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' (महा॰) इत्यादि वचन इस बात की पुष्टि करते हैं कि जीव अपने कृतकर्मों के लिए उत्तरदायी है। और उत्तरदायी वही होता है जो अधिकार सम्पन्न अर्थात् कर्तुमकर्तुमन्यथाकुर्तुम् समर्थ होता है।

जीव के कर्म स्वातन्त्र्य की पुष्टि में एक अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

असत्कर्मसम्भवात् ।।३५।।

असत् कर्मों के सम्भव होने से।

यदि जीव अपनी इच्छा से कर्म न करके जैसा परमात्मा कराये सदा वैसा ही किया करे तो संसार में पाप किंचित् न रहे। परमेश्वर स्वयं 'शुद्धमपापविद्धम्' (यजु. ४०–८) शुद्ध एवं निष्पाप है। वह नहीं चाहेगा कि उसकी प्रजा में कोई भी मनुष्य पाप करे। जीव स्वतन्त्र किन्तु अल्पज्ञ होने से ही पाप में प्रवृत्त होता है। ईश्वर और जीव के यथार्थ स्वरूप को न समझ कर कह दिया जाता है कि या तो परमात्मा निष्पाप नहीं हैं, या सर्वशक्तिमान् नहीं। यदि वह दोनों होता तो सृष्टि में कहीं पाप न होने देता। यदि ईश्वर ने जीव को बनाया होता तो ऐसा होना सम्भव था। वह जीव को अपने जैसा बनाता (जैसा बाइबल में लिखा—God made man in his own image) जिससे वह कभी पाप करता ही नहीं। किन्तु जीव अनादि और अनुत्पन्न है। यदि ईश्वर ने बनाया होता तो संसार में व्याप्त समस्त भ्रष्टाचार का उत्तरदायित्व ईश्वर पर आ पड़ता। परन्तु जीव स्वभाव से कर्म करने में स्वतन्त्र है। इसलिए जीव जैसा चाहता है, करता है।

किन्तु शास्त्रों में अनेकत्र ऐसे वचन भी मिलते हैं जिनसे प्रतीत होता है कि समस्त सृष्टि का संचालन ईश्वर के हाथों में है । अतः जो होता है उसी के आदेश से होता है । इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

प्रेरयितैवेश्वरः ॥३६॥

ईश्वर प्रेरक मात्र है ।

ऋग्वेद (१०-१२१-३) में कहा है—'य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः' ईश्वर समस्त प्राणियों पर शासन व नियन्त्रण करता है । 'सविता देवः प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे' (यजु० १-१) परमेश्वर हमें श्रेष्ठतम कर्मों में प्रवृत्त करे । माध्यन्दिन शाखीय शतपथ ब्राह्मण (१४-६-७) में लिखा—'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरः आत्मानमन्तरो यमयति' जो आत्मा से भिन्न, आत्मा में रहता हुआ आत्मा का नियन्त्रण करता है । इसी प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् (६-६) में कहा—'धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम' धर्म की ओर लाने वाले, पाप से हटाने वाले, समस्त ऐश्वर्यों के स्वामी, जगत् के आश्रय परमेश्वर को जानो । इस प्रकार के उद्धरणों से प्रतीत होता है कि समस्त प्राणियों का नियन्त्रण करते हुए परमेश्वर ही जीवों की धर्म में प्रवृत्ति और पाप से निवृत्ति करता है । किन्तु जीवात्मा के कर्म-स्वातन्त्र्य विषयक आधारभूत सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में इन उद्धरणों पर विचार करने पर पता लगेगा कि ये मात्र प्रेरणामूलक हैं । इस प्रकार की ईश्वरीय प्रेरणा से जीवात्मा के स्वतन्त्र्य में कोई वाधा नहीं आती । प्रेरयिता से प्रेरणा पाकर भी कर्त्ता की स्वतन्त्रता में व्याघात नहीं आता । प्रेरयिता स्वयं कुछ नहीं करता । कर्म के व्यापार एवं सम्पादन में करने वाला स्वतन्त्र है । जीवात्मा ईश्वर के हाथों में कठपुतली नहीं । फलतः जीवात्मा की प्रवृत्तियों में परमेश्वर की आन्तर प्रेरणा होने पर भी आत्मा का कर्त्तव्य निर्बाध बना रहता हैं ।

परमेश्वर स्वेच्छाचारी नहीं है । वह सर्वोपरि राजा है । किन्तु विधाता होने से विधान के अन्तर्गत ही प्रभुसत्तासम्पन्न है । वह सृष्टि का संचालन करता है किन्तु मनमाने ढंग से न करके नियमों के अनुसार करता है । न स्वयं नियमों का उल्लंघन करता और न किसी को करने देता है । इसीलिये गीता में जो यह कहा गया है कि 'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति' (१८-६१) इसका अभिप्राय इतना ही है कि ईश्वर के नियम रूप यन्त्र में स्थित (यन्त्रारूढानि) जीव संसार में विचरण करते हैं । इसी अध्याय के ६० वें श्लोक में 'कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्' शब्दों को लेकर यह सिद्ध करने का यत्न किया गया है कि इच्छा न होते हुए भी विवश होकर मनुष्य को कर्म विशेष में प्रवृत्त होना पड़ता है । ऐसा पूर्वापर प्रसंग को न देख कर हुआ है । इसी श्लोक के पहले

पद में 'स्वेन स्वभावजेन कर्मणा निवद्ध' की बात कही गई है। और इसी अध्याय के श्लोक ४३ में क्षत्रिय होने के कारण अर्जुन का स्वभावज कर्म 'युद्धे चाप्यपलायनम्' शस्त्र प्रहार समय में युद्ध से न भागना बताया है। यहाँ श्रीकृष्ण ने अपने ढंग से अर्जुन को पलायन न करके युद्ध में प्रवृत्त होने की प्रेरणा की है। इस सन्दर्भ में गीता (३-३६) का निम्न श्लोक भी द्रष्टव्य है जिसके आधार पर जीव के कर्म करने में स्वतन्त्र न होने की मान्यता की पुष्टि की जाती है—

केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः॥

अर्थात् इच्छा न होने पर भी वलात् धकेला हुआ पाप करता है। किन्तु यहां पर भी अर्जुन के इस प्रश्न—'केन प्रयुक्तः'—का उत्तर देते हुए 'ईश्वरेण प्रयुक्तः' अथवा 'मया प्रयुक्तः' न कह कर रजोगुण से उत्पन्न काम, क्रोध, आदि दोषों को मनुष्य के पाप कर्म में प्रवृत्त होने में कारण बताया है। गीता की भावना उसी के 'विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु' (१८।६३) शब्दों से स्पष्ट हो जाती है। श्री कृष्ण ने जो कहना था वह कह दिया और अन्त—'मैं इस पर पूरी तरह विचार करके जैसी तेरी इच्छा हो वैसा कर' कह कर ईश्वर के मात्र प्रेरयिता होने तथा जीव के अपनी इच्छानुसार कर्म करने में स्वतंत्र होने के सिद्धान्त की पुष्टि कर दी ॥३६॥

अव ईश्वरीय प्रेरणा के स्वरूप का निश्चय करते हैं—

सदसद्विवेकार्थं वेदज्ञानं सृष्ट्यादौ ॥३७॥

भले बुरे की पहचान के लिए सृष्टि के आदि में वेदों का आविर्भाव हुआ। अल्पज्ञ जीव केवल नैसर्गिक ज्ञान के सहारे संसार में नहीं ठहर सकता। अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय करने में वह स्वतः असमर्थ है। ज्ञानपूर्वक कर्म करने से ही अभीष्ट की सिद्धि सम्भव है। इसलिए मनुष्य के सर्वतोमुखी कल्याण —अभ्युदय तथा निःश्रेयस् की सिद्धि में सहायक होने के लिए परमेश्वर ने मानव सृष्टि के साथ ही वेद का ज्ञान दिया। व्यष्टि एवं समष्टिगत जीवन में जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त मनुष्य का जितना व्यवहार है उसमें उसका मार्गदर्शन करने के लिए जितना भी ज्ञान आवश्यक है वह वेद में उपलब्ध है। तदनुकूल आचरण करने वाले का मार्ग सर्वथा प्रशस्त हो जाता है। इसीलिये 'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः' कह कर मनु जी के धर्माधर्म का निश्चय करने के लिये वेद की शरण में जाने का परामर्श दिया है ॥३७॥

जो लोग वेदादि नहीं पढ़ते अथवा पढ़ने में असमर्थ हैं उनके लिये प्रेरणा का क्या स्रोत है—इसका निर्देश अगले सूत्रों में किया गया है—

सत्कर्मण्यभयत्वनैःशङ्क्योत्साहाः ईश्वरप्रेरणयैव ।।३८।।

शुभ कर्मों के करने में अभय, निःशङ्कता और उत्साह ईश्वरीय प्रेरणा से होते हैं।

दयालु परमेश्वर ने आत्मा को सन्मार्ग पर चलाने के लिए दुहरा प्रवन्ध किया हुआ है। प्रथम वेदोपदेश के द्वारा मार्ग दर्शन किया। यह व्यवस्था हरेक को हर समय सुलभ नहीं है। इसलिये विकल्प में परमेश्वर ने ऐसा प्रबन्ध किया जो हर किसी को हर समय घर बैठे स्वतः प्राप्त है। हृदय स्थित भगवान् धर्म-अधर्म की ओर प्रवृत्ति-निवृत्ति के लिये प्रेरणा किया करता है। जब आत्मा मन और मन इन्द्रियों को परोपकार आदि किसी अच्छे काम में लगाता है तो आत्मा में निर्भयता, निःशंकता और आनन्दोत्साह उठता है। यह जीवात्मा की अपनी ओर से नहीं वरन् ईश्वर की प्रेरणा से होता है। क्योंकि जैसा वृहदारण्यकोपनिषद् में बताया है–'एष प्रजायतिर्यद् हृदयमेतद् ब्रह्म' (५-३-१) हृदयस्थित ब्रह्म ही प्रजापति है ।।३८।।

पापाचरणे च भयवितर्कलज्जास्तथैव ।।३९।।

पापाचरण में प्रवृत्त होने में भय, शंका और लज्जा भी वैसे ही।

जिस प्रकार शुभ कर्म में प्रवृत्त होने में निर्भयता आदि की उद्भावना होती है उसी प्रकार जब जीवात्मा चोरी आदि बुरे काम को प्रारम्भ करने लगता है तो आत्मा के भीतर से भय, शंका और लज्जा के भाव उठते हैं। यह भी ईश्वरीय प्रेरणा से ही होता है। विषय वासनाओं की तुमुल ध्वनि के कारण लोकव्यवहार में 'हृदय की पुकार' या 'आत्मा की आवाज़' कहाने वाली, हृदय में आत्मा के भीतर विराजमान अन्तर्यामी नियन्ता परमेश्वर की प्रेरणा को हम प्रायः नहीं सुनते। किन्तु इस आवाज़ की उपेक्षा हम भले ही कर दें, उसके फल से अपने आपको नहीं बचा सकते। क्योंकि—

फलोपभोगे पारतन्त्र्यम् ।।४०।।

कर्मफल भोगने में जीव परतन्त्र है।

अपने सामर्थ्यानुसार कर्म करने में जीव स्वतन्त्र है किन्तु जब कर्म कर चुकता है तो ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर फल भोगता है। कर्म चेतन नहीं हैं। इसलिये वह न चोर को पकड़ कर जेल भेज सकते और न डूबते को बचाने वाले को पुरस्कार के रूप में थैली भेंट कर सकते हैं। कोई सराहनीय काम करने के वाद भले ही कोई शासनाधिकारी के पास चला जाये किन्तु पाप कर्म करने के वाद उसका फल-दुःख पाने के लिए कोई थाने में जाकर खड़ा नहीं होगा। वैसे भी आत्मा अल्पज्ञ है, अतः स्वयं फल पाने का अधिकार मिल जाने पर भी उसका समचित प्रयोग न कर सकेगा। वह नहीं जानता कि कर्मफल

कैसे दिया जा सकता है। न उसके पास कोई नापने-तोलने के साधन हैं जिनकी सहायता से वह पाप-पुण्य का ठीक-ठीक लेखा जोखा कर सके। विद्यार्थी को परीक्षा भवन में अपनी इच्छा, ज्ञान और सामर्थ्य के अनुसार लिखने की तो छूट है किन्तु यदि इसके बाद मूल्यांकन का अधिकार भी उसे दे दिया जाये तो वह न्याय नहीं कर सकेगा—अज्ञान और स्वार्थ के कारण। इसी प्रकार एक चोर अपने लिए कम से कम दण्ड की व्यवस्था करेगा। कभी-कभी तो उसके लिए यह निश्चय करना भी कठिन होगा कि जिस कर्म के फल की वह व्यवस्था करना चाहता है वह पुण्य है या पाप और यदि मिश्र है तो दोनों का क्या अनुपात है। डाका डालकर प्राप्त राशि से मन्दिर या धर्मशाला बनवाने वाला अपने प्रति न्याय कैसे कर सकेगा ? इस प्रकार जैसे लोक में राजकीय व्यवस्था से न्याय होता है वैसे ही सर्वज्ञ, दयालु, न्यायकारी तथा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के अधीन ही पाप-पुण्य के फलोपभोग की समुचित व्यवस्था सम्भव है। जीव का इसमें कुछ भी हाथ नहीं हो सकता क्योंकि—

ईश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः ॥४१॥

ईश्वर के अधिष्ठाता होने पर फल की सिद्धि होती है।

पुरुष कर्मों की फल प्राप्ति का नियमन परमेश्वर के अधीन है। फलोत्पत्ति के अनुकूल ईश्वरेच्छा के बिना पुरुषकर्म विफल रहते हैं। जड़ पदार्थ नियम से स्वयं संयुक्त नहीं हो सकते। दूध को दही का रूप देने के लिए उसमें खटाई मिलाने वाला तीसरा होता है। इसी प्रकार जीवों को कर्मों के फल से संयुक्त करने वाले ईश्वर का होना आवश्यक है। अचेतन होने से कर्म तो फलकाल में यह भी नहीं पहचान सकेंगे कि हम किसके कर्म हैं। ऐसी अवस्था में जिस किसी के साथ उनका सम्बन्ध हो जाने से कर्मसंकर हो जायेगा। अन्य के कर्म अन्य को भोगने पड़ेंगे। अनन्त जीवों के अनन्त कर्मों का लेखा-जोखा रखकर तदनुसार फल की व्यवस्था करना अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति जीव के सामर्थ्य से बाहर है। इसलिये सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् परमात्मा ही कर्मफलों का सम्पादन करने में समर्थ हैं। कर्म करने वाले जीव का इतना सामर्थ्य भी नहीं कि वह स्वकृत कर्मों की सफलता के लिए आवश्यक साधन जुटा सके। 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'—फल भोगने के लिए मूलभूत साधन यह सृष्टि है जिसकी रचना जीव के नहीं, ईश्वर के अधीन है। यदि केवल कर्म ही फलोपभोग के लिए शरीर धारण में निमित्त हों तो जीव बुरा जन्म जहां बहुत दुःख हो कभी धारण न करे। यदि कर्म प्रतिबन्धक हों तो भी जैसे अपराधी स्वयं बन्दीगृह में नहीं जाता अपितु राजकीय न्यायव्यवस्था से बलात् धकेला जाता है, वैसे ही जीव को कर्मानुसार फल देने और शरीर धारण कराने के लिए ईश्वर ही समर्थ है। सब जीवों के पाप-पुण्य के फलों की यथावत् व्यवस्था करने से परमात्मा को 'अर्यमा' कहते हैं। इसी

प्रकार 'सर्वान् प्राणिनो नियच्छति स यमः' सब प्राणियों के कर्मफल का नियमन करने के कारण उसकी 'यम' संज्ञा है। 'रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः'— अन्यायकारी मनुष्यों को दण्ड देकर रुलाने के कारण वह 'रुद्र' कहाता है। किस कर्म का का फल कब, किस रीति से, किन साधनों के द्वारा भोगा जा सकता है—इसकी व्यवस्था सर्वज्ञ सर्वान्तियामी परब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता ॥४१॥

किन्तु फलप्राप्ति में ईश्वर को कारण मानने से कर्मों का निषेध हो जायेगा इस शंका का समाधान किया गया—

सा तु कर्मानुरूपा ॥४२॥

किन्तु वह (फलनिष्पत्ति) कर्मों के अनुसार होगी।

जैसे ईश्वर के बिना कर्मों का फल नहीं मिल सकता वैसे ही ईश्वर भी कर्मों की उपेक्षा करके, केवल सामर्थ्य से, फल नहीं दे सकता। फलसिद्धि के लिए कर्मों की अपेक्षा अनिवार्य है। न्यायकारी होने से ईश्वर बिना कारण किसी को दुःख-सुख नहीं दे सकता। कर्माध्यक्ष परमेश्वर की व्यवस्था में जीव के कर्म-कायिक, वाचिक तथा मानसिक—अदृष्ट किन्तु सार्वभौम न्याय की तराजू में तुल-तुल कर फल देते हैं। परमात्मा सबकी भलाई और सबके लिये सुख चाहता है। इसलिये किसी को पाप किये बिना दुःख नहीं दे सकता क्योंकि पाप कर्मो का ही फल दुःख है। इसी न्याय के अनुसार बिना पुण्य किये कोई सुख भी नहीं पा सकता क्योंकि पुण्य का फल ही सुख है। जीव को अपने पाप-पुण्य के अनुसार जन्म मिलता है। वह वायु, जल अथवा शरीर के छिद्र द्वारा दूसरे के शरीर में ईश्वर की प्रेरणा से प्रविष्ट होता है। पति-पत्नी का संयोग सर्वत्र गर्भाधान का हेतु नहीं होता। कारण सामग्री के होने पर कर्म हो जाना चाहिए। नियम से सन्तानोत्पत्ति रूप कार्य का पति-पत्नी संयोग होने पर भी—न होना, किसी कारण विशेष के अभाव का संकेत करता है। वह कारण आत्मा के स्वकृत पूर्व कर्म ही हैं। यदि कर्म-निरपेक्ष भूततत्त्व ही शरीर रचना में निमित्त हों तो पति-पत्नी संयोग के अनन्तर नियमपूर्वक रचना और सन्तानोत्पत्ति होनी चाहिये। किन्तु सदा ऐसा नहीं होता। तब यही मानना पड़ता है कि जब माता-पिता के कर्म सन्तानोत्पत्ति के अनुकूल होते हैं तब संभोग होने पर गर्भाधान एवं सन्तान प्रसव की सम्भावना रहती है। जब अनुकूल नहीं होते तो मात्र ईश्वर का आशीर्वाद (लोक व्यवहार के अनुसार) होने से भी संयोग निष्फल जाता है। इस प्रकार ईश्वर के होते हुए भी मनुष्य का समस्त जीवन उसके कर्मों पर आश्रित है। फलोत्पत्ति के लिए ईश्वर के बिना कर्म और कर्म के बिना ईश्वर व्यर्थ है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं ॥४२॥

कर्मफल की प्राप्ति में ईश्वर को निमित्त न मामने में एक तर्क यह दिया

जाता है कि मद के समान कर्मफल स्वयं प्राप्त हो जाता है, फल देने में दूसरे की आवश्यकता नहीं। इसका उत्तर देते हैं—

न फलोपब्धिर्मदवत् ॥४३॥

मद की तरह कर्मफल प्राप्त नहीं होता।

मद्य में मद उत्पन्न नहीं होता क्योंकि वह जड़ है। मद तो मद्य के पीने से चेतन को होता है। यदि ऐसा न होता तो समान मात्रा में मादक द्रव्य सेवन करने वालों को समान रूप से मद होता। परन्तु देखा जाता है कि मद्य पान के अभ्यस्त व्यक्ति को जहाँ दो रत्ती अफ़ीम या एक तोला शराब का पता नहीं चलता वहाँ अनभ्यस्त व्यक्ति पागल हो जाता है, यहाँ तक कि उसका जीवन भी संकट में पड़ सकता है। यदि मद्यपान से मद के समान कर्मों के स्वयं फल प्राप्त करने की बात को माना जाये तो इसका अर्थ होगा कि नित्य बहुत पाप-पुण्य करने वालों को कम और कभी-कभी थोड़ा-थोड़ा पाप-पुण्य करने वालों को बहुत अधिक फल मिलना चाहिए। परन्तु यह प्रत्यक्ष के विरुद्ध होने से असंगत है। अत: ईश्वर के बिना दिये कर्मफल की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥४३॥

अब अन्य के किये कर्मों का फल अन्य भोग सकता है—इसका निषेध करते हैं—

कर्त्तैव भोक्ता आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात् ॥४४॥

एक आत्मा के गुणों के दूसरी आत्मा में कारण न होने से कर्त्ता ही भोक्ता है।

एक व्यक्ति के कर्म दूसरे व्यक्ति के सुख-दु:ख का कारण नहीं बन सकते। यदि अपराधी छूट जाये और निरपराध को दण्ड मिल जाये तो सारी कर्म-परम्परा अस्तव्यस्त हो जाये। वस्तुतः एक व्यक्ति जो कर्म करता है उसका संस्कार दूसरे व्यक्ति के अन्त:करण में नहीं पड़ सकता। और जब संस्कार ही नहीं तो उसके फल को भोगने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए प्रत्येक मनुष्य अपने किये ही का फल भोगता है। यही ईश्वरीय विधान है। इसका व्यतिक्रम अराजकता को जन्म देगा जिसमें 'कृतहानि' (जिसने जितना किया है उसको उसका फल न मिलना) और 'अकृताभ्यागम' (जिसने नहीं किया उसे दूसरे के परिश्रम का फल मिल जाना) होगा। ईश्वर के शासन में ऐसा अन्याय नहीं हो सकता। इस विषय में वेद का स्पष्ट आदेश है—'स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व' (यजु. २३-१५) हे मनुष्य, तू स्वयं ही शुभ कर्म कर और स्वयं ही उसका फल भोग। 'यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दते मातरम्। तथा पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति'— जैसे बछड़ा हज़ारों गौओं के बीच अपनी माँ को ढूंढ़ लेता है वैसे ही किया हुआ कर्म अपने करने वाले को जा पकड़ता है। अथर्ववेद में भी एक स्थान पर

कहा—'पक्वः पक्तारं पुनराविशाति' पका हुआ (कृतकर्म) पकाने वाले (कर्त्ता) को ही प्राप्त हो जाता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य को यह समझ कर सत्कर्म में प्रवृत्त होना चाहिये कि इसका फल मुझे—और केवल मुझे—मिलना है। इसी कारण किसी मृत व्यक्ति के नाम पर उसकी सन्तान द्वारा किया गया श्राद्ध कर्म मृत व्यक्ति की तृप्ति या मुक्ति का कारण नहीं हो सकता। इसी प्रकार कोई व्यक्ति दूसरों के किये पाप कर्मों की गठरी अपने सिर पर उठा कर नहीं ले जा सकता। अन्ततः न्याय-व्यवस्था यही है कि एक आत्मा के शुभाशुभ कर्मों का फल दूसरी आत्मा को न मिलना चाहिये, न मिल सकता है ॥४४॥

जब जीव भी ईश्वर की तरह अनादि, अनुत्पन्न और इच्छा, ज्ञान, प्रयत्न आदि स्वाभाविक गुणों से युक्त हैं; कर्म करने में स्वतन्त्र है और ईश्वर अपनी इच्छा से नहीं वरन् कर्मानुसार ही फल देने में समर्थ है तो जीव ईश्वर के अधीन कैसे है? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—

महित्वैक इद्राजा जगतः ॥४५॥

महिमा के कारण ईश्वर जगत् का एकमात्र राजा है।

जीव अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, परिच्छिन्न तथा राग-द्वेष से युक्त है। इसकी तुलना में ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक तथा निर्विकार है। ईश्वर सच्चिदानन्द है जब कि जीव केवल सच्चित् है। इस प्रकार अपनी महिमा-गुणोत्कर्ष के कारण परमेश्वर जीवों तथा जड़ पदार्थों का अधिपति है। जैसे राजा और प्रजा बहुत बातों में समान होते हैं तो भी अपने सामर्थ्याधिक्य के कारण राजा प्रजा पर शासन करता है। वैसे ही परमेश्वर अपने अनन्त सामर्थ्य से सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करता तथा समस्त जीवों की यथावत् रक्षा करता और उनके कर्मों का फल देता है ॥४५॥

अब कर्म कितने प्रकार के हैं—इस विषय का प्रतिपादन करते हैं—

संचितप्रारब्धक्रियमाणभेदात्त्रिविधं कर्म ॥४६॥

संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण भेद से तीन प्रकार के कर्म हैं।

कर्मों का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया जाता है। जैसे—कायिक, वाचिक, मानसिक; सात्विक, राजस, तामस; शुभ, अशुभ, मिति। किन्तु कर्म-विपाक के प्रकरण में तीन प्रकार के कर्म माने जाते हैं। वे हैं—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। किसी मनुष्य के द्वारा जो कर्म किये गये हैं—चाहे वे इस जन्म में किये हों या पूर्वजन्म में—वे सब 'संचित' अर्थात् 'एकत्रित' कर्म कहाते हैं। इन्हीं को 'अदृष्ट' और मीमांसकों की परिभाषा में 'अपूर्व' कहते हैं। इन नामों के पड़ने का कारण यह है कि जिस समय कर्म किया जाता है उसी समय के लिए वह दृश्य रहता है। उस समय के बीतने पर वह स्वरूपतः शेष नहीं रहता

केवल उसके सूक्ष्म अतएव अदृश्य अथवा अपूर्व और विलक्षण संस्कार ही शेष रह जाते हैं। इन सब संचित कर्मों को एक दम नहीं भोगा जा सकता क्योंकि इनके परिणामों में कुछ परस्पर विरोधी अर्थात् भले और बुरे दोनों प्रकार के फल देने वाले हो सकते हैं। इसलिये इन्हें एक के वाद एक भोगना पड़ता है। इस प्रकार संचित कर्मों के दो भेद हो जाते हैं। संचित में से जिनका फल भोगना शुरू हो जाता है उन्हें 'प्रारब्ध' कर्म कहते हैं। व्यवहार में 'संचित' के अर्थ में ही प्रायः 'प्रारब्ध' शब्द का प्रयोग किया जाता है। किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से समस्त भूतपूर्व कर्मों के जितने भाग के फलों का भोगना आरम्भ हो गया है, उतना ही प्रारब्ध है। जिन पाप-पुण्य कर्मों का फल वर्तमान जीवन में नहीं भोगा जाना अथवा संचित में से जिन कर्मों का फल भोगना अभी शुरू नहीं हुआ हैं अर्थात् संचित में से प्रारब्ध को घटा कर जो कर्म शेष रह जाते हैं वे अनारब्ध' कर्म कहाते हैं। क्रियमाण कर्म वे हैं जो वर्त्तमान जीवन काल में किये जाते हैं। उनमें से कुछ ऐसे होते हैं जो प्रारब्ध कर्मों के भोगने में सहयोगी हैं उनका फल प्रारब्ध कर्मों के साथ भोग लिया जाता है और कुछ ऐसे होते हैं जिनका फल उस जीवन काल में नहीं भोगा जाता। वे संचित कर्मों की राशि में जमा होजाते हैं। कृतकर्म का फलभोग अवश्यम्भावी है। इस दृष्टि से यदि 'क्रियमाण' को धातुसाधित वर्त्तमानवाचक न मान कर 'वर्त्तमान सामीप्ये वर्त्तमानवद्वा' (अ-३-३-१३१) इस पाणिनि सूत्र के अनुसार भविष्यकाल वाचक समझें तो उसका अर्थ 'जो आगे शीघ्र ही भोगने हैं' किया जा सकता है। तव 'क्रियमाण' का ही अर्थ 'अनारब्ध' हो जायेगा। किन्तु व्यवहार में उसका अर्थ प्रचलित कर्म ही किया जाता है। इसलिये 'क्रियमाण' शब्द के रुढार्थ को छोड़ना उचित नहीं होगा ।।४६।।

अब कर्मों के फलोपभोग की अनिवार्यता का विवेचन करते हैं—

भोगादेव क्षयः प्रारब्धकर्मणाम् ।। ४७ ।।

फलोपभोग के बिना कर्म का क्षय नहीं होता।

जब एक वार बाण छूट जाता है तब वह लौट कर नहीं आता। अपने लक्ष्य पर पहुंच कर ही शान्त होता है। जब तक फल न मिले तब तक कर्म का क्षय नहीं होता। महाभारत में आया है—।।४७।।

नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ।।

'शुभ या अशुभ कैसा ही हो, किये हुए कर्म का फल भोगना ही पड़ता है। करोड़ों कल्प बीत जाने पर भी बिना भोगे उनका क्षय नहीं होगा।' कुछ ही भिन्न शब्दों में यह वात देवी भागवत में दुहराई गई है—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कालेनोपादितं च यत् ।
शुभं वाप्यशुभं वापि दैवं कोऽतिक्रमेत्पुनः ।।

कर्मफल को निश्चित कर देने का काम ईश्वर का है । और उसका यह निश्चय सर्वथा कर्मों के अनुसार होता है । यदि मनुष्यों में भले बुरे का भेद होता है तो इसके लिए परमेश्वर वैषम्य (विषम बुद्धि) और नैर्घृण्य (निर्दयता) के दोषों का पात्र नहीं होता । 'यद्धात्रा निजभालपट्टलिखितं प्रोज्झितुं कः समर्थः'— ऐसे विवेकी, निष्पक्ष और सर्वोच्च न्यायाधीश का निर्णय बदलने का सामर्थ्य किसमें हो सकता है ? जल्दी मिले या देर से मिले, नियत फल मिले बिना नहीं रह सकता । जब ब्रह्मा का दिन समाप्त होने पर सृष्टि का प्रलय होता है तब अभुक्त कर्म बीजरुप में बने रहते हैं । जब फिर नये सिरे से सृष्टि रचना होती है तब उसी कर्मबीज (संस्कार) से फिर अंकुर फूटने लगते हैं । महाभारत का कथन है—

येषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रपेदिरे ।
तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः ।।

अर्थात् 'पूर्व सृष्टि में जिस-जिस प्राणी ने जो-जो कर्म किये होंगे, फिर वे ही कर्म उसे बार-बार यथापूर्व प्राप्त होते रहते हैं ।' जब अभुक्त कर्म इतनी दूर तक पीछा करते हैं तो इसी जन्म में किये पापों से बिना भोगे निवृत्ति पालेना कैसे सम्भव हो सकता है ? स्वार्थी लोगों ने कुछ इस प्रकार के वचन भी गढ़ कर प्रचारित कर रक्खे हैं—

दृष्ट्वा जन्मशतं पापं पीत्वा जन्मशतत्रयम् ।
स्नात्वा जन्म सहस्त्राणि गङ्गा हरति कलौ युगे ।।
गंगा गंगेति यो ब्रूयात् योजनानां शतैरपि ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति ।।
अन्यक्षेत्रे कृतं पापं काशीक्षेत्रे विनश्यति ।

किन्तु यह कल्पना अत्यन्त मिथ्या व निराधार तथा मूलतः अवैदिक है । इसमें अणुमात्र भी सत्य नहीं है । शुद्ध मन तथा संकल्प से किये गये पश्चात्ताप तथा प्रार्थना भविष्य में दुष्कर्म न करने में सहायक हो सकते हैं । किन्तु इस कारण पूर्वकृत दुष्कर्मों के फलों से नहीं बचा जा सकता । हां, प्रायश्चित्त से, यदि दुष्कर्मकर्त्ता स्वयं शारीरिक या मानसिक दण्ड कुछ अंश में भोग लेता है तो उतने अंश में फल भोगने से बच जाता है । इसी प्रकार यदि किसी अपराधी को अपने दुष्कर्म का दण्ड राजा से प्राप्त हो जाये तो परमात्मा पुनः उसका दण्ड नहीं देगा । हां, यदि न्यायाधीश के सर्वज्ञ अथवा निष्पक्ष न होने से उसमें न्यूनाधिक्य हो गया होगा तो ईश्वर की न्यायव्यवस्थानुसार इसमें सुधार हो जायेगा ।

इस सन्दर्भ में महाभारत युद्ध में धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा एक बार असत्य

भाषण का प्रसंग दृष्टव्य है। यहां केवल उसका संकेत किया जाता है। जब यह निश्चय हो गया कि गुरू द्रोणाचार्य के हथियार डाले बिना युद्ध में पाण्डवों की विजय नहीं हो सकती और अश्वत्थामा में गुरू जी का मोह होने के कारण उसके मर जाने पर वह तत्काल हथियार डाल देंगे, किन्तु अश्वत्थामा को मारना भी आसान नहीं, तो श्री कृष्ण के परामर्श से यह योजना बनाई गई कि सदा सत्य बोलने वाले युधिष्ठिर से यदि गुरू जी के सामने झूठमूठ अश्वत्थामा के मारे जाने की बात कहला दी जाये तो गुरु जी विश्वास कर लेंगे। युधिष्ठिर इसके लिए तैयार न था। किन्तु श्री कृष्ण के अत्यधिक आग्रह करने पर, जनहित में, सत्यासत्य मिश्रित वचन 'अश्वत्थामा हतः, नरो वा कुञ्जरो वा' कहने के लिए तैयार हो गया। इस एक ही बार के मिथ्या भाषण के फल स्वरूप युधिष्ठिर को नरक के रास्ते स्वर्ग में जाना पड़ा। अंशतः औपचारिक रूप से वर्णित इस घटना क्रम से इतना स्पष्ट हो जाता है कि जीवन भर सत्य बोलने वाले व्यक्ति के एक बार के असत्य भाषण को, और वह भी श्री कृष्ण जैसे नेता (कुछ लोगों की मान्यता के अनुसार स्वयं साक्षात् भगवान्) के बार-बार आग्रह पर, क्षमा नहीं किया गया। फिर सामान्य जनों की तो बात ही क्या?

यदि कोई क़ैदी जेल से भागकर अपनी सज़ा से बचना चाहे तो बच नहीं सकता। पकड़े जाने पर शेष अवधि के लिए तो जेल में उसे रहना ही होगा, जेल से भागने के अपराध में उसे अतिरिक्त दण्ड और भोगना होगा। इसी प्रकार दुःखों से तंग आकर यदि कोई व्यक्ति आत्महत्या करता है तो पूर्वकृत कर्मों के फलस्वरूप मिल रहे दुःखों से तो छूट नहीं पायेगा, हाँ, आत्महत्या के अपराध के कारण उसे, बच जाने पर राजकीय व्यवस्था में तथा मर जाने पर ईश्वरीय व्यवस्था में अतिरिक्त दण्ड और भोगना होगा ॥४७॥

बिना भोगे कर्मों का क्षय होने के कारण होने वाली महती विनष्टि का उल्लेख अगले सूत्र में किया है—

न्यायव्यवस्थाविनाशात्पापाचरणे निर्भयत्वोत्साहयोः प्रवर्द्धनम् ॥४८॥

न्यायव्यवस्था के के भंग होने पर दुष्कर्मों के करने में निर्भयता और उत्साह में वृद्धि होगी।

सामान्यतः मनुष्य दण्ड के भय से अपराध करने में डरते हैं। यदि यह विश्वास हो जाये कि अपराध करने पर पकड़े नहीं जायेंगे और पकड़े भी गये तो बिना दण्ड पाये छूट जायेंगे तो अधिसंख्य मनुष्य अपराधों के अभ्यस्त हो जायें। यदि 'गंगा' शब्द का मात्र उच्चारण करने अथवा उसके जल में स्नान करने, किसी पीर पैगम्बर पर ईमान लाने, तोबा करने, ब्राह्मणों को भोजन कराने अथवा दान दक्षिणा देने आदि से पापों से छुटकारा मिल सके तो जो अपराध नहीं करते वे भी इस विश्वास के कारण दिन रात पाप करने में प्रवृत्त हो

जायें। यदि कहीं भी किया पाप कर्म काशी पहुंचने पर नष्ट होता है तो लोग कहीं भी डाका डालकर या हत्या करके काशी का टिकट कटा कर निश्चिन्त हो जायें। ईसामसीह के अनुयायियों को तो पाप का डर नहीं, क्योंकि वह बहुत पहले ही अपने भक्तों के पापों की गठरी सिर पर रखकर सूली पर चढ़ गये। विश्व में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि किसी भी अवस्था में बिना भोगे कर्म के क्षय न होने के सिद्धान्त को निरपवाद रूप में स्वीकार किया जाये।

परमात्मा अपने भक्तों के पाप क्षमा कर देता है—अगले सूत्र में इसका निषेध किया—

न स्तुत्याद्यनुष्ठानेन क्षमासम्भवः ।।४६।।

स्तुति आदि का अनुष्ठान करने से क्षमा नहीं मिल सकती।

कृतकर्म का फल भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता—अपने इस नियम को परमेश्वर स्तुति करने वाले अपने भक्तों के लिए शिथिल नहीं कर सकता। यदि पापों को क्षमा करने लगे तो उसका न्याय नष्ट हो जाये और सब मनुष्य महापापी हो जायें। हाथ पैर जोड़ने से परमात्मा अपराधियों को छोड़ देता है—यह बात सुनते ही लोगों में पाप करने में निर्भयता और उत्साह बढ़ जायेगा। जो नहीं करते वे भी करने लगेंगे। ऐसी अवस्था में परमात्मा संसार में होने वाले राजाओं के समान बन जायेगा। तब वह 'समोऽहं सर्वभूतेषु' सब प्राणियों के लिए एक जैसा नहीं रहेगा। जो उसकी स्तुति आदि करेंगे वे उसके लिए अपने होंगे। उनके प्रति उसका व्यवहार दया और सहानुभूति का होगा। इसके विपरीत जो उसकी स्तुति आदि नहीं करेंगे उनके प्रति, वैरभाव नहीं तो, कम से कम उपेक्षा का भाव तो रक्खेगा ही। अपनों पर उपकार करना परोक्ष रूप से अपने पर उपकार करना ही है। इसी में स्वार्थ निहित है। इस स्वार्थ के कारण परमात्मा खुशामदियों से घिरे हुए शासक के समान होगा जिसमें राग, द्वेष, ईर्ष्या, घृणा, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि सब होंगे। इस प्रकार के अधिष्ठाता परमेश्वर से न्याय की आशा नहीं की जा सकती। वस्तुतः परमेश्वर उदासीन अथवा तटस्थ भाव से जीव के कर्मों का साक्षी रहते हुए न्यायपरायण है। उसके व्यवहार में दया और न्याय का विलक्षण समन्वय है।।४६।।

वह किसी के पाप क्षमा नहीं करता। तो भी उसकी स्तुति-प्रार्थना उपासना करनी ही चाहिये। क्योंकि—

अन्यदेव तदनुष्ठानफलम् ।।५०।।

उसके करने का कुछ और ही फल है।

ईश्वर की स्तुति प्रार्थनोपासना करना निष्फल नहीं जाता। जो तुच्छ,

अवांछनीय, असम्भव लाभ हम सोचते हैं वह यदि मिल भी जाये तो सबके लिये अहितकर होगा। स्तुति से होने वाली उपलब्धि बड़ी महत्वपूर्ण है ॥५०॥

वह क्या है ? इसका प्रतिपादन करते हैं—

स्तुतिविधानेनात्मनि प्रीतिः तदीय गुणकर्मस्वभावैश्चात्मनः संशुद्धिः ॥५१॥

स्तुति करने से ईश्वर में प्रीति और उसके गुण-कर्म-स्वभाव से अपने गुण-कर्म-स्वभाव की शुद्धि।

मनुष्य के किसी भी कर्म-कायिक, वाचिक, मानसिक—का संस्कार उसके आत्मा पर पड़े बिना नहीं रहता। इसी लिए शास्त्रों में जहां 'भद्रं कर्णेभिः श्रणुयाम-देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिः' (यजु २५-२१) कानों से भद्र सुनने और आंखों से भद्र देखने का आदेश है वहाँ 'वाचं वदत भद्रया' (अथर्व ३-३०-३) वाणी से भी भद्र बोलने की प्रेरणा की गई है। अर्थ की भावना करते हुए बार-बार परमेश्वर को दयालु, न्यायकारी, निष्पाप आदि कहते रहने से मनुष्य को स्वयं भी दयालु, न्यायकारी, निष्पाप होने की प्रेरणा मिलती है। शास्त्र में 'स्तुति' का अर्थ लोक में प्रचलित अर्थ से भिन्न है। वस्तुतः 'दोषेषु गुणारोपणमसूया' दोषों में गुणों का आरोप 'असूया' है। इसी प्रकार 'गुणेषु दोषारोपणमप्यसूया' गुणों में दोषों का आरोप भी 'असूया' है। 'गुणेषु गुणारोपणं दोषेषु दोषारोपणं च स्तुतिः' गुणों में गुणों का और दोषों में दोषों का आरोप करना ही स्तुति है। अर्थात् जो जैसा है उसे वैसा ही कहना 'स्तुति' है। 'परमेश्वर जो चाहे कर सकता है अथवा वह सब कुछ कर सकता है' कहना परमेश्वर की स्तुति करना नहीं है। अपितु 'परमेश्वर अपने गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार अपने सब काम बिना किसी की सहायता के कर सकता है' कहना ही स्तुति है। इसी प्रकार 'अकाय' परमात्मा को शरीर धारण कराके 'क्लेश कर्म विपाकाशय' से परामृष्ट कर देना और 'सर्वज्ञ' परमेश्वर को अपनी पत्नी को ढूंढने में इतस्ततः घुमाना आदि परमेश्वर के लिए निन्दापरक बातें हैं, स्तुतिवचन नहीं ॥५१॥

द्विविधा स्तुतिः सगुणनिर्गुणभेदात् ॥५२॥

सगुण और निर्गुण भेद से स्तुति दो प्रकार की है।

जो गुण परमेश्वर में हैं उनसे युक्त मान कर उसकी स्तुति करना 'सगुण स्तुति' है। जैसे—'एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः' (यजु. ३२-४) निश्चय से वह परमात्मा सब दिशाओं में व्याप्त और प्रसिद्ध है और वही सबके बीच में है। वही 'हिरण्यगर्भ' है। 'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्' उसी ने पृथिवी, द्युलोक, अन्तरिक्ष आदि को धारण किया हुआ है। 'धामानि वेद भुवनानि विश्वा' वह सब लोकलोकान्तरों को जानने वाला है।

इसी प्रकार 'एष सर्वेश्वरः, एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्' (माण्डूक्योपनिषद् ६) अर्थात् वह परमात्मा सर्वेश्वर, सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी है। वह सबका ठिकाना और सब भूतों की उत्पत्ति एवं लय का आधार है ॥५२॥

जो गुण परमेश्वर में नहीं हैं उनसे पृथक् मान कर उसकी स्तुति करना 'निर्गुण स्तुति, है। जैसे—तदक्षरमकायमव्रणमस्नाविरमस्थूलमह्रस्वमदीर्घम-लौहितमगन्धमरसमचक्षुकमश्रोत्रममुखमच्छायमनाकाशम्'— अर्थात वह ब्रह्म अविनाशी, अकाय, अव्रण (छिद्ररहित), अस्नाविर (नस नाड़ी से रहित), अस्थूल, न ह्रस्व (छोटा), न दीर्घ, न रंगवाला, गन्ध–रस–चक्षु–श्रोत्र–मुख से रहित, छाया से रहित और आकाश से भिन्न है ॥५२॥

किन्तु मात्र ईश्वर का गुणगान करने से लाभ नहीं होगा—

न चारित्र्यपरिष्कारं बिना गुणकीर्तनम् ॥५३॥

चरित्र का सुधार किये विना गुण कीर्त्तन व्यर्थ है।

ईश्वर की स्तुति करने का लाभ तभी है जब स्तुति करने वाला ईश्वरीय गुणों को यथासंभव अपने अन्दर धारण करने का यत्न करे। 'न्यायकारी' कहते हुए दूसरों के प्रति निष्पक्ष व्यवहार करे, 'दयालु' कहते हुए किसी भी प्राणी को दुःख न देने का संकल्प करे, 'सर्वाधार' कहते हुए असहायों की सहायता किया करे। इसी प्रकार 'अपापविद्धम्' (पापरहित) कहते हुए पापों से सदा बचने का यत्न करे। चरित्र में सुधार लाये विना भाण्ड के समान परमात्मा का गुण कीर्तन करना निष्प्रयोजन है।

स्तुति के वाद प्रार्थना का विवेचन करते हैं—

प्रार्थनया निरभिमानत्वमुत्साहसाहाय्ययोश्च सम्प्राप्तिः ॥५४॥

प्रार्थना से निरभिमानता आती और परमेश्वर से उत्साह और साहाय्य की प्राप्ति होती है।

किसी के आगे हाथ पसारते ही आंखें नीची हो जाती हैं। मांगा उससे जाता है जिसके पास कोई वस्तु होती है और मांगता वह है जिसके पास उसका अभाव होता है। उस स्थिति में मांगने वाले में हीन भावना का उदय होता है और उसका अहङ्कार नष्ट हो जाता है। सब कुछ प्राप्त करने के बाद भी जब मनुष्य अहोरात्र के आरम्भ में अर्थात् सायं प्रातः 'हिरण्यगर्भ' के सामने नमन करके 'धियो यो नः प्रचोदयात्,' 'स नो वसून्याभर,' 'बलमसि बलं मे देहि' कभी बुद्धि की मांग करता है, कभी धन की और कभी बल की तो अभिमान कहां ठहर सकता है? इसके साथ ही जब उसे इस बात का विश्वास हो कि आवश्यकता पड़ने पर उसे कहीं से सहायता मिल सकती है तो वह निश्चिन्त

होकर आगे बढ़ता है। गिर पड़ेगा तो पुकार करने पर कोई सहारा देकर उठा देगा—यह विचार ही मनुष्य को बड़े से बड़े काम में हाथ डालने के लिए तत्पर कर देता है। 'यस्ते वष्टि ववक्षि तत्' (ऋग्. ८-४५-६) जो प्रार्थी तुझसे जो चाहता है उसे तू वह प्राप्त करा देता है, 'यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽस्तु' (ऋग्. १०-१२१-१०) हम जिस २ पदार्थ की कामना करें वह हमें प्राप्त हों, 'यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि तवेतत् सत्यमङ्गिरः' (ऋग्.१-१-६) प्रभु का यह अटल नियम है कि वह आत्मसमर्पण करने वाले का कल्याण करता है—आदि वचन इस विश्वास की पुष्टि करते हैं। इस प्रकार प्रार्थना से अभिमान का नाश होता है और आत्मा में आर्द्रता आती तथा गुण ग्रहण करने का सामर्थ्य बढ़ता है।

जिस २ गुण से युक्त परमेश्वर को मान तथा उन गुणों को अपने में धारण कराने के लिये प्रार्थना की जाती है वह, विधिमुख होने से, सगुण प्रार्थना कहाती है। इसी प्रकार जिस २ दोष वा दुर्गुण से ईश्वर को पृथक् मान करके अपने को भी उनसे दूर रखने की प्रार्थना की जाती है वह, निषेधमुख होने से, निर्गुण प्रार्थना कहाती है। अर्थात् शुभगुणों को ग्रहण कराने की प्रार्थना 'सगुण' और दोषों से छुड़ाने के लिए ईश्वर की सहायता चाहना 'निर्गुण' प्रार्थना कहाती है ॥४५॥

जो जिस बात की प्रार्थना करे उसे उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न भी करना चाहिये। क्योंकि—

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः ॥५५॥

थके बिना दैवी सहायता नहीं मिलती।

पानी तैरने में उसी की सहायता है जो स्वयं हाथ पैर मारता है। इसी प्रकार पूर्ण पुरुषार्थ के उपरान्त की गई प्रार्थना ही सफल होती है। सृष्टि में जितने भी प्राणी अथवा अप्राणी हैं वे सब अपने कर्म और यत्न करते रहते हैं। जैसे लोक में पुरुषार्थ करते हुए व्यक्ति की ही दूसरे लोग सहायता करते हैं वैसे ही परमेश्वर भी पुरुषार्थी मनुष्य की प्रार्थना स्वीकार करता और यथोचित सहायता देता है। जो प्रार्थना भर करके, आलसी होकर, परमेश्वर के सहारे या भरोसे बैठा रहता है वह बैठा ही रह जाता है और जो प्रार्थना के साथ यत्न भी करता है वह देर-सवेर अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है ॥५६॥

तो क्या पुरुषार्थ करने पर हर प्रार्थना सफल हो जाती है-इसका उत्तर देते हैं—

सत्कर्मण्येवेशसाहाय्यम् ॥५६॥

सत्कर्म में ही ईश्वर की सहायता मिलती है।

परमेश्वर सबकी भलाई चाहता है। इसलिये किसी दुष्कर्म में सफल होने

की इच्छा से की गई प्रार्थना में ईश्वर की सहायता मिलने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता। परस्पर वैरभाव रखने वाले दो व्यक्ति यदि एक दूसरे के नाश की प्रार्थना करें तो दोनों की प्रार्थना स्वीकार होने का अर्थ होगा दोनों का नाश। ऐसी हानिकारक प्रार्थनायें परमेश्वर कभी नहीं सुनता। कष्टसाध्य अथवा श्रमसाध्य कामों में ही ईश्वर से सहायता की प्रार्थना करनी चाहिये, सामान्य घरेलु कामों के लिये नहीं। पुरुषार्थपूर्वक, शुभकर्मों में सफलता के लिए की गई, प्रार्थना ही स्वीकार हो सकती है ॥५६॥

अब उपासना का लाभ बताते हैं—

उपासनयाऽखिलदोषदुःखानामुच्छेदात् जीवात्मनोऽपि दिव्यैश्वर्यगुणाद्युद्भवः ॥५७॥

उपासना से सब दोष-दुःख से छूट कर जीवात्मा में भी दिव्य ईश्वरीय गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है।

'संसर्गजा दोषगुणाः भवन्ति' गुण-दोष संसर्ग से उत्पन्न होते हैं। 'उपासना' का अर्थ समीपस्थ होना है। जब जीव परमात्मा के समीपस्थ होता है तो उस पर बहुत कुछ परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव का प्रभाव होता है। उसका आत्मा और अन्तःकरण पवित्र होकर सत्य से पूर्ण हो जाता है और नित्यप्रति ज्ञान बढ़ा कर मुक्ति तक पहुंच जाता है। आत्मा का बल इतना बढ़ जाता है कि वह पर्वत के समान दुःख आने पर भी विचिलित नहीं होता ॥५७॥

उपासना से होने वाला एक और लाभ बताते हैं—

आनन्दोपलब्धिश्च शीतातुरस्य वन्हिसामीप्येन शीतनिवर्त्तनमिव ॥५८॥

और आनन्द की प्राप्ति, जैसे अग्नि के पास जाने से शीतातुर का शीत निवृत्त होजाता है।

परमेश्वर सच्चिदानन्दस्वरुप है, जीव केवल सच्चित् है। सच्चिदानन्द की उपासना-उसके सामीप्य से उसे वैसे ही आनन्द की प्राप्ति हो जाती है जैसे सर्दी से कांपते मनुष्य को अग्नि के पास जाने से सुख मिलता है। 'रसो वै सः, रसं पीत्वा आनन्दी भवति' परमेश्वर आनन्दस्वरुप है, उसके सानिध्य से जीवात्मा को भी आनन्द मिल जाता है। उपनिषद् (मैत्रायणी. ४-४-९) में कहा है—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयन्तदन्तःकरणेन गृह्यते॥

जिस पुरुष के समाधियोग से अविद्यादि मल नष्ट हो जाते हैं, आत्मस्थ होकर जिसने परमात्मा में चित्त लगाया है उसे जो सुख होता हे वह वाणी से

कहा नहीं जा सकता। उसे जीवात्मा अपने अन्तःकरण से ही ग्रहण कर सकता है ॥५८॥

स्तुति और प्रार्थना की भांति उपासना के भी दो भेद हैं—

सर्वज्ञत्वादिगुणविशिष्टेश्वरस्योपासना सगुणा ॥५६॥

सर्वज्ञत्वादि गुणों से युक्त परमेश्वर की उपासना 'सगुणोपासना' है ॥५९॥

दोषदुर्गुणाभ्यामीश्वरं पृथङ् मत्वा या उपासना सैव निर्गुणा ॥६०॥

राग, द्वेष, रुप, रस, गन्धादि गुणों से पृथक् मान अतिसूक्ष्म आत्मा के भीतर बाहर व्यापक परमेश्वर में स्थित हो जाना 'निर्गुणोपासना' कहाती है ॥॥६०॥

न हि कृतघ्नस्य निष्कृतिः ॥६१॥

जिस ईश्वर ने जीवों के भोगापवर्ग के लिए सब कुछ दिया है उसे भूल जाना कृतघ्नता है। कृतघ्नता के महापाप का कोई प्रायश्चित्त नहीं है। माता पिता ईश्वर के बनाये पदार्थ लेकर हमें पालते हैं तो भी हम उनका उपकार मानते हैं और उन उपकारों को स्मरण करके उनके प्रति अपना कर्त्तव्य पालन करना धर्म समझते हैं। फिर ईश्वर ने तो सृष्टि की रचना ही हमारे लिये करके हमारे सुख और आनन्द के लिए विविध प्रकार के पदार्थ प्रदान किये हैं। उसकी उपासना करना हमारा परम धर्म है। अपने ऊपर उपकार करने वाले के प्रति कृतज्ञता का भाव रखने से मन स्वतः प्रसन्न तथा शान्त रहता है। परमेश्वर की शरण में जाने से आत्मा निर्मल होता है ॥६१॥

चतुर्थ अध्याय

पुनर्जन्म

देहादात्मनो निष्क्रमण मृत्युः ।।१।।

शरीर से जीवात्मा का निकल जाना मृत्यु है ।

चालू शरीर में प्रारब्ध कर्मों का भोग समाप्त होने पर शरीर का पतन हो जाता है । तब केवल देह का नाश होजाता है, आत्मा देह को छोड़ जाता है । देह का प्रत्येक अंग अपने कारण में लय हो जाता है--'सूर्यं चक्षुर्गच्छतु-' (ऋ. १०-१६-३) किन्तु आत्मा बना रहता हैं क्योंकि वह 'अनुच्छित्तिधर्मा' होने से 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे'-शरीर के नाश होने पर भी नहीं मरता । बस समय आने पर शरीर को छोड़ कर चल देता है । इस प्रकार आत्मा का शरीर से वियुक्त होना ही मृत्यु है ।।1।।

इसी प्रकार—

संयोगश्च जन्म ।।२।।

(आत्मा का शरीर से) संयुक्त होना जन्म है ।

जब शरीर का प्रत्येक अंग अपने कारण में लय हो जाता है तो आत्मा आकाशस्थ वायु में चला जाता है--'सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा' (ऋ. १०-१६-३) फलभोग के कारण प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जाने पर संचित में से फलोन्मुख कर्माशय फिर सामने आ जाता है । इस प्रकार पूर्वजन्मों में किये पाप-पुण्य के फल भोगने के स्वभाव से युक्त आत्मा, पूर्वशरीर को छोड़ कर वायु में गया हुआ, जल, वायु, प्राण आदि के माध्यम से वीर्य में प्रविष्ट हो जाता है । तदनन्तर ईश्वर की प्रेरणा से योनि के द्वारा गर्भाशय में स्थित हो, दस मास तक (ऋ. ५-७८-८-९, अथर्वः १-११-६) वहां पूर्ण विकास पाने के बाद बाहर आता है । इसी को जीवात्मा का जन्म लेना कहते हैं । शरीर से संयुक्त होकर जीवात्मा के जन्म लेने के सम्बन्ध में ऋग्वेद (५-७८-९) का यह मन्त्र द्रष्टव्य है—

दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि ।
निरैतु जीवो अक्षत जीवो जीवन्त्या अधि ।।

दस मास तक माता के भीतर रह कर प्राणों को धारण किये हुए जीव जीवित माता के गर्भ से सुखपूर्वक निकले ।।२।।

पुनर्जन्म की परिभाषा कहते हैं—

प्रेत्यभावः पुनरुत्पत्तिः ।। ३ ।।

यहां से जाकर फिर होना पुनर्जन्म है।

जिस शरीर को जीवात्मा एक बार छोड़ देता है उसे फिर प्राप्त नहीं कर सकता। इस प्रकार एक देह को छोड़ कर देहान्तर प्राप्ति को पुनर्जन्म कहते हैं। मोक्ष प्राप्ति होने पर निश्चित समय के अन्तराल को छोड़ कर एक देह का परित्याग कर देहान्तर को ग्रहण करने का क्रम निरन्तर चलता रहता है। जन्म-मरण के इस सिलसिले का न कोई आदि है, न अन्त ।।३।।

जन्म-मरण के अनुक्रम का कारण बताते हुए कहा—

पुनर्जन्मसिद्धिः आत्मनित्यत्वात् ।।४।।

आत्मा के नित्य होने से पुनर्जन्म की सिद्धि होती है।

आत्मा को नित्य मानने पर ही शरीरों को छोड़ने और ग्रहण करने का अनुक्रम सम्भव है। यदि आत्मा अनित्य होता तो शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता। फिर उसकी उत्पत्ति कहां से होती? क्योंकि स्वरुप से उत्पन्न हो कर नष्ट होने वाली वस्तु फिर से अस्तित्व में नहीं आ सकती। याज्ञवल्क्य ने प्रश्न किया-'मर्त्यः स्विन् मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति' (बृहद्. ३-९-२८) जब वृक्ष को काट गिराते हैं तो वह अपने मूल से फिर उठ खड़ा होता है। परन्तु जब मृत्यु पुरुष को काट गिराती है तो वह किस मूल से फिर उठ खड़ा होता है? जब किसी से उत्तर न बन पड़ा तो स्वयं याज्ञवल्क्य ने कहा-वह मूल आत्मा है जो स्वरुप से कभी उत्पन्न नहीं होता और सदा बना रहता है। "सस्यमिव पच्यते मर्त्यः सस्यमिवाजायते पुनः" (कठ. १-६) मनुष्य अन्न की तरह पैदा होता, बढ़ता, नष्ट होता और पुनः उत्पन्न होता है ।।४।।

वेदादि शास्त्रों में भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है—

शास्त्रवचनाच्च ।।५।।

शास्त्रों के वचनों से भी पुनर्जन्म सिद्ध है।

वैदिक धर्म और उसकी शाखा-प्रशाखा के प्रमाण ग्रन्थों में सर्वत्र पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। जैसे—

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ।। अथर्व ११-४-१४

मनुष्य गर्भ के अन्दर सांस लेता है और छोड़ता है। हे प्राण! जब तू उस गर्भस्थ बालक को परिपुष्ट कर देता है तो वह फिर उत्पन्न होता है।

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन्।
पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन्। वैश्वानरोऽदब्धस्तनूपा
अग्निर्नः पातुः दुरितादवद्यात् ।। यजु ४-१५

मुझे मन फिर से प्राप्त हुआ है, प्राण भी फिर से मिला है, मेरा देहयुक्त आत्मा भी फिर से मिला है, मुझे आंख और कान फिर से मिले हैं। अतएव मेरा जीवन मुझे फिर से मिला है। सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, सर्वरक्षक और पापों से बचाने वाला भगवान दुराचार और पाप से हमें बचाये।

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव ॥ अथर्व-७-६७-१

मुझे इन्द्रियों का सामर्थ्य अर्थात् मनुष्यदेह बार-बार प्राप्त हो। मन, जीव और देह तथा धन व ब्रह्मज्ञान भी बार-बार प्राप्त हो। अग्निहोत्रादि में समर्थ हम लोग जैसे पूर्वजन्मों में शुभ गुण धारण करने वाली बुद्धि, उत्तम शरीर और इन्द्रियों के स्वामी थे वैसे ही इस जन्म में भी हों।

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि।
धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत ॥ अ. ५-१-२

जो प्रथम विद्यमान जीव अपने शरीर धारण के कारणरुप कर्मों को प्राप्त करता है और उन कर्मों से नाना प्रकार के शरीर धारण करता है और देह धारण करने की इच्छा से प्रथम गर्भ में प्रविष्ट होता है और वही विना उपदेश की हुई वाणी को अपने पूर्वजन्म के सस्कारों से जानता है।

मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः।
नानायोनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै ॥
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः।
मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा ॥
अवाङ्मुखः पीड्यनमानो जन्तुश्चैव समन्वितः ॥
निरुक्त अ. १३-१९-१-२-७

मैं मर कर पैदा हुआ, पैदा होकर फिर मरा, अनेक योनियों में मैंने जन्म लिया। अनेक प्रकार के मैंने भोजन किये, अनेक स्तनों से मैंने दूध पिया। अनेक प्रकार के माता-पिता और मित्रों को देखा। गर्भ में नीचे सिर और ऊपर पैर– इत्यादि नाना प्रकार की पीड़ाओं को सहन करके अनेक जन्मों को धारण किया।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि अन्यानि संयाति नवानि देही ॥
गीता २-२२

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़ कर नये धारण लेता है उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को त्याग कर दूसरे नये शरीर को धारण कर लेता है।

महाभारत में एक स्थान पर (शां.पर्व. १५-५६) एक घर को छोड़ कर दूसरे घर में जाने का दृष्टान्त पाया जाता है। एक अमेरिकन लेखक ने यही कल्पना पुस्तक पर नई जिल्द बांधने का दृष्टान्त देकर भी व्यक्त की है। गीता में ही अन्यत्र (२-१३) कहा है—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥

जैसे शरीर धारण करने पर जीवात्मा को इस देह में बचपन, जवानी और बुढ़ापा प्राप्त होता है वैसे ही (मरने पर) दूसरा शरीर प्राप्त हो जाता है।

बौद्ध लोग यद्यपि आत्मा को नित्य नहीं मानते तथापि वैदिक धर्म में वर्णित पुनर्जन्मकी कल्पना को उन्होंने अपने धर्म में पूरी तरह अपनाया है। इसलाम और ईसाई मत के अनुयायी यद्यपि पुनर्जन्म के सिद्धान्त को नहीं मानते तथापि उनके मान्य ग्रन्थों में भी यत्र तत्र पुनर्जन्म के सिद्धान्त के पोषक वचन उपलब्ध हैं। यूरोप आदि देशों के भी महान् दार्शनिक और कवि इसे निकाल नहीं पाये। बीसवीं शताब्दी में 'ईश्वर मर गया' का नारा देने वाले निरीश्वर वादी जर्मन दार्शनिक नित्शे को भी पुनर्जन्म को स्वीकार करना पड़ा। उसने लिखा—"कर्मशक्ति के जो रूपान्तर हमेशा हुआ करते हैं, वे मर्यादित हैं और काल अनन्त है। इसलिये कहना पड़ता है कि एक वार जो नामरूप हो चुके हैं, वही फिर भी यथापूर्व कभी न कभी अवश्य उत्पन्न होते हैं और इसी से कर्म चक्र केवल आधिभौतिक दृष्टि से सिद्ध हो जाता है। यह कल्पना या उपपत्ति मुझे अपनी स्फूर्ति से मालूम हुई है।" (Complete works of Nitetsche Vol. XVI P.235–236) मैक्समूलर ने भी मरणोपरान्त आत्मा के सूक्ष्म शरीर के साथ एक नाड़ी के रास्ते हृदय से निकल जाने और अपने कर्मों के अनुसार अगला जन्म धारण करने की बात कही है ॥५॥

पुनर्जन्म न मानने से ईश्वर की न्याय व्यवस्था नष्ट हो जायेगी—

पापपुण्ययोर्विपाकार्थं पूर्वापरजन्मधारणम् ॥६॥

पाप–पुण्य के विपाक के लिए पूर्वापर जन्म धारण करना आवश्यक है।

जीव शाश्वत अर्थात् नित्य है और उसके कर्म भी प्रवाह से नित्य हैं। कर्त्ता और कर्म का नित्य सम्बन्ध है। 'कर्मणा बध्यते जन्तुः'—प्राणी कर्म से बँधा हुआ है। "न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत' (गीता ३-५) बिना कर्म किये कोई मनुष्य पल भर भी नहीं रह सकता। और कर्म का बिना भोगे क्षय नहीं होता। पूर्वापर जन्म न मानने से 'कृतहानि' तथा 'अकृताभ्यागम' का दोष आता और ईश्वर भी 'नैर्घृण्य' एवं 'वैषम्य' का दोषी बनता है। जो लोग परजन्म नहीं मानते उनके गले कृतहानि का दोष पड़ता है; क्योंकि परजन्म न होने से मृत्यु से पूर्व किये गये कर्म बिना फल दिये रह जायेंगे जबकि प्राणिमात्र को सिद्धान्ततः अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता ही है—'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्'। इसीलिये 'कृतहानि' दोष से बचने के लिए परजन्म का मानना आवश्यक है। कर्म किये बिना सुख-दुःख रूप फल का पाना 'अकृताभ्यागम' दोष कहाता है। पूर्वजन्म न मानने से यह दोष उत्पन्न होता है।

एक आत्मा अत्यन्त सुख सम्पन्न परिवार में जन्म लेकर समस्त ऐश्वर्यों का भोग करता और दूसरा दरिद्र की सन्तान बनकर जीवन भर दर-दर की ठोकरें खाता है। ऐसा क्यों? पूर्वजन्म है नहीं जिसमें उन्होंने पाप-पुण्य किये हों। तो फिर, बैठे बिठाये--बिना कर्म किये एक को पुरस्कार और दूसरे को दण्ड क्यों? विना कारण के कार्य हो नहीं सकता। इसलिये इस दोष के निवारणार्थ पूर्वजन्म का मानना अनिवार्य है। इसी प्रकार 'नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः':— परमेश्वर न किसी के पाप को लेता है, न पुण्य को; अपितु सबको अपने-अपने कर्मों के अनुसार फल देता है। तब यदि पूर्वजन्म न माना जाये (जिसमें उसने पाप किया हो) तो विना अपराध के किसी को दण्ड देना उस पर अत्याचार करना है—यही नैर्घृण्य है। संसार में व्याप्त वैषम्य भी इस सन्दर्भ में चिन्त्य है। कोई सुखी है तो कोई दुःखी। यदि यह निर्हेतुक है तो ऐसा करने वाला न दयालु है, न न्यायकारी। पुण्य कर्म के विना सुख देना और पापकर्म के विना दुःखरूप फल देना—दोनों ही अनुचित हैं। इन सब दोषों का एकमात्र समाधान पूर्वापर जन्म मानने से होता है। पूर्वजन्म के कर्मों का फल भोगने के लिए वर्तमान जन्म मानने से अकृताभ्यागम दोष की निवृत्ति हो जाती है और पर-जन्म मानने से वहाँ इस जन्म के कर्मों का फल भोगे जाने से कृतहानि दोष नहीं रहता। ऐसे ही कर्मानुसार सुख-दुःख की व्यवस्था होने से ईश्वर न्याय-कारी सिद्ध होकर उसमें नैर्घृण्य तथा वैषम्य दोष नहीं रहते ॥६॥

पुनर्जन्म की सिद्धि में एक अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

उद्यानार्थञ्च ॥७॥

उन्नति के लिए भी।

यदि इसी जन्म को पहला और अन्तिम जन्म माना जाये तो जीवन का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता। यदि हमें यह विश्वास हो जाये कि इस देह के साथ एक दिन हमारा भी अन्त हो जायगा तो हमें इस जीवन के साथ क्या लगाव रह जायेगा? परिणामतः नैतिक मूल्यों का ह्रास होगा। फिर तो सचाई, ईमानदारी, न्याय, प्रेम, त्याग आदि की उपेक्षा करके 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्' के अनुसार जीवन विताना ही श्रेयस्कर होगा। अल्पज्ञ होने से जीव से इस जन्म में न जाने कितनी भूलें होंगी। पुनर्जन्म न मानने पर उन्हें सुधार करके अपने को पहले से अच्छा बनाने का अवसर ही नहीं रहता। एक कक्षा में रहते हुए एक वर्ष में जो पढ़ लिया सो पढ़ लिया। परीक्षा में असफल होने पर दुबारा पढ़ने का अवसर नहीं और सफल होने पर और आगे पढ़ने का अवसर नहीं। एक ही जन्म में किये कर्मों का फल भोगते रहने के लिए सदा के लिए नरक में छोड़ देना कहाँ का न्याय है? और मनुष्य जीवन का लक्ष्य तो इतना महान् है कि एक जन्म में उसे पाना

नितान्त असम्भव है। इसीलिये गीता में कहा--'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (६-४५) जन्मजन्मान्तर की साधना के वाद कहीं मोक्ष की प्राप्ति होती है।

अर्जुन ने जिज्ञासा की कि योगसिद्धि के लिए प्रयत्नशील कोई व्यक्ति यदि सिद्धि पाने से पहले ही काल का ग्रास वन जाये तो क्या होगा ? श्रीकृष्ण ने समाधान किया कि उसका इस जन्म का पुरुषार्थ व्यर्थ नहीं होगा। आत्मा अमर होने से इस जन्म के संस्कार ज्यों के त्यों बने रहेंगे और इस जन्म में जहाँ उसका अभ्यास छूटा है वहाँ से आगे प्रारम्भ करने के लिये उसे फिर अवसर मिलेगा। इतना ही नहीं, उसे अनुकूल परिस्थितियाँ देने के लिये---

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।
अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्॥

गीता ६-४१, ४२

उसका जन्म श्रेष्ठ कुल में होगा। 'नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः' (मनु. ४-१३७) एक वार की असफलता से निराश नहीं होना चाहिये। यह तभी सोचा जा सकता है जब फिर भी अवसर मिलना निश्चित हो। ईश्वरीय व्यवस्था में पूर्ण सफलता—मोक्ष की प्राप्ति होने तक वार-वार अवसर मिलता है। इसी से जीवन में उत्साह और शुभ कर्मों में प्रवृत्ति को बल मिलेगा। मनुष्य हँसते-हँसते मृत्यु का आलिंगन करेगा, जब उसे विश्वास होगा कि पुराने कपड़े इस लिये उतारे जा रहे हैं कि नये पहनाये जा सकें या एक स्तन से उसे (बालक को) इसलिये हटाया जा रहा है कि दूसरे स्तन से लगाया जा सके॥७॥

जैसे कर्मफल भोगने के लिए पुनर्जन्म होना आवश्यक है वैसे ही पुनर्जन्म के लिए पूर्वजन्म में किये कर्मों का होना अनिवार्य है, क्योंकि—

पूर्वकृतफलानुबन्धाज्जात्यायुर्भोगाः॥८॥

पहले किये कर्मों के फलस्वरूप ही जाति, आयु और भोग होते हैं।

कोई घटना अकारण नहीं घटती। कर्म ही जाति, आयु और भोग में कारण है। अतः जो जाति, आयु अथा भोग इस जन्म के कर्मफलरूप नहीं हैं उनका कारण प्राग्भवीय अदृष्टजन्मवेदनीय कर्म होगा। ईश्वर स्वेच्छाचारी नहीं है। संसार में वैचित्र्य एवं वैविध्य तो प्रत्यक्ष है। किन्तु वह अव्यवस्थित न होकर किसी विधि-विधान के अनुसार है। माली उपवन का व्यवस्थापक होते हुए भी किसी युक्ति से ही वृक्ष लगाता, काटता और उनका संवर्धन करता है। संसार में स्पष्ट दृष्टिगोचर होने वाला स्थिति भेद संग-प्रसंग भेद से हुआ नहीं माना जा सकता। क्योंकि संग-प्रसंग भेद की कल्पना जहां नहीं की जा सकती ऐसी जो माता के उदर की स्थिति है वह भी सब के लिये समान नहीं होती। पेट में होते हुए भी एक जीव के लिए सुख होता है और दूसरा वहीं क्लेश पाता

है। एक धर्मात्मा के पेट से जन्म लेता है और दूसरा पापी के पेट से। ईश्वर न्यायकारी होने से पक्षपात नहीं कर सकता। अतः जात्यायुर्भोगात्मक भेद का कारण आत्मा के अपने कर्म ही हो सकते है।

जन्म का नाम 'जाति' है--जैसे मनुष्य, गौ, घोड़ा, कीट, पतंग, पक्षी आदि। उस देह विशेष का स्थिति काल 'आयु' कहाता है। सुख-दुःख के हेतु विषयों की प्राप्ति का नाम 'भोग' है। इन तीनों का कारण पूर्वजन्म में किये कर्म हैं। यदि ऐसा न होता तो समस्त आत्माओं की स्थिति एक समान होती। जैसे शरीर की उत्पत्ति में कर्म निमित्त हैं वैसे ही शरीर विशेष के साथ संयुक्त होने अर्थात् योनि विशेष में जन्म लेने में भी पूर्वजन्मकृत कर्म ही कारण हैं। इसीलिये एक आत्मा को मनुष्य का, दूसरे को हाथी का, तीसरे को शेर का, चौथे को चिड़िया का और पांचवें को चींटी का शरीर मिलता है। इसी प्रकार एक के जन्म लेते ही मर जाने, दूसरे के ३५ वर्ष तक जीवित रहने और तीसरे के सौ वर्ष पार कर जाने में भी पहले जन्म के किये कर्म ही कारण हैं। एक जीव रानी के गर्भ में आता है और दूसरा घसियारी के। राजपुत्र को गर्भकाल में भी सुख, जन्मते समय सुख और आगे भी जीवन भर सुख ही प्राप्त होता है। जब वह पैदा होता है तब सुन्दर सुगन्धियुक्त जलादि से स्नान, युक्ति से नाड़ी छेदन आदि होता है। जब दूध पीना चाहता है, अविलम्ब यथेष्ट मिलता है। उसे प्रसन्न रखने के लिए चारों ओर नौकर चाकर खड़े रहते हैं। दूसरे का जन्म जंगल में होता है। जन्मते समय किसी प्रकार की सुविधा नहीं। बाल्यावस्था में यथेष्ट खानपान का अभाव और जीवन भर की ठोकरें। इस सुख-दुःख का कारण भी पूर्वजन्म के कर्म ही हैं। इतना ही नहीं--एक आत्मा के धनी परिवार में जन्म लेने किन्तु विकृतांग अथवा अस्वस्थ होने के कारण यथेच्छ भोग करने में असमर्थ होने और दूसरे के स्वस्थ शरीर के स्वामी होकर भी निर्धन परिवार में जन्म लेने के कारण भूख से तड़प-तड़प कर मर जाने में भी पूर्व-जन्म के कर्म कारण हैं। एक के मनुष्य योनि में जन्म लेकर भी पशुओं का सा जीवन व्यतीत करने को विवश होने और दूसरे के कुत्ते की देह में जन्म लेकर भी मोटरों में सैर करने, मनचाहा भोजन करने और गोद में बैठकर दुलराये जाने में भी आत्मा के सुकृत और दुष्कृत कर्म ही निमित्त हैं। यह ठीक है कि 'कर्मणो गहना गतिः' कर्मगति बड़ी गहन और विचित्र है। किन्तु इतना निश्चित है कि जिस प्रकार हम एक ही धरती में से एक सी परिस्थितियों में कहीं आम, कहीं गुलाब, कहीं मटर और कहीं गेहूँ आदि को अंकुरित होता देख सहज ही जान लेते हैं कि यह सब अन्तर बीजों में निहित अन्तर के कारण है, वैसे ही प्राणियों के देह, आयु और भोगों में अन्तर देखकर उनसे संयुक्त आत्माओं के पूर्व कर्मों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। अतः जन्मादि सम्बन्धी विशेषताओं के नियामक अपने-अपने विशेष कर्म ही हैं। यह भी देखा गया है

कि जिनकी जाति अथवा प्रसव (समानप्रसवात्मिका जातिः--न्याय २-२-६८) समान होता है उनकी आयु प्रायः समान होती है और जिनका प्रसव तथा आयु समान होते हैं उनका भोग भी प्रायः समान होता है। जाति, आयु और भोग की प्राप्ति में पूर्वजन्म के कर्मों के स्थान पर ईश्वर की इच्छा या अनुग्रह को कारण मान लिया जाये तो ईश्वर तो अन्यायकारी सिद्ध होगा ही, जीवों की धर्म में प्रवृत्ति न होकर संसार में पाप में वृद्धि होगी।

सूत्रान्तर्गत 'जाति' शब्द से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का ग्रहण नहीं होता। महाभाष्य में अष्टाध्यायी के ४-१-६३ सूत्र में प्रयुक्त 'जाति' शब्द की व्याख्या करते हुए 'जाति' का निम्न लक्षण लिखा है—

आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह॥

इसकी व्याख्या करते हुए कैयट ने लिखा--'आकृतिर्ग्रहणं यस्याः सा आकृतिग्रहणा, अवयवसन्निवेशव्यङ्ग्येत्यर्थः एतेन गोत्व अश्वत्वादिर्जातिर्लक्षिता, ब्राह्मणत्वादिस्तु न संग्रहीता। ब्राह्मणक्षत्रियादीनां संस्थानस्य सदृशत्वादिति'।

इसका तात्पर्य यह है कि जिसका आकृति=शरीर-अवयव-रचना-विशेष से ज्ञान होता है वह 'जाति' है। जैसे--गोत्व, अश्वत्वादि। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के शरीर-अवयव-रचना में समानता होने से ब्राह्मण आदि का 'जाति' शब्द से ग्रहण नहीं होता।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि ब्राह्मणादि आकृत्ति मात्र से ज्ञेय उस प्रकार की मुख्य जाति नहीं है। 'समानप्रसवात्मिका जातिः' (न्याय २-२-६८) इस सूत्र का तात्पर्य भी 'आकृतिग्रहणा' जाति से ही है। यतः ब्राह्मण आदि सामान्य जाति लक्षण से जातिवाचक नहीं हैं। अतः ये शास्त्रीय पारिभाषिक जाति होने से मनुष्य जाति के अन्तर्गत विशेष जाति हैं। इसी से इसे सामान्य विशेषात्मक जाति कहते हैं। वस्तुतः ब्राह्मणादि जातिवाचक न होकर वर्णवाचक शब्द हैं॥८॥

आगे, किस प्रकार के कर्म करने से किस प्रकार के शरीर मिलते हैं— इसका वर्गीकरण करते हैं—

अधर्माद्धर्मपरिवृद्धौ देवानां शरीराणि ॥९॥

अधर्म से धर्म अधिक होने पर देवों का शरीर।

जिनकी मानसिक स्थिति सात्त्विक होती है और इस कारण जिनका पाप न्यून और पुण्य अधिक होता है उन्हें देवों (विद्वांसो हि देवाः--शत०) का शरीर मिलता है। यह शरीर उन वीतराग पुरुषों का समझना चाहिये जो फल की अभिलाषा छोड़कर केवल कर्म का अनुष्ठान करने में तत्पर रहते हैं। इस भावना से कार्य करने वाले यतियों, ब्रह्मचारियों तथा ऐश्वरी सृष्टि में जन्म लेने वाले ऋषियों का इस कोटि में समावेश समझना चाहिये॥९॥

पापपुण्ययोः समत्वे मानुषाणाम् ॥१०॥

पाप-पुण्य समान होने पर मनुष्यों का।

जव इसी जन्म में पाप-पुण्य बराबर हों तो सीधे और जब पाप की अपेक्षा पुण्य अधिक हों अथवा पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक हों तो यथास्थिति उन्हें देवों अथवा पश्वादि के शरीरों में भोग कर जब पाप-पुण्य बराबर हो जायें तो फिर साधारण मनुष्य का जन्म मिलता है। इसमें भी पाप-पुण्य के उत्तम-मध्यम-निकृष्ट होने पर मनुष्य योनि में भी उत्तम-मध्यम-निकृष्ट शरीर मिलता है। उभय योनि होने से इस देह में रहकर जीव पूर्वकृत कर्मों के फलों को भोगते हुए अन्य अनुष्ठानों में तत्पर रहता है ॥१०॥

पुण्यतो दुरितबाहुल्ये पश्वादीनाम् ॥११॥

पुण्य की अपेक्षा पाप अधिक होने पर पश्वादि का।

जब पुण्य की अपेक्षा पाप का आधिक्य हो तो पशु, पक्षी, कृमि, कीट, पतंग आदि का शरीर मिलता है। यहाँ भी पापों की निकृष्टता की अपेक्षा से न्यूनाधिक निकृष्ट शरीरों की व्यवस्था है। पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के लिए ही ऐसा शरीर मिलता है। इसमें रहते हुए जीव यत्किंचित् जो कर्म करता है वह केवल भोग सम्पादन के लिए होता है। उससे किसी प्रकार का संस्कार या वासना उत्पन्न न होने से आगे चलकर उसका विपाक नहीं होता।

मिश्र देश की गुफ़ाओं में मिले शिलालेखों में पुनर्जन्म से सम्बन्धित एक शिला लेख में लिखा है—

"ईश्वर और मनुष्य में इतना अन्तर है कि एक अर्थात् मनुष्य जन्म-मरण के चक्कर में फँसता है, दूसरा अर्थात् ईश्वर नहीं--(इस कथन में वेदोक्त 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनशनन्नन्योऽभिचाकशीति' का भाव स्पष्ट है। अंग्रेज़ी में कहावत है—Man on earth is God subject to death while God in heaven is man free from death' अर्थात् मनुष्य, जन्म-मरण के चक्र में फँसा हुआ ईश्वर है और ईश्वर इस चक्र से मुक्त मनुष्य है। ईश्वर और जीव के भेद की यह चमत्कारपूर्ण काव्यात्मक अभिव्यक्ति है) पुनर्जन्म के चक्कर में फँसी आत्मायें कीट, मत्स्य, पशु, पक्षी तथा मनुष्य के क्रम में से गुज़रती हैं तथा विपरीत क्रम में भी जन्म लेती हैं। पापी आत्माओं को पाप का फल भोगने के लिए पशु जन्म मिलता है।"

इस प्रकार मनुष्य का जीव पश्वादि में, पश्वादि का मनुष्य में, स्त्री का पुरुष में और पुरुष का स्त्री में आता जाता रहता है ॥११॥

पापातिशये स्थावराणाम् ॥१२॥

अतिशय पाप करने पर स्थावरों (वृक्षादि) का शरीर मिलता है।

मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रों से यह प्रमाणित है कि कर्मानुसार भोगादि के लिए जीव को स्थावर शरीर भी मिल सकता है। मनुस्मृति (१२-९) में स्पष्ट कहा है–"शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः"–अर्थात् शरीर द्वारा किये गये पाप कर्मों के कारण प्राणी वृक्ष, गुल्म, लता आदि स्थावर योनियों को प्राप्त होता है। अथर्ववेद (१-३२-१) में 'वीरुधः प्राणन्ति' कहकर वनस्पति आदि में चेतना के अस्तित्व को स्वीकार किया है। अथर्ववेद (८-७-६) तथा छान्दोग्य (६-११-३) में भी इस प्रकार के संकेत मिलते हैं ॥१२॥

न तत्र सुखदुःखानुभूतिः बाह्यसम्बन्धाभावात् ॥१३॥

बाह्य व्यवहार के अभाव में वहां सुख-दुख की अनुभूति नहीं होती।

आत्मा को सुख-दुःख का अनुभव कराने वाले अन्तःकरण का बाह्य जगत् से सीधा सम्बन्ध नहीं होता। सांख्य दर्शन (५-२७) के अनुसार "पञ्चावयवयोगात् सुखसंवित्तिः"–पांच ज्ञानेन्द्रियों का अपने विषयों से सम्बन्ध होने पर ही जीवात्मा को सुख-दुख की अनुभूति होती है। बाह्यावयवों का अपने विषयों से सम्बन्ध न होने के कारण ही सुषुप्ति अथवा मूर्च्छितावस्था में प्राणी को सुख-दुःख की प्राप्ति नहीं होती। कर्णेन्द्रिय के व्यर्थ हो जाने पर गाली मिलने पर भी सम्बद्ध व्यक्ति को बुरा नहीं लगता, पीनस रोग से ग्रस्त व्यक्ति पर दुर्गन्ध का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, अन्धे को न सौन्दर्य के प्रति आकर्षण होता और न कुरूपता के कारण विकर्षण। इस प्रकार यद्यपि प्राकृत नियम व व्यवस्था के अनुसार वनस्पति जगत् में वृद्धि, ह्रास, विकास, बढ़ना-घटना एवं साजात्य प्रजनन आदि क्रियायें अन्य प्राणियों के समान देखी जाती हैं तथापि बाह्यावयवों के अभाव में वहां सुख-दुख की अनुभूति नहीं होती ॥१३॥

कर्मों का फल कब तक मिलता रहता है–अगले सूत्र में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है––

सति मूले तद्विपाकः ॥१४॥

मूल कारण के रहने तक फल मिलता है।

पत्तों और शाखाओं के बार-बार काट देने पर भी वृक्ष यथासमय फिर पूर्ववत् अंकुरित हो पुष्पित-पल्लवित हो जाता है। ऐसा तब तक होता रहता है जब तक उसकी जड़ बनी रहती है।

कर्मों का मूल क्लेश–'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा पञ्चक्लेशाः' (योग-२-३) हैं। जब तक धर्माधर्मरूप कर्माशय के मूल कारण अविद्यादि क्लेशों का नाश नहीं होता जब तक उनका विपाक होता रहता है। जिस प्रकार तुषरहित दग्धबीजभाव चावल में अंकुरित होने का सामर्थ्य नहीं रहता अथवा मूल के काट दिये जाने पर वृक्ष की शाखाओं में फल फूल नहीं उगते उसी प्रकार विवेक

ज्ञान द्वारा उक्त क्लेशों के नष्ट हो जाने पर कर्माशय फल का आरम्भक नहीं रहता। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक कर्मफल भोगने के लिए बार-बार जन्म लेते रहना पड़ता है, क्योंकि 'कर्मैव देहारम्भस्य कारणम्'—कर्म ही शरीर की उत्पत्ति में कारण हैं ॥१४॥

पुनर्जन्म की सिद्धि में कुछ और हेतु प्रस्तुत करते हैं—

सामर्थ्यभेदात् ॥१५॥

सामर्थ्य भेद के कारण।

प्रत्येक जीव का सामर्थ्य दूसरों से भिन्न है। एक ही माँ-बाप के दो पुत्रों को अध्ययन के लिये एक ही गुरु के पास भेजा जाता है। दोनों में एक ही रक्त है। खान-पान तथा रहन-सहन की व्यवस्था में भी पूर्ण समानता है। इतने पर भी देखा जाता है कि एक इतना मूढ़ है कि बार-बार समझाने पर भी उसकी समझ में कुछ नहीं आता जबकि दूसरे की धारणा शक्ति इतनी अच्छी है कि संकेत मात्र से सब समझ जाता है। उसे पढ़ाते समय ऐसा लगता है कि जैसे उसे कोई नई बात नहीं बताई-सिखाई जा रही है अपितु वह पहले पढ़े हुए की आवृत्ति मात्र कर रहा है। एक ओर जहाँ संसार में निपट मूर्खों की कमी नहीं वहाँ दूसरी ओर चार वर्ष की आयु में ही सम्पूर्ण गीता सुना डालने वाले अथवा वेद मन्त्रों के अर्थ करने वाले बालक भी देखने को मिलते हैं। जिन घटनाओं को देखकर भी लोग अनदेखा कर देते हैं उनसे प्रेरणा पाकर न्यूटन, बुद्ध, दयानन्द, जेम्सवाट और रामानुज जैसी आत्मायें संसार को चमत्कृत कर देती हैं। महाराजा भोज के दरबार में चार ऐसे पण्डितों के होने का उल्लेख मिलता है जिनमें से एक को एक बार, दूसरे को दो बार, तीसरे को तीन बार और चौथे को चार बार सुन कर श्लोक याद हो जाते थे। इस बुद्धि-भेद का कारण इस जन्म में कुछ भी नहीं है। ईश्वर ने ऐसा कर दिया—यह मानें तो ईश्वर पक्षपाती ठहरता है। परिस्थितियों को ही मनुष्य के विकास में कारण मानने वाले बालक-बालक और मनुष्य-मनुष्य में पाये जाने वाले इस अन्तर की व्याख्या नहीं कर सकते। मात्र ३२ वर्ष की आयु पाने वाले शंकराचार्य की महान् उपलब्धियां उनके उसी जन्म के पुरुषार्थ का परिणाम नहीं मानीं जा सकतीं। ७-८ की आयु में ही काव्य रचना करने वाले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और वर्ड्सवर्थ को कब किसने कविता करना सिखा दिया? पूर्वजन्मार्जित पाप-पुण्य के अनुसार ही यह सब व्यवस्था है—ऐसा माने विना इसकी व्याख्या संभव नहीं। प्रारम्भ से ही किसी विशिष्ट विषय में रुचि अथवा प्रवृत्ति में भी पूर्वजन्म का अभ्यास ही कारण है। एक जन्म की अभ्यस्त बुद्धि ही अगले जन्म में प्रतिभा (intuition or genius) बन जाती है ॥१५॥

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥१६॥

मरने के बाद (पूर्वजन्म के) आहार के अभ्यास के कारण (जातमात्र बालक को) स्तन्य की अभिलाषा से।

जीव के शरीर की चेष्टा होने से पूर्व प्रथम प्रत्यक्ष होता है, फिर आत्मा पर संस्कार होता है। तदनन्तर स्मृति होती है। स्मृति होने से किसी कार्य में प्रवृत्ति निवृत्ति होती है। माता के उदर से बाहर आते ही बालक श्वास लेने या रोने लगता है। माता का स्तन खींचकर दूध पीने लगता है। पूर्व संस्कारों के बिना यह प्रवृत्ति कहाँ से आई? उसे कब, कौन बता गया कि दूध कहाँ है और कैसे मुंह चला कर पिया जाता है। उसे दूध पीते देखकर यही आभास होता है कि वह सारी प्रक्रिया से भली भांति पहले से परिचित है। पेट भरने पर स्तन को स्वयं छोड़कर अलग हो जाता है। यह निवृति भाव भी कहां से आया? एक दिन के बालक को जिसने अभी अच्छी तरह आंखें भी नहीं खोलीं, माता किसी भी प्रकार की शिक्षा देने में असमर्थ है। स्पष्ट है कि बालक के भीतर स्थित आत्मा को पहले की ही कुछ स्मृति है। उसी के सहारे वह अपना काम चला रहा है। इस जन्म में जिसने अभी आहार का अभ्यास नहीं किया उस जातमात्र बालक का भूख से पीड़ित होने पर आहार के अभ्यास और उसके स्मरण के बिना स्तन्यपान की अभिलाषा को हाथ पैर मार कर और रो रोकर प्रकट करना सम्भव नहीं हो सकता। पूर्व देह में रहते हुए आत्मा के तद्विषयक अभ्यास और उसकी स्मृति ही बालक की इस प्रवृत्ति में कारण हैं ॥१६॥

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षशोकभयसम्प्रतिपत्तेः ॥१७॥

पूर्वजन्म के अभ्यास की स्मृति के कारण सद्योजात बालक के हर्ष, शोक, भय आदि प्रकट होने की सम्भावना से।

बालक के जन्म लेने के अनन्तर उसके व्यवहार में पहले कुछ सप्ताहों में कुछ ऐसी विचित्रता दिखाई देती है जो उसके बड़े हो जाने पर नहीं रहती। सोते-सोते बालक कभी मुस्कराने लगता है, कभी दुःखी सा होकर मुंह बनाने लगता है और कभी डर के मारे कांप उठता या चीख पड़ता है। स्वप्नावस्था में किसी स्मृति के कारण ही ऐसा होता है। बिना किसी वस्तु को देखे या अनुभव किये उसकी स्मृति नहीं हो सकती। स्वप्नावस्था में भी वही देखा, सुना या अनुभव किया जाता है जो पहले कभी जागृतावस्था में देखा, सुना या अनुभव किया होता है। इस जन्म में अभी तक बालक ने सुख, दुःख या भय के कारणों को अनुभव ही नहीं किया। बाह्य जगत् में अभी उसका इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आरम्भ नहीं हुआ। ऐसी अवस्था में पूर्वजन्म के अभ्यास की स्मृति के सिवाय सद्योजात बालक की हर्ष, शोक अथवा भय की अभिव्यक्ति का और कोई कारण नहीं हो सकता ॥१७॥

मरणभयदर्शनाच्च ॥१८॥

और मृत्यु का भय देखे जाने से।

कृमि से लेकर मनुष्य पर्यन्त सभी प्राणी मृत्यु से डरते हैं। जिस प्रकार अत्यन्त मूढ़ में यह क्लेश रहता है उसी प्रकार शास्त्रज्ञ विद्वान् में भी देखा जाता है। कुशल और अकुशल दोनों में ही यह भावना समान रुप से एवं सहज भाव से रहती है। कोई विषय पहले अनुभूत होने पर ही बाद में उसकी स्मृति हो सकती है। अनुभव होने पर वह विषय चित्त में आहित रहता है और उसका पुनः बोध ही स्मृति होती है। मरण भय आदि की स्मृति देखी जाती है। इस जन्म में मरण भय अनुभूत हुआ नहीं है। यदि वह पूर्वजन्म में अनुभव न हुआ होता तो उसका संस्कार संचित न होता। संस्कार के बिना स्मृति न होती। स्मृति के विना भय न होता। जिसने पहले कभी मरणत्रास का अनुभव न किया हो वह 'मा न भूवं भूयासम्' (मैं मरुं नहीं, मैं जीवित रहूं) ऐसी इच्छा नहीं कर सकता। इस प्रकार अमर होने पर भी मरणत्रास से अभिभूत होने से आत्मा के पूर्वजन्म का होना सिद्ध होता है।

'मृत्योर्माऽमृतं गमय' (मृत्यु से अमरता की ओर ले चलो), 'यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः' (जिसकी छाया-आश्रय में अमरता है, अन्यथा मृत्यु), 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति' (उसे जान कर ही मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है) तथा 'मृत्युं तीर्त्वाऽमृतमश्नुते' (मृत्यु को पार कर के अमरत्व की प्राप्ति) आदि श्रुति वचनों से सहज ही पुनर्जन्म की भी सिद्धि होती है। 'हेयं दुःखमनागतम्' (यो. २-१६) अनागत-भविष्यत् दुःख त्याज्य होता है। भूत दुःख भोग से निवृत्त हो चुका है और वर्त्तमान दुःख भोगारूढ़ होने से समय पाकर स्वयं निवृत्त हो जायेगा। इसलिये विचारशील मनुष्य आने वाले दुःख की निवृत्ति के लिए ही प्रयत्न करता है। इस जन्म में तो मृत्यु निश्चित है। अतः उससे वचने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। निश्चय ही इस के वाद होने वाली किसी और मृत्यु से भयभीत होकर उससे बचने के लिये मनुष्य पुरुषार्थ करता है। दूसरी मृत्यु तभी होगी जब पहले दूसरा जन्म होगा। इस जन्म में होने वाली मृत्यु के अनन्तर मोक्ष तो किसी-किसी को ही मिलेगा। अधिसंख्य आत्मायें तो आवागमन–बार-बार जन्म और वारवार मृत्यु के चंगुल में फंसी रहेंगी। इसी से वचने के लिए यह अमरता अथवा मुक्ति के लिए लालायित है। इस प्रकार मरणत्रास से जैसे पूर्वजन्म की सिद्धि होती है वैसे ही पुनर्जन्म की भी ॥१८॥

सर्वग्राह्यत्वादप्यस्य ॥१९॥

इस (पुनर्जन्म) के सभी के द्वारा मान्य होने से भी।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त इतना युक्तियुक्त है कि संसार का कोई भी मनीषी--दार्शनिक, कवि, वैज्ञानिक--इसे स्वीकार किये बिना नहीं रह सकता। दार्शनिक

क्षेत्र में पाश्चात्य देशों में यूनान का स्थान सबसे ऊंचा है। विश्व के बड़े-बड़े दार्शनिक वहां हुए हैं और सभी ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। प्लेटो का प्रत्ययवाद भी इस स्थापना का साक्षी है कि 'आत्मा शरीर से पुराना है।' उसके मत में आत्मा इस जन्म में जो भी ज्ञान प्राप्त करता है वस्तुतः वह पूर्वजन्मों के अनुभवों की आवृत्तिमात्र है--'ज्ञान केवल स्मरण है' (To know is to remember)। प्लेटो की ही दो अन्य सूक्तियां हैं—

'आत्मा अपना चोला सदा बदलता रहता है' (The soul always weaves her garment anew)

'आत्मा में बार-बार जन्म लेने की स्वाभाविक शक्ति विद्यमान है' (The soul has a natural strength which will hold out and be born many times)

पिथेगोरस ने लिखा—'अविनाशी आत्मा मृत्यु के अनन्तर मनुष्य या पशु-योनि में जन्म लेता है' (All things are but altered. Nothing dies and here and there the unbodied spirit fiies, by time and force or sickness dispossessed and lodges where it lights in man or beast)

प्लैटो के सुयोग्य किन्तु प्रतिद्वन्द्वी शिष्य अरस्तू (Aristotal) की मान्यता है कि आत्मा नित्य और भौतिक शरीर से भिन्न (Something divine and immortal) है। वह समस्त जगत् का छायाचित्र (Microcosm) है जो पशु, कीट, वनस्पति, मनुष्य आदि योनियों में से गुज़र कर उस-उस योनि का अनुभव एकत्र करता जाता है।

एम्पीडोक्लीज़ ने पुनर्जन्म का आधार सांख्य दर्शन (नावस्तुनो सिद्धिः—१-४३) तथा गीता (नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः) के अनुसार आत्मा के नित्यत्व को ही माना। पुनर्जन्म में विश्वास के कारण ही वह मांस भोजन से भी घृणा करता था—"There sprang up in Empedoclese from the belief in transmigration of souls a dislike to flesh as food." (Calcutta Review, Vol. LXii, p. 97)

पुनर्जन्म के सन्दर्भ में प्रसिद्ध दार्शनिक ह्यूम का कहना है—"Metempsychosis is the only theory to which philosophy can hearken, since what is incorruptible is ungenerable" अर्थात् दर्शनशास्त्र को पुनर्जन्म का सिद्धान्त मानना पड़ेगा, क्योंकि जो अनन्त (अविनाशी) है वह अनादि (अनुत्पन्न) है।

फ्रांस के लैसिंग ने तर्क दिया कि "मनुष्य का स्वभावतः पापी होना (जैसा कि बाइबल मानती है) तभी स्वीकार किया जा सकता है जबकि पुनर्जन्म को माना जाये। अन्यथा पाप कहां से आया? यदि कहो कि ईश्वर ने मनुष्य के

साथ लगा दिया तो ईश्वर भी पापी ठहरता है।" काण्ट ने अपने समस्त दर्शन-शास्त्र की नींव आचार शास्त्र के ऊपर रक्खी। वह कहता है–"धर्म का सम्बन्ध सुख के साथ है और अधर्म का दुःख के साथ। किन्तु हम देखते हैं कि इस जगत् में दुर्जन पुरुष फलते फूलते तथा सज्जन दुःख पाते हैं। यदि कोई न्यायकारी ईश्वर जगत् का अधिष्ठाता है तो वह अवश्य ही भविष्य में दुष्टों को दुःख का भोग और सज्जनों को सुख का भोग अवश्य करायेगा।"

स्पीनोज़ा, हेगल आदि ने भी आत्मा की नित्यता तथा पुनर्जन्म को स्पष्ट तौर पर स्वीकार किया है।

आधुनिक काल के महान् दार्शनिक आइकन (Eucken) का कहना है कि जीवन की सबसे पुष्ट व्याख्या वह है जो मनुष्य को प्राकृतिक जगत् से उठाकर परमात्मा की ओर ले जाये और यह भी बताये कि उन्नति का क्षेत्र केवल इसी जन्म तक सीमित नहीं है अपितु भविष्य के जन्मों तक फैला है। काण्ट के स्वर में स्वर मिलाते हुए आइकन ने भी कहा–"If this does not happen in the present life, then it must happen in a future life. The more detailed elaboration of this conception has struck different paths. One such path was the doctrine of transmigration of soul."

(Eucken's Essays, P. 106)

ईसाई लोग (मुसलमान भी) आत्मा की उत्पत्ति तो मानते हैं किन्तु नाश नहीं मानते। ट्रिनिटी कालेज कैम्ब्रिज में दर्शन शास्त्र के आचार्य प्रोफ़ेसर मैकटेगर्ट ने अपनी पुस्तक (Human immortality and pre-existence) 'आत्मा की अमरता और पूर्वसत्ता' में इस विषय का विवेचन करते हुए लिखा–"यदि आत्मा बनाया गया तो प्रश्न होता है कि किस लिए बनाया गया। यदि प्रत्येक आत्मा नवीन उत्पन्न किया जाता है तो उसके उत्पन्न करने की क्या आवश्यकता पड़ गई। संसार तो उसकी उत्पत्ति से पूर्व भी चल रहा था–"

"If the universe got on without me for a hundred years, what reasons could be given for denying that it might get on without me a hundred years more."

यदि आत्मा को अनन्त मानते हो तो अनादि भी मानो। और आत्मा को अनादि और अनन्त मान लेने पर यह भी मानना पड़ेगा कि प्रारम्भ से ही अनेकों आत्मायें हैं–कोई किसी से पैदा नहीं होती। तब, जिस कारण वर्तमान जन्म हुआ उसी कारण से जन्मान्तर भी होंगे।

प्रकृति के महान् कवि वर्ड्सवर्थ ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'बाल्यकाल की स्मृतियों में अमरता का संकेत' (Intimation of immortality from recollections of early childhood) में पुनर्जन्म की इन शब्दों में व्याख्या की है—

Our birth is but a sleep and a forgetting,
The soul that rises with us, our life's star—
Hath had its setting elsewhere,
And cometh from afar.

जिस प्रकार तारे छिपकर फिर निकल आते हैं इसी प्रकार आत्मा एक शरीर को छोड़कर बहुत दूर कहीं दूसरा जन्म धारण कर लेता है। अपनी एक और कविता "The primrose of the rock' में पुष्पों तथा अन्य वनस्पतियों की परिवर्तनशील अवस्था को देखकर वह विश्वास प्रकट करता है कि मनुष्य के जीवन में भी इसी प्रकार मुरझाने के वाद पुनर्जन्म होता है—

Sin-blighted though we are, we too,
The reasoning soul of man,
From our oblivious winter called,
Shall rise and breathe again.

टेनीसन कहता है—

And when we muse and brook,
And ebb into a former life,
We say, all this hath been before,
Although I know not in what time or place,
Methought that I had often met with you.

हमें ठीक तरह याद भले ही न हो कि पूर्वजन्मों में कब, कहां मिले किन्तु यह निश्चित है कि हम एक दूसरे से अनेक बार मिले हैं।

अमरीका के महान् सन्त, साहित्यकार तथा दार्शनिक इमर्सन अपना अनुभव बताते हैं—'We wake and find ourselves on a stair. There are other stairs below us which we seem to have ascended; there are stairs above us, many a one which go upward and out of sight.'

बहुत सी सीढ़ियां हमसे नीचे हैं जिन्हें हम चढ़ चुके हैं और बहुत सी हम से ऊपर हैं जिन पर हमें अभी चढ़ना है।

वर्तमान युग में इंगलैण्ड में ऋषि कल्प समझे जाने वाले एडवर्ड कारपेण्टर ने अपने ग्रन्थ 'The Drama of love and hatred--a study of human evolution and transmigration' में लिखा कि 'जो मनुष्य इस पृथिवी पर जन्म धारण करता है वह इस जगत् के लिए कोई सर्वथा नवीन आत्मा नहीं होता।'

आशावाद का एकमात्र आश्रय पुनर्जन्म का सिद्धान्त है—इस तथ्य की कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भावात्मक अभिव्यक्ति करते हुए लिखा—

'The child cries out when from the right breast the mother takes it away, in the very next moment to find in the left one its consolation.'

जब माता बच्चे को एक स्तन से हटाती है तो बच्चा चिल्लाता है किन्तु ज्यों ही अगले क्षण वह उसे दूसरे स्तन से चिपटा लेती है वह शान्त हो जाता है ॥१६॥

विपक्षी शंका प्रकट करता है कि यदि पुनर्जन्म होता है तो पूर्वजन्म की स्मृति क्यों नहीं रहती ? इस शंका का समाधान करते हैं—

संस्कारदौर्बल्यात् विस्मरणम् ॥२०॥

संस्कारों की निर्बलता के कारण (पूर्वजन्म की) स्मृति नहीं रहती।

संस्कारों की निर्बलता के दो कारण होते हैं--एक तो ज्ञान के समय ही उनकी गहरी छाप न पड़ना और दूसरा आवश्यकता न होने के कारण उनके बार-बार न उभरने से शिथिल हो जाना। दो जन्मों के बीच का अन्तराल भी संस्कारों को निर्बल कर देता है। व्यवस्थानुसार कुछ जीव शीघ्र ही दूसरे शरीर में पहुंच जाते हैं। ऐसे जीवों के संस्कारों के सर्वथा शिथिल न होने के कारण उन्हें पूर्वजन्म की अनेक बातें याद रह जाती हैं। आयु के बढ़ने के साथ-साथ यह स्मृति शिथिल होती जाती है। परन्तु जो आत्मायें दूसरे शरीर को देर से ग्रहण कर पाती हैं, भिन्न-भिन्न प्रकार के वायुमण्डलों में लम्बी यात्रा के कारण उनके संस्कार निर्बल पड़ जाने के कारण उन्हें पिछले जन्म की बातें भूल जाती हैं ॥२०॥

पूर्व जन्म का स्मरण न होने में एक अन्य हेतु देते हैं—

उद्बोधकाभावाद्वा ॥२१॥

उद्‌बोधक कारण के अभाव में भी (स्मरण नहीं होता)।

अन्तःकरण में जन्म जन्मान्तर के अनेक संस्कार पड़े रहते हैं। परन्तु उपयुक्त उद्‌बोधक के अभाव में उनकी स्मृति नहीं होती। स्मरण उन्हीं का होता है जिनके उद्बोधक उपस्थित हो जाते हैं। इसी जन्म में कई वर्ष पूर्व देखे गये व्यक्ति अथवा घटना की स्मृति तब तक नहीं हो पाती जब तक कोई उपयुक्त उद्बोधक उपस्थित नहीं कर दिया जाता। इस जन्म में पूर्व जन्म के संस्कारों का उद्बोधक न रहने से उनका स्मरण नहीं रहता ॥२१॥

इसी विषय में एक और हेतु प्रस्तुत करते हैं—

निमित्ताभावाच्च ॥२२॥

और निमित्त न रहने से।

जीव का ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक स्वाभाविक और दूसरा नैमित्तिक। स्वाभाविक ज्ञान नित्य होता है किन्तु नैमित्तिक ज्ञान में न्यूनाधिक्य होता रहता है। अग्नि का स्वाभाविक गुण उसकी दाहक शक्ति है। यह गुण उसके परमाणुओं तक में रहता है। इसलिये उसका यह निज धर्म उसे कभी नहीं छोड़ता। इस प्रकार अग्नि की दाहक शक्ति का ज्ञान स्वाभाविक ज्ञान है। जल में शीतलता विषयक ज्ञान स्वाभाविक है। फिर भी अग्नि के संयोग के कारण जल में उष्णता का धर्म उत्पन्न हो जाता है और वियोग होने से नहीं रहता है। इसलिये जल के उष्ण होने का ज्ञान नैमित्तिक है। इसी प्रकार जीव को—'मैं हूं' अर्थात् अपने अस्तित्व का जो ज्ञान है वह स्वाभाविक है। परन्तु नेत्रादि इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान नैमित्तिक है। यह नैमित्तिक ज्ञान तीन कारणों से उत्पन्न होता है—देश, काल, और वस्तु। इन तीनों का जैसा २ सम्बन्ध होता है वैसे २ संस्कार आत्मा पर पड़ते हैं। जैसे २ ये निमित्त हटते जाते हैं वैसे २ इस नैमित्तिक ज्ञान में कमी आती जाती है अर्थात् पूर्व जन्म देश, काल और शरीर का वियोग होने से उस समय का नैमित्तिक ज्ञान नहीं रहता।

जीव अल्पज्ञ है, त्रिकालदर्शी नहीं। परिमित सामर्थ्य वाला होने से उसके आत्मा में अनेक जन्मों के सभी संस्कार नहीं रह सकते। अतएव पूर्वजन्म के अनुभवों के आवश्यक अंश (जिनके विना जीवन यात्रा सम्भव नहीं) छोड़कर शेष वहीं रह जाते हैं। फिर, 'युगपद् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' (न्याय.१-१-१६) ज्ञान का स्वभाव ऐसा है कि वह अयुगपद् क्रम से होता है अर्थात् एक समय में आत्मा में एक से अधिक ज्ञान स्फुरित नहीं हो सकते। इसलिये भी पूर्वजन्म के ज्ञान का स्फुरण आत्मा को नहीं होता। मन का स्वभाव भी ऐसा होता है कि वह सन्निहित पदार्थ के विषय में रागद्वेष उत्पन्न करता है। सानिध्य छूटने से उसे विस्मरण हो जाता है। फिर पूर्व जन्मावस्था में यदि आत्मा को दूरगत पदार्थ विषयक विस्मरण होता है तो इसमें क्या आश्चर्य है? ॥२२॥

तो क्या किसी भी अवस्था में पूर्व जन्म का ज्ञान नहीं हो सकता? इस जिज्ञासा का समाधान करते हैं—

संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजन्मज्ञानम् ॥२३॥

संस्कारों का साक्षात्कार होने से पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।

जिससे स्मृति, राग, द्वेष तथा सुख दुःख प्राप्त होते हैं उस वासना—विशेष तथा धर्माधर्मरुप अदृष्ट का नाम 'संस्कार' है अर्थात् स्मृति एवं रागद्वेष की जनक चित्त में रहने वाली वासना और सुखदुःखरुप भोग के जनक धर्माधर्मरुप प्रारब्ध कर्म—इन दोनों को संस्कार कहते हैं। जो योगी संयम के द्वारा उक्त दोनों प्रकार के संस्कारों को साक्षात् कर लेता है उसे पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। जिन संस्कारों से पूर्व अनुभव किये हुए पदार्थों में स्मृति, इच्छा तथा द्वेष उत्पन्न

होता है उन्हें 'वासना' और जिनसे जन्म, आयु तथा भोग की प्राप्ति होती है उन्हें धर्माधर्म कहते हैं। यह दोनों प्रकार के संस्कार जिस जाति के होते हैं उसी के समान पदार्थों की स्मृति तथा प्राप्ति आदि के हेतु होते हैं। इसलिये संयम द्वारा उक्त संस्कारों का साक्षात्कार हो जाने से योगी को अपने पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। योगी होने के कारण ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा था—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतपः ॥—गीता ४-५

जीवात्मा अनादि होने के कारण तुम्हारे और मेरे दोनों के ही अनेक जन्म हो चुके हैं। अपने योग व सामर्थ्य से मैं उन्हें जानता हूं किन्तु तू नहीं जानता।

'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' (योग. १-२) चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहते हैं। जब मनुष्य बाह्य विषयों से चित्त को हटा कर भीतर केन्द्रित करता है तो संस्कारों और संस्कार जन्य जन्मों का यथावत् स्मरण हो सकता है। किन्तु इस कार्य के लिये वांछनीय संयम और अभ्यास दीर्घकालतक निरन्तर और श्रद्धापूर्वक करना आवश्यक है। इसी को स्पष्ट करने के लिये योगदर्शन (१-२४) में कहा गया—'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः'। यहां 'दीर्घकाल' से तात्पर्य जीवन पर्यन्त, 'नैरन्तर्य' से निरपवाद तथा 'संस्कार' से ब्रह्मचर्यानुष्ठान है—

मनुस्मृति (४-१४८, १४९) में भी इसी संयम और एकाग्रता को पूर्वजन्म-स्मरण का साधक बताया है—

वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च।
अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥
पौर्विकीं संस्मरन् जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः।
ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥

क्या योगी के अतिरिक्त किसी अन्य को भी पूर्वजन्म का स्मरण हो सकता है—इसका उत्तर देते हैं—

मुक्तात्मनश्च तथैव ॥२४॥

इसी प्रकार मुक्तात्माओं को भी।

जिसे धनञ्जय वायु का ज्ञान हो जाता है और जिसकी आत्मा उसमें संचार करती है तथा जिसके आत्मा से पूर्वजन्म के संस्कार निकल चुके हैं, जिसके आत्मा को स्थायी शान्ति प्राप्त हो चुकी है और जिसे अत्यन्त पवित्रता, स्थिरता, और ज्ञानोन्नति की पहचान हो चुकी है ऐसे योगी को परमानन्द प्राप्त होता है। ऐसे मुक्त पुरुषों को देश–काल–वस्तु परिच्छेद का युगपद् ज्ञान होता है। उन्हें युगपद् ज्ञान की बाधा नहीं होती।

मुक्त और बद्ध जीवों का अन्तर बताते हुए प्रशस्तपादाचार्य ने वैशेषिक दर्शन के भाष्य में लिखा है—

"शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजञ्च । योनिजशरीरो हि महता गर्भवासादि-दुःखप्रवन्धेन विलुप्तसंस्कारो जन्मान्तरानुभूतस्य सर्वस्य न स्मरति । ऋषयः प्रजापतयो मनवस्तु मानसा अयोनिजशरीरविशिष्टाः दृढसम्बन्धिनो दृढसंस्काराः कल्पान्तरा सूतं सर्वमेव शब्दार्थव्यवहारं सुप्तप्रतिबुद्धवत्प्रतिसन्दधते ।"

योनिज और अयोनिज भेद से दो प्रकार का शरीर होता है। साधारण योनिज प्राणियों को गर्भवासादि का दुःख सहन करना पड़ता है अतएव उनके लिए पुनर्जन्म और वर्तमान जन्म के मध्य बड़ा अन्तर पड़ जाने से सब कुछ स्मरण नहीं रहता। सृष्टि के आदि में जो लोग उत्पन्न होते हैं वे अमैथुनी सृष्टि में होते हैं। उन्हें गर्भवास का कष्ट नहीं सहना पड़ता। अतएव वे लोग अपने पूर्वजन्म के ज्ञान का स्मरण करने में समर्थ हैं। उनकी अवस्था सोकर उठे मनुष्य के समान होती है जिसे सोने से पहले की बातें प्रायः स्मरण रहती हैं ॥२४॥

तो क्या मात्र स्मृति न रहने से पूर्वजन्म का निषेध हो सकता है ?—

न तु स्मृत्यभावात्प्रतिषेधो वर्तमानजन्मन्यनुभूतस्यापि विस्मरणात् ॥२५॥

स्मृति न रहने मात्र से पूर्वजन्म का निषेध नहीं होता, वर्त्तमान जन्म की घटनाओं और व्यवहारों का विस्मरण हो जाने से।

पूर्वजन्म में हमारा आत्मा जिन साधनों से सम्पन्न था उन निमित्त रूप साधनों के इस जन्म में न होने से यदि पूर्वजन्म का स्मरण नहीं होता तो कुछ भी आश्चर्य का विषय नहीं है जबकि हम देखते हैं कि हमें वर्त्तमान जन्म में देखे, सुने और अनुभव में आये व्यवहारों और घटनाक्रम में से भी बहुत कम का स्मरण है। इसी देह में जब गर्भ में जीव था, शरीर बना, पश्चात् जन्मा। फिर पांच वर्ष की आयु तक बहुत कुछ कहा, किया और भोगा। किन्तु कालान्तर में वह सब भूल गया। आज कुछ भी स्मरण नहीं है। तो क्या इससे यह मान लिया जायेगा कि न वह कभी गर्भ में था, न कभी उत्पन्न हुआ और न कभी उसका बचपन रहा ? इसके बाद भी जो कुछ हुआ उसका बहुत थोड़ा अंश हमारी स्मृति में शेष है। फिर भी भूले हुए की वास्तविकता को नकारा नहीं जा सकता। हम यह भी देखते हैं कि जागृतावस्था में जिन बातों का स्मरण होता है उनका निद्रा में सर्वथा विस्मरण हो जाता है और आगे जागने के बाद भी उनमें से बहुतों का विस्मरण हो जाता है। फिर, दो जन्मों के बीच तो मृत्यु आ जाती है और मृत्यु होना महाव्यावृत अन्धकार में गिरना है। वस्तुतः विस्मृति के बिना स्मृति हो ही नहीं सकती। पुराने और अनावश्यक

को छोड़ते जाना तथा नये एवं उपयोगी को ग्रहण करते जाना ही अच्छी स्मृति का लक्षण है। अतः पूर्वजन्म की स्मृति न होने से उसके होने में सन्देह नहीं किया जा सकता ॥२५॥

किन्तु पूर्वजन्म की स्मृति बिल्कुल न रहती हो ऐसी बात नहीं है—

न हि स्मृतेरत्यन्ताभावः ॥२६॥

निश्चय ही स्मृति का अत्यन्ताभाव नहीं होता।

इससे पूर्व सूत्र १०, ११, १२, १३ में स्पष्ट किया जा चुका है कि बालक को पूर्वजन्म की स्मृति होने से ही वह पालने में पड़ा-पड़ा हँसता, रोता, दुखी होता और भयभीत होकर चीख पड़ता है। धीरे-धीरे वह नये अनुभव प्राप्त करता जाता है। फिर भी पूर्वजन्म में अनुभूत मरण भय को नहीं भूल पाता। ४-५ वर्ष की आयु का बालक जिसने इस जीवन में अभी कुछ नहीं जाना वह जब धारा प्रवाह संस्कृत में गीता के श्लोकों या वेदमन्त्रों की झड़ी लगा देता है अथवा दूर तक एक भी फ्रैंच या अन्य किसी भाषा के जानने वाले के न होने पर भी विदेशी भाषा में धाराप्रवाह भाषण देने लगता है तो यह पूर्वजन्म की स्मृति का प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं तो और क्या है? आये दिन पत्र-पत्रिकाओं में उन बालकों की चर्चा होती है जो अपने पूर्वजन्म के विषय में पूरी-पूरी जानकारी देते हैं और खोज करने पर वह सत्य प्रमाणित होती हैं। योगियों तथा मुक्तात्माओं द्वारा पूर्वजन्म के स्मरण का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अतः यदि पूर्वजन्म की स्मृति को ही पूर्वजन्म होने में प्रमाण माना जाये तो वह भी सर्वथा सिद्ध है ॥२६॥

फिर एक शंका उपस्थित होती है—

नातः शुद्धिर्न्यायश्चेति स्मृत्यभावात् ॥२७॥

स्मृति के अभाव में न न्याय होगा, और न सुधार।

ईश्वर पूर्वजन्म में किये कर्मों के फलस्वरूप सुख-दुःख तो देता है किन्तु उन कर्मों से जीव को अवगत नहीं कराता। अपराधी को अपराध बताये बिना और उसे स्पष्टीकरण का अवसर दिये बिना दण्ड देना घोर अन्याय है। इसके अतिरिक्त दण्ड का उद्देश्य अपराधी को भविष्य में वैसे अपराध से विरत करके उसका सुधार करना और सत्कर्मी को पुरस्कृत कर शुभ कर्मों में अधिकाधिक प्रवृत्त करना होता है। किन्तु सम्बद्ध व्यक्ति को कर्मों का ज्ञान न होने से इस उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती। अतः स्मृति के अभाव में कर्मफल देना न न्याय है, न उपयोगी ॥२७॥

अगले सूत्र में इस शंका का समाधान किया है—

नीचोच्चसुखिदुःखिदर्शनादभीष्टसिद्धिः ॥२८॥

नीच-ऊँच तथा सुख-दुःख को देखने से अभीष्ट की सिद्धि है।

संसार में कोई सुखी है तो कोई दुःखी, कोई विद्वान् है तो कोई मूर्ख, कोई धनी है तो कोई निर्धन। यह सब प्रत्यक्ष देखा जाता है। हम यह भी जानते हैं कि कारण के बिना कार्य नहीं होता। इस प्रकार सुख-दुखादि के रूप में कार्य को प्रत्यक्ष देखकर उनके कारण पाप-पुण्य का शेषवत् अनुमान द्वारा निश्चय हो जाता है। यह ठीक है कि जहाँ विद्वान् पुरुष कारण और कार्य दोनों का यथावत् निश्चय करने में समर्थ होता है वहाँ सामान्य जन कार्य को ठीक-जानता हुआ भी उसके कारण का यथावत् निश्चय नहीं कर पाता। रोग से ग्रस्त होने पर प्रत्येक रोगी उसका प्रत्यक्ष अनुभव करता है। वह यह भी जानता है कि इस रोग का कारण कोई न कोई कुपथ्य है। कुपथ्यों का भी उसे पर्याप्त ज्ञान होता है। किन्तु किस कुपथ्य विशेष से कौन सा रोग होता है–वह इतना नहीं जानता। इसके विपरीत चिकित्सा शास्त्र में निष्णात वैद्य रोगी के समान रोग रूपी कार्य का प्रत्यक्ष करने के साथ-साथ उसके कारण विशेष का भी यथावत् निश्चय कर लेता है। इसी प्रकार जगत में व्याप्त सुख-दुख और विषमता को देखकर सब कोई उनके कारण पाप-पुण्य का अनुमान कर लेते हैं। क्या पाप है और क्या पुण्य तथा पाप का फल दुःख और पुण्य का फल सुख होता है–यह भी सब जानते हैं। वह केवल इतना नहीं जानते कि किस कर्म विशेष का कौन सा फल होता है। तब सब प्रकार के दुष्कर्मों से दूर रह कर सत्कर्मों में ही प्रवृत्त रहने से जीव का सुधार सहज सम्भव है। इसी प्रकार यह निश्चय होने से कि ईश्वर न्यायकारी है इसलिये वह अकारण किसी को सुखी दुःखी नहीं बना सकता, उसकी न्याय व्यवस्था में किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता। सर्वज्ञ होने के कारण उसे अपराधी से स्पष्टीकरण की भी अपेक्षा नहीं होती। वह जीव के विषय में–उसकी अन्तःस्थिति, परिस्थिति, अल्पज्ञता तथा अल्पशक्ति आदि के विषय में इतना जानता है जितना जीव स्वयं नहीं जानता। इस प्रकार ईश्वर की न्याय-बुद्धि में आस्था रखने और कार्य-कारण भाव को जानने से पूर्वजन्म के कर्मों को ठीक-ठीक न जानने पर भी प्रयोजन की सिद्धि सम्भव है ॥२८॥

पूर्वजन्म की स्मृति न रहने में ही जीव का कल्याण है–इसका प्रदिपादन करते हैं—

आत्महितार्थं विस्मरणम् ॥२९॥

भूल जाने में जीव का हित है।

पूर्वजन्मों का स्मरण न रहने से ही जीव सुखी है। परमकारुणिक परमात्मा की यह असीम कृपा है कि हमें पूर्वजन्म के घटनाक्रम का स्मरण नहीं होता।

अन्यथा जीव पूर्व जन्मों की याद कर करके मर जाता। दुःखद योनियों एवं घटनाओं को स्मरण करके अपने वर्तमान जीवन में विष घोल लेता और अच्छे दिनों की याद कर करके सदा रोया करता। वस्तुतः यदि साधारण मनुष्य को अपने पूर्वजन्मों की स्मृति बनी रहती तो पुनर्जन्म का उद्देश्य ही पूरा न हो पाता। उसका हित इसी में है कि वह अतीत को भूलकर अपने को नई परि-स्थितियों के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करे। जब कोई मरता है तो इस जन्म का सार अपने साथ ले जाता है और अनावश्यक अंश यहाँ छोड़ जाता है। इस सार को ही संस्कार कहते हैं। यही संस्कार अगले जन्म में आत्मा के साथ जाते हैं। आत्मा पर पड़े नाना प्रकार के इन संस्कारों के सहारे ही वह अपने भावी जीवन का निर्माण करता है। जन्मजन्मान्तर की यदि सारी बातें याद रह जायें तो उनके बोझ को ढोते फिरना आत्मा के लिये दुःसाध्य हो जाये। यदि सब कुछ याद रह जाये तो पूर्वजन्मों के शत्रुओं से बदला लेने के घात प्रतिघात में लगा रहे। पुरानी समृद्धि को ललचाई आंखों से देख देखकर ईर्ष्यालु हो हड़पने की चेष्टा किया करे। बेटे पोतों के मोह में उनसे लिपट-लिपटकर रोता रहे। निश्चय ही अधिकांश लोगों का जीवन दुःखमय हो जाये। इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति के साधनोपायों में न लग कर दुर्लभ मानव जीवन को व्यर्थ गँवा बैठे। अतएव पुरानी बातों को स्वतः भूल जानेकी व्यवस्था करके परमेश्वर ने जीवों का कल्याण ही किया है ॥२६॥

अब कर्मफलोपभोग के लिये जन्मजन्मान्तर की व्यवस्था का प्रतिपादन करते हैं—

अनेकं कर्मैकजन्मकारणम् ॥३०॥

अनेक कर्म एक जन्म का निष्पादन करते हैं।

कर्मों के उपभोग के विषय में चार कल्पनायें सम्भव हैं—

१—एक कर्म एक ही जन्म का कारण होता है।

२—एक कर्म अनेक जन्मों का संपादन करता है।

३—अनेक कर्म अनेक जन्मों का कारण बनते हैं।

४—अनेक कर्म एक ही जन्म का निष्पादन करते हैं।

एक कर्म एक ही जन्म का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि अनादिकाल से संचित, असंख्य अवशिष्ट कर्मों तथा वर्तमान कर्मों के जो फल हैं उनके क्रम का अनियम होने से कर्माचरण में कोई आश्वासन नहीं रहता। एक-एक कर्म के लिये एक-एक जन्म होगा तो अनन्त कर्मों के भोग का पर्याय कैसे आयेगा ?

एक कर्माशय अनेक जन्मों का कारण भी नहीं हो सकता, क्योंकि अनेक कर्मों में से यदि एक-एक कर्म ही अनेक जन्मों का निष्पादक हो जाये तो अव-शिष्ट कर्मों के लिए फलदान का समय ही न रहेगा।

अनेक कर्म, अनेक जन्मों का सम्पादन भी नहीं कर सकते, क्योंकि अनेक जन्म एक साथ तो हो ही नहीं सकते। यदि क्रम से होना माना जाये तो पूर्वोक्त दोष आता है।

अतः अनेक कर्म मिल कर एक ही जन्म निष्पन्न करते हैं। जिन कर्माशयों से एक जन्म होता है वही जन्म उनसे आयु पाता है और आयुष्काल में उन्हीं से सुख-दुःख का उपभोग करता है। इस प्रकार जाति, आयु और भोग के रूप में कर्माशय त्रिविपाक है ॥३०॥

पुनर्जन्म के रूप में प्राप्त होने वाली योनियों का वर्गीकरण करते हैं—

कर्मभोगोभययोनिभेदात्त्रिधा व्यवस्था ॥३१॥

कर्म, भोग तथा उभय योनि के भेद से तीन प्रकार की व्यवस्था है।

योनियां तीन प्रकार की है। एक कर्मयोनि-जिसमें जीव के पूर्व कर्म शेष न रहने से कर्मों का विपाक नहीं होता। वह केवल भविष्य के लिए कर्म करते हैं। दूसरी भोगयोनि—इसमें जीव केवल पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के लिए आता है। तीसरी उभययोनि—इसमें जीव पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के साथ-भविष्य के लिये कर्म भी करता रहता है। यह वर्गीकरण प्राधान्य की दृष्टि से किया गया है। प्रयत्न गुणवाला होने से जीव भोगयोनि में भी कुछ न कुछ अवश्य करता है क्योंकि विना कर्म के तो भोग भी सम्पन्न नहीं होता। किन्तु विधि निषेध से मुक्त होने के कारण भोगयोनि में किये गये कर्मों से फलोत्पादक अन्य संस्कार या वासना उत्पन्न नहीं होते। इसलिये ऐसे कर्मों का कोई महत्त्व नहीं है। इसी प्रकार कर्मदेह में भी भोग होता है, क्योंकि देह रक्षा के लिए उपयुक्त खान-पान, वस्त्रादि की व्यवस्था तो करनी ही पड़ती है। किन्तु यह भोग कर्म विपाक के रूप में नहीं होता। अतः जो देह मुख्य रूप से जिसलिये मिलता है उसी के आधार पर उसका वर्गीकरण किया जाता है। पूर्वकृत कर्मों के फलोपभोग के साथ जहाँ ऐसे कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है जो वासना, संस्कार आदि को जन्म देने के कारण आये भोग को प्रस्तुत करते हैं वह उभय योनि कहलाती है ॥३१॥

कर्मयोनिर्मुक्तात्मनाम् ॥३२॥

मुक्तात्मा को (मुक्ति से लौटने पर) कर्मयोनि मिलती है।

कर्म शेष न होने से मुक्तात्मायें सृष्टि के आदि में प्रकट होने वाले वेद-प्रवक्ता ऋषियों तथा अन्य देव पुरुषों के रूप में कर्मयोनि में जन्म लेती हैं। अयोनिज होने के कारण उन्हें गर्भवासादि का दुःख भी नहीं सहना पड़ता ॥३२॥

भोगयोनिः पश्वादीनाम् ॥३३॥

पशु आदि भोगयोनि हैं ।

पशु, पक्षी, कृमि, कीट, पतंग, स्थावर आदि भोगयोनि हैं । जीवनयापन के लिये उन्हें भी कुछ न कुछ करना पड़ता है । परन्तु उसके ये कर्म मात्र नैसर्गिक क्रियायें है । उनका विपाक नहीं होता ॥३३॥

उभययोनिस्तु मानवानाम् ॥३४॥

किन्तु मनुष्य उभययोनि है ।

एक मनुष्य योनि ही ऐसी है जिसमें रहता हुआ जीव अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की सिद्धि कर सकता है । इसीलिये अन्य योनियों में पाप-पुण्य के फल भोग कर बार-बार इस योनि में आता है । इसी योनि में संचित, प्रारब्ध तथा क्रियमाण तीनों प्रकार के कर्मों का निष्पादन संभव है । इसी में 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' सार्थक होता है । मोक्ष प्राप्ति में साधन रूप होने से इसे सर्वोत्कृष्ट योनि माना गया है । पाप-पुण्य केवल मनुष्य जन्म में ही सम्भव है ॥३४॥

एक शरीर से निकाल कर दूसरे शरीर में डालने की व्यवस्था कौन करता है—अगले सूत्र में इसका प्रतिपादन किया है—

असुनेता परमेश्वरः ॥३५॥

प्राणों को (एक से दूसरे शरीर में) ले जाने वाला परमेश्वर है ।

जड़ होने से कर्म स्वयं फल नहीं दे सकते । जीव अपनी इच्छा से श्रेष्ठ योनियों में तो चला जायेगा किन्तु निकृष्ट योनियों में जाना कभी नहीं चाहेगा । वहां उसे बलात् धकेलना होगा । अल्पज्ञ होने के कारण वह ठीक-ठीक निश्चय भी नहीं कर पायेगा । अतः उसे एक शरीर से छुड़ा कर दूसरे में भेजना ईश्वरीय व्यवस्था में ही सम्भव है । इस विषय में श्रुति के अनेक वचन प्रमाण हैं । उदाहरणार्थ—

असुनीते मनो अस्मासु धारय जीवातवे सु प्र तिरा न आयुः ।
रारन्धि नः सूर्यस्य सन्दृशि घृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व ॥
असुनीते पुनरस्मासु चक्षुः पुनः प्राणमिह नो धेहि भोगम् ।
ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तमनुमते मृडया नः स्वस्तिः ॥

ऋग्वेद १०-५९-५,६

यहाँ पुनर्जन्म के प्रसंग में 'असुनीते' (प्राणों को ले जाने वाला) नाम से पुकार कर उत्तम जन्म और भोगादि के साधन प्रदान करने की प्रार्थना की गई है ॥३५॥

पञ्चम अध्याय

मुक्ति

न निष्प्रयोजनं प्रेक्षावतां प्रवर्त्तनम् ॥१॥

विचारशील मनुष्यों की प्रवृत्ति निष्प्रयोजन नहीं होती।

किसी न किसी प्रकार की इच्छा से प्रेरित होकर उसकी पूर्त्यर्थं मनुष्य की समस्त क्रियायें होती हैं। ऐसा करके जिस लक्ष्य की प्राप्ति उसे अभीष्ट है वही उसकी समस्त प्रवृत्तियों के मूल में प्रयोजक तत्व के रूप में वर्तमान रहता है ॥१॥

मनुष्य के पुरुषार्थ के उद्देश्य का निरूपण करते हैं—

दुःखात्यन्तनिवृत्तिः मोक्षसुखञ्च प्रयोजनम् ॥२॥

दुःख से पूरी तरह छुटकारा और मोक्ष की प्राप्ति प्रयोजन है।

मोक्ष का अर्थ केवल दुःखों से छूट जाना नहीं अपितु दुःखों से छूट कर सुख की प्राप्ति होना है। दुःखों का कारण शरीर है। आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक जितने दुःख हैं, सब शरीर के कारण होते हैं। यदि केवल दुःखों से छुटकारा ही मोक्ष माना जाये तो 'कारणाभावात्कार्याभावः' शरीर के छूट जाने को मोक्ष समझ लेना चाहिए। गाढ़ निद्रा में दुःखों की अनुभूति नहीं रहती किन्तु वस्तुतः सुषुप्ति में दुःखों का मात्र तिरोभाव होता है, अत्यन्ताभाव नहीं। उस अवस्था में न दुःखों का भान होता है, न सुखों का। किन्तु मोक्ष दुःख के अभाव का ही नहीं, सुख के भाव का नाम है। पर दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति के बिना आनन्द की प्राप्ति संभव नहीं। अतः मोक्ष का सच्चा स्वरूप दुःखों की निवृत्ति होकर आनन्द की प्राप्ति है।

इस प्रकार जहां शरीर दुःखों का कारण है, वहां सुख और उस आनन्द की प्राप्ति का साधन भी है। मानव शरीर प्राप्त होने पर ही उन साधनों का अनुष्ठान करने में समर्थ हो पाता है, जिनके फलस्वरूप आनन्द प्राप्ति संभव है।

सांसारिक साधनों से भी दुःखों से छुटकारा मिलता है। किन्तु वह अधिक काल के लिये नहीं होता। न उसमें नैरन्तर्य की स्थिति आपाती है, क्योंकि—

'एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य।
तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे छिद्रेष्वनर्थाः बहुली भवन्ति' ॥

अर्थात् जितने समय के लिये कोई कष्ट दूर होता है उसके अन्तराल में दूसरा कष्ट आ उपस्थित होता है। अतः मोक्ष की अवस्था वह मानी जायेगी

जिसमें तीनों प्रकार के दुःखों की अधिकाधिक समय के लिये निवृत्ति हो और उसमें नैरन्तर्य की अवस्था बनी रहे ।।२।।

जीवात्मा स्वभाव से बद्ध है या मुक्त ? अगले दो सूत्रों में इसका विवेचन करते हैं—

निमित्तजन्यौ हि बन्धमोक्षौ ।।३।।

बन्धन और मोक्ष निमित्त से होते हैं।

कोई जीवात्मा जन्म–मरण के चक्र में कब से आया ? क्या अनादि काल से ? यदि ऐसा है तो वह अनन्त काल तक इसमें फंसा रहेगा । तब मोक्ष संभव न होगा । क्या इस चक्र में पड़ने से पहले जीव मुक्त था ? यदि भविष्य में मुक्ति संभव है तो अतीत में भी कभी न कभी अवश्य मुक्त रहा होगा । निश्चय ही दो बार मोक्ष के अन्तराल में जन्म–मरण का चक्र और दो जन्म–मरण के चक्रों के अन्तराल में मोक्ष की अवस्था माननी होगी । इस प्रकार बन्धन और मोक्ष का भी एक विराट् चक्र स्वीकार करना होगा । जीवात्मा स्वतः शुद्ध है । किन्तु वह अल्पज्ञ तथा कर्म करने में स्वतन्त्र है। इस कारण वह कभी प्रकृति के साथ जुड़ जाता है और कभी ब्रह्म के साथ । जब प्रकृति की ओर प्रवृत्त होता है तो बन्धन में पड़ जाता हैं और जब ब्रह्म की ओर उन्मुख होता है तो मोक्ष प्राप्त कर लेता है । साधनों से सिद्ध हुआ पदार्थ नित्य नहीं हो सकता । जैसे धूल मिट्टी लगने से वस्त्र मैला हो जाता और जल से धोने पर स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही मोह मिथ्यात्वादि हेतुओं से रागद्वेषादि के कारण जीव बन्धन में पड़ता और विवेक तथा शुद्धाचरण से मुक्त हो जाता है । इस प्रकार जीव निमित्त से बद्ध और मुक्त होता है ।।३।।

यदि निमित्त से न मानकर जीव को स्वभाव से बद्ध और मुक्त मानाजाये तो क्या आपत्ति हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

स्वाभाविकत्वे निवृत्त्यसम्भवः स्वभावस्यानपायित्वात् ।।४।।

स्वाभाविक होने पर निवृत्ति नहीं होगी, स्वभाव के अविनाशी होने से । वस्तु का स्वभाव उसका अपना रूप है । स्वभाव के न रहने पर वस्तु का अस्तित्व ही नहीं रहता । अग्नि का स्वभाव उष्णता है । उष्णता न रहने पर व्यवहार में उसका अस्तित्व ही मिट जायेगा । अतः स्वभाव हटाया नहीं जा सकता। यदि जीव स्वभाव से बद्ध माना जायेगा तो कभी मुक्त नहीं हो सकेगा और यदि मुक्त माना जायेगा तो कभी बद्ध नहीं होगा । मुक्ति के पूर्व बन्धन होना आवश्यक है, क्योंकि यदि कोई बन्धा हुआ नहीं है तो छूटेगा कैसे ? इसी प्रकार बन्धन में आने से पूर्व मुक्ति आवश्यक है, क्योंकि जो मुक्त नहीं उसके बांधने का प्रश्न ही नहीं उठता । इस प्रकार मुक्ति और बन्धन दोनों शब्दों के प्रयोग से स्पष्ट

है कि जीव स्वभाव से न बद्ध है, न मुक्त ।।४।।

यदि जीव को स्वभाव से बद्ध माना जायेगा तो उसके लिये मोक्ष पाने के निमित्त कुछ भी करना आवश्यक न होगा । क्योंकि—

न स्वभावतो बद्धस्योपदेशविधिरशक्यत्वान्मोक्षस्य ।।५।।

स्वभाव से बद्ध आत्मा को उपदेश देना संगत नहीं, मोक्ष के सम्भव न होने से ।

असम्भव कार्य के लिए किसी को कहना अथवा उसके सम्पादन के निमित्त प्रयास करना व्यर्थ है । गुण, गुणी के आश्रित रहने से स्वाभाविक गुण का तब तक नाश नहीं हो सकता जब तक गुणी विद्यमान है । जीवात्मा नित्य है । अतः यदि बन्धन उसका स्वाभाविक गुण होगा तो सदा उसके साथ रहेगा । जो सदा साथ रहने वाला है उसे हटाने के लिए विधि-निषेध का निर्देश करना व्यर्थ है । प्रयत्नपूर्वक भी असम्भव को सम्भव नहीं बनाया जा सकता ।

यद्यात्मा मलिनोऽस्वच्छो विकारी स्यात् स्वभावतः ।
न हि तस्य भवेन्मुक्तिर्जन्मान्तरशतैरपि ।।

यदि आत्मा स्वभाव से मैला, गंदला तथा विकारयुक्त है तो जन्मजन्मान्तर तक प्रयत्न करने पर भी उसकी मुक्ति नहीं होगी ।

अशक्य के लिए उपदेश करना व्यर्थ है, क्योंकि उसके अनुसार अनुष्ठान करना निष्फल होगा । किन्तु अनादिकाल से मनुष्य में मोक्ष प्राप्ति की इच्छा, तदर्थ प्रयत्न, आप्त पुरुषों तथा शास्त्रों का उपदेश आदि सर्वत्र दिखाई पड़ते हैं । इन सबके होते हुए जीवात्मा को स्वभाव से बद्ध नहीं माना जा सकता ।।५।।

कामाच्च न स्वभावतो मुक्तः ।।६।।

और कामना होने से जीव स्वभाव से मुक्त नहीं ।

जीव में मुक्त होने की इच्छा रहती है । कामना सदा अप्राप्त वस्तु की होती है । यदि जीवात्मा स्वभाव से मुक्त अथवा आनन्दस्वरूप हो तो उसे आनन्द की कामना क्यों हो ? 'दुःखादुद्विजते लोकः सर्वस्य सुखमीप्सितम्'—प्राणिमात्र में दुःख से छूटने तथा आनन्द को पाने की इच्छा है और अपनी बुद्धि तथा सामर्थ्य के अनुसार उसके लिये वह प्रयत्नशील है । फलतः जीवात्मा में आनन्द प्राप्ति की कामना होने और तदर्थ प्रयत्न करने से स्पष्ट है—कि वह स्वभाव से आनन्दमय अथवा मुक्त नहीं है ।।६।।

अब दुःख का स्वरूप कथन करते हैं—

बाधनालक्षणं दुःखम् ।।७।।

दुःख बाधनास्वरूप है ।

स्वतन्त्रता का न होना दुःख कहाता है अर्थात् जिस वस्तु की इच्छा हो

उसमें व्याघात होने पर दुःख की अनुभूति होती है। 'अनुकूलवेदनीयं सुखम्, प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्'—प्रतिकूल अनुभूति का होना दुःख है। बाधना, पीड़ा, ताप, दुःख आदि शब्द इसी अर्थ को कहते हैं। इसी का मानो भाष्य करते हुए मनुस्मृति में कहा गया—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥

परवशता में ही दुःख का अनुभव होता है। प्रकृति के साथ सम्बन्ध आत्मा को बन्धन में इसीलिये डालता है कि उसके संयोग से बाधाओं में वृद्धि होती है ॥७॥

दुःख के स्वरूप कथन के अनन्तर मोक्ष अथवा अपवर्ग का स्वरूप कहते हैं—

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥८॥

उस दुःख से पूर्णतः छूट जाना अपवर्ग है।

जिस अवस्था में दुःखों का सर्वथा अन्त हो जाता है वही अपवर्ग है। संसार में रहते हुए भी अनेक रूपों और अवस्थाओं में सुख का अनुभव होता है। किन्तु उसमें कहीं न कहीं दुःख का संयोग रहता है। देहादि से सम्बद्ध होने से सांसारिक सुख में स्थायित्व एवं नैरन्तर्य भी नहीं होता। मोक्षावस्था में जन्म-मरण का क्रम अवसित हो जाने पर भौतिक संसर्ग से प्राप्त होने वाले, क्षुधा-तृषा, आधि-व्याधि, जन्म-मृत्यु आदि के भय से सर्वथा मुक्त (अत्यन्त विमोक्ष) हो जाना ही अपवर्ग है।

अब दुःख के मूल कारण तथा उससे छूटने के उपाय बताते हैं—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तराऽपाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥९॥

दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान के उत्तरोत्तर नष्ट होजाने से उसके अनन्तर के—अव्यवहित पूर्व के नाश होजाने से अपवर्ग होता है।

यहाँ निर्दिष्ट पांच पदार्थों में उत्तर अर्थात् अगला पदार्थ अपने से पहले का कारण है। इस प्रकार दुःख का कारण जन्म, जन्म का कारण प्रवृत्ति, प्रवृत्ति का कारण दोष और दोषों का कारण मिथ्या ज्ञान है। कारण का नाश हो जाने पर कार्य का स्वतः नाश हो जाता है। अतः विपरीत क्रम से स्पष्ट हो जाता है कि मिथ्या ज्ञान के नाश से दोषों का नाश, दोषों के नाश से प्रवृत्ति का नाश, प्रवृत्ति के नाश से जन्म का नाश और जन्म के नाश से दुःखों का नाश हो जाता है। जब मिथ्या ज्ञान के नाश से रागद्वेषादि दोषों का नाश हो जाता है तो दोषों के नाश से प्रवृत्ति का नाश हो जाता है। प्रवृत्ति न होने पर मनसा—वाचा-कर्मणा होने वाले शुभाशुभ कार्य बन्द हो जाते हैं। कर्मों के न होने पर प्रारब्ध का बनना बन्द हो जाता

है। प्रारब्ध कर्मों के अभाव में उनका फल भोगने के लिये होने वाले जन्म की आवश्यकता नहीं रहती। आत्मा को दुःखादि का अनुभव देहादि के सम्बन्ध से होता है। अतः जन्म न होने पर देहादि के अभाव में दुःखों का अत्यन्ताभाव निश्चित है।

मिथ्याज्ञान से दुःखपर्यन्त परिस्थितियों के निरन्तर चलते रहने का नाम संसार है और संसार, बन्धन का अपर नाम है। मिथ्या ज्ञान के नष्ट होने पर दोषादि क्रमशः स्वतः समाप्त हो जाते हैं। इस क्रम में दुःख की अत्यन्त निवृत्ति का नाम अपवर्ग या निःश्रेयस है। 'अज्ञान', 'अविद्या', 'विपर्यय', 'अविवेक' 'प्रकृतियोग' आदि 'मिथ्याज्ञान' के पर्याय हैं। इसी के नाश में निःश्रेयस निहित है ॥९॥

सब दुःखों के मूल कारण 'मिथ्याज्ञान' के नाश का उपाय बताते हैं। जैसे प्रकाश हो जाने पर अन्धकार का स्वतः नाश हो जाता है वैसे तत्त्व ज्ञान हो जाने पर मिथ्याज्ञान का नाश हो जाता है—

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निवृत्तिः ॥१०॥

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय नामक पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य की जानकारी के साथ तत्त्वज्ञान से (मिथ्याज्ञान की) निवृत्ति होती है।

मिथ्याज्ञान की निवृत्ति के लिये यथार्थज्ञान अनिवार्य है। द्रव्यादि पदार्थों के यथार्थस्वरूप को समझने के लिये उनके साधर्म्य और वैधर्म्य अर्थात् उनकी समान और असमान विशेषताओं को जान लेना आवश्यक है। इसी ज्ञान पर द्रव्यादि पदार्थों का यथार्थज्ञान आधारित है। इन पदार्थों में कौन सी विशेषता किनमें समान रूप से पाई जाती है तथा किनमें इनका वैपरीत्य रहता है, इसको वास्तविकता के साथ जान लेना द्रव्यादि विषयक तत्त्वज्ञान है ॥१०॥

द्रव्यादि पदार्थों की क्रमशः व्याख्या करते हैं। सर्वप्रथम द्रव्य का लक्षण—

क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥११॥

क्रिया और गुणों का आश्रय तथा समवायिकारण (उपादान कारण) होना द्रव्य का लक्षण है।

'क्रियाश्चगुणाश्च विद्यन्ते यस्मिंस्तत् क्रियागुणवत्'—जिसमें क्रिया व गुण या केवल गुण रहें अर्थात् जो कर्मों और गुणों का अधिकरण हो वह द्रव्य है। पृथिवी आदि द्रव्यों में ही किसी क्रिया का होना सम्भव है। किसी जगह क्रिया का होना उसके द्रव्य होने का चिन्ह है। अतः जहाँ-जहाँ क्रिया है वहाँ-वहाँ द्रव्य है। किन्तु कुछ द्रव्य–विभु द्रव्य–ऐसे भी हैं जहां क्रिया नहीं होती। अतः 'गुणवत्' गुणों का अधिकरण या आश्रय होना भी द्रव्य का लक्षण है। प्रत्येक

गुण किसी न किसी द्रव्य में रहता है। अतः जहां कोई गुण देखा जाये वहां गुण का जो आश्रय पदार्थ होगा वह द्रव्य होगा।

उत्पन्न द्रव्य प्रथम क्षण में क्रिया-गुण से रहित होता है। क्योंकि कारण के बिना कार्य सम्भव नहीं। इसलिये क्रिया और गुण के कारण द्रव्य का क्रिया और गुण की उत्पत्ति से पूर्व विद्यमान होना आवश्यक है। किसी भी कार्य का समवायि कारण द्रव्य होता है। उपादान को समवायि कारण कहते हैं, क्योंकि उपादान कारण के अतिरिक्त और किसी कारण का कार्य के साथ नित्य सम्बन्ध नहीं होता। फलतः द्रव्य में क्रिया व गुण के न होने पर भी क्रिया व गुण की समवायिकारणता का विद्यमान होना अनिवार्य है। "समवेतुं शीलं यस्य तत्समवायि; प्राग्वृत्तित्वं कारणं समवायि; तत्कारणं च समवायिकारणम्,'—मिलने के स्वभावयुक्त जो कारण कार्य से पूर्वकालस्थ हो वह समवायिकारण द्रव्य कहाता है। इस प्रकार 'क्रियावत्, गुणवत्, समवायिकारणम्' इन तीनों पदों से द्रव्य का लक्षण पूर्ण हो जाता है। क्योंकि 'क्रियावत्त्व', 'गुणवत्त्व' तथा 'समवायिकारणत्व' धर्म अन्य पदार्थों में नहीं रहते, अतः उनसे द्रव्यों का वैधर्म्य है और परस्पर सब द्रव्यों का साधर्म्य है ॥११॥

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ॥१२॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा (जीवात्मा और परमात्मा) और मन ये नौ द्रव्य हैं।

संख्यावाचक पद न होने पर भी प्रत्येक द्रव्य का नामोच्चारणपूर्वक पृथक्-पृथक् उल्लेख किये जाने तथा अन्त में 'इति' पद होने से स्पष्ट है कि द्रव्य इतने अर्थात् नौ ही हैं, न्यूनाधिक नहीं ॥१२॥

अब गुण का लक्षण करते हैं—

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम् ॥१३॥

द्रव्य के आश्रय रहने वाला किन्तु स्वयं किसी गुण का आश्रय न होने वाला, संयोग और वियोग में कारण न बनने वाला और अन्य किसी की अपेक्षा न रखने वाला 'गुण' कहलाता है।

जो पदार्थ समवायसम्बन्ध से द्रव्याश्रित हो, वह गुण होता है। केवल 'द्रव्याश्रयी गुण का लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित है, क्योंकि समस्त कार्यद्रव्य समवायसम्बन्ध से अपने कारणद्रव्यों में आश्रित रहते हैं। इस दोष को दूर करने के लिए कहा गया है कि जिस पदार्थ में समवाय सम्बन्ध से गुण न रहते हों, वह गुण है। किन्तु कर्म द्रव्याश्रित है और गुणवान् भी, अतः अतिव्याप्ति दोष

फिर बना रहा। इस दोष को दूर करने के लिये कहा गया है कि वह 'संयोग-विभागेष्वकारणम्' द्रव्याश्रय और अगुणवान् होने के साथ २ संयोग और विभाग की उत्पत्ति में कारण न हो। किन्तु ऐसा कहने पर अव्याप्ति दोष आगया, क्योंकि सयोग और विभाग, संयोग और विभाग के कारण होने से गुण की सीमा में न रहे, यद्यपि ये गुण माने गये हैं। इस अव्याप्ति दोष को दूर करने के लिये 'अनपेक्षः' पद और जोड़ा गया। संयोग और विभाग में जो अन्य की अपेक्षा न रखता हुआ कारण न हो वह गुण है। इस प्रकार गुण का लक्षण हुआ —जो द्रव्याश्रित, अगुणवान् होते हुए संयोग विभागों की उत्पत्ति में अनपेक्ष अकारण हो वह गुण है ॥१३॥

गन्धरसरुपस्पर्शाः संख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे द्रवत्वगुरुत्वस्नेहबुद्धयः सुखदुःखे इच्छा द्वेषौ प्रयत्नधर्माधर्मसंस्कारशब्दाश्चेति चतुर्विंशति गुणाः ॥१४॥

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, गुरूत्व, स्नेह, बुद्धि सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार और शब्द—ये चौबीस गुण हैं। ये सभी गुण समवाय सम्बन्ध से किसी न किसी द्रव्य के आश्रित हैं। किस द्रव्य में कितने गुण हैं--यह निम्न श्लोक में निबद्ध है—

वायोर्नवैकादशतेजसो गुणाः, जलक्षितिप्राणभृतां चतुर्दश।
दिक्कालयोः पञ्च षडेव चाम्बरे, महेश्वरेऽष्टौ मनसस्तथैव च॥

वायु के नौ, अग्नि के ग्यारह, जल, पृथ्वी और जीवात्मा प्रत्येक के चौदह, दिशा और काल के पांच पांच, आकाश के छह, परमात्मा और मन के आठ-आठ गुण माने गये हैं। किस द्रव्य में कौन २ से गुण हैं, यह निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है—

वायु, ९—स्पर्श से अपरत्व तक आठ और नौवां वेग नामक संस्कार।

तेज, ११—रूप से द्रवत्व (नैमित्तिक) तक दश और ग्यारहवां वेग नामक संस्कार।

जल, १४—रस से स्नेह तक तेरह और चौदहवां संस्कार (वेग, स्थिति-स्थापक)।

पृथ्वी, १४—गन्ध से गुरूत्व तक तेरह और चौदहवां संस्कार (वेग, स्थिति-स्थापक)।

जीवात्मा, १४—संख्या से विभाग तक पांच व बुद्धि से संस्कार (भावना) तक नौ।

दिशा, ५—संख्या से विभाग तक।

काल, ५—संख्या से विभाग तक।

आकाश, ६–संख्या से विभाग तक पांच और छटा शब्द।

महेश्वर, ८–संख्या से विभाग तक पांच, बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न।

मन, ८–संख्या से अपरत्व तक सात और आठवां संस्कार (वेग)।

कौन सा गुण किस २ द्रव्य में रहता है, गुणों के क्रम से यह निम्न प्रकार समझना चाहिये—

गन्ध–केवल पृथ्वी में।

रस–पृथ्वी और जल में।

रुप–पृथ्वी, जल और तेज में।

स्पर्श–पृथ्वी, जल, तेज और वायु में।

संख्या से विभाग तक–सब द्रव्यों में।

परत्व–अपरत्व–विभु द्रव्यों को छोड़ कर शेष सबमें।

द्रवत्व–जल में (सांसिद्धिक) पृथ्वी, तेज में (नैमित्तिक)।

गुरुत्व–पृथ्वी और जल में।

स्नेह–केवल जल में।

बुद्धि से संस्कार–जीवात्मा में।

बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न–जीवात्मा और परमात्मा में।

वेग संस्कार–विभु द्रव्यों को छोड़कर शेष सबमें।

स्थितिस्थापक संस्कार–जल और पृथ्वी में।

शब्द–आकाश में।

अब क्रमागत कर्म का लक्षण करते हैं—

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम् ॥१५॥

एक द्रव्य में आश्रित रहना, गुण का अनाश्रय होना, संयोग और विभाग की उत्पत्ति में अन्य की अपेक्षा न रखते हुए कारण होना–यह कर्म का लक्षण है।

कर्म कभी अनेकाश्रित नहीं होता, क्योंकि कोई क्रिया उसी काल अनेक द्रव्यों में नहीं हो सकती। कर्म कभी गुण का आश्रय नहीं होता। द्रव्य के आश्रित होना और गुणों का आश्रय न होना गुण–कर्म दोनों का साधर्म्य है। किन्तु संयोग विभाग की उत्पत्ति में गुण का सापेक्ष और कर्म का निरपेक्ष कारण होना वैधर्म्य है। कर्म के ये लक्षण कर्मों के साधर्म्य तथा कर्मातिरिक्त सभी पदार्थों के वैधर्म्य हैं। द्रव्यों और गुणों में कुछ नित्य हैं, कुछ अनित्य। परन्तु कर्म कभी नित्य नहीं होता। प्रत्येक क्रिया उत्पन्न होती और अपना कार्य सम्पन्न कर नष्ट होती रहती है ॥१५॥

अब कर्म के विभाग का निर्देश करते हैं—

इच्छापूर्वकमुत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि ।।१६।।

ऊपर की ओर उठाना या फेंकना, नीचे को गिराना, सिकोड़ना, फैलाना और गमन करना–ये पांच प्रकार के कर्म हैं ।

इच्छापूर्वक प्रयत्न द्वारा वस्तु में ऊपर की ओर होने वाली क्रिया 'उत्क्षेपण' है–जैसे मूसल या लाठी उठाना, गेंद फेंकना, वाण चलाना आदि ।

इच्छा के साथ प्रयत्न पूर्वक किसी वस्तु को नीचे की ओर लाने की क्रिया 'अवक्षेपण' है । जैसे ऊपर उठे हुए हाथ को या ऊपर उठाये हुए मूसल को नीचे की ओर लाना । ऊपर की ओर फेंकी गयी गेंद का नीचे गिर पड़ना न अवक्षेपण है और न कर्म । यह सामान्य क्रिया है क्योंकि उसमें इच्छापूर्वक किये गये प्रयत्न का अभाव है । किसी वस्तु के प्रसार को थोड़े प्रदेश में सीमित कर देने वाली क्रिया 'आकुञ्चन' और उसको विस्तृत प्रदेश में फैलाने की क्रिया का नाम 'प्रसारण' है । निष्क्रमण, प्रवेशन, भ्रमण, रेचन, स्पन्दन आदि शेष सभी क्रियाओं का समावेश 'गमन' में हो जाता है ।।१६।।

अब द्रव्य, गुण और कर्म के साधर्म्य का निरुपण करते हैं—

द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम् ।।१७।।

द्रव्य, गुण और कर्मों का समवायि कारण द्रव्य है, यह इन सबका साधर्म्य है ।

जैसे एक माता के अनेक पुत्र होते हैं वैसे ही एक उपादान कारण द्रव्य में कार्य, गुण, और कर्म रहते हैं । द्रव्य से उत्पन्न होना इन तीनों में समान है । जिस मिट्टी से घड़ा बनता है उसी में क्रिया और गन्ध गुण भी रहते हैं । इसी प्रकार जिस अग्नि से दीपक उत्पन्न होता है उसी में रुप गुण भी रहता है और ऊपर चलना कर्म भी । इस प्रकार किसी भी कार्यद्रव्य का समवायिकारण केवल द्रव्य होता है ।।१७।।

सामान्य–विशेष का लक्षण करते हैं—

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम् ।।१८।।

सामान्य और विशेष बुद्धि की अपेक्षा से है ।

सामान्य को दार्शनिक भाषा में 'जाति' कहते हैं । सामान्य का आधार क्षेत्र विस्तृत होता है । वही जब सीमित हो जाता है तो 'विशेष' कहाता है । जो बहुतों से सम्बन्ध रक्खे अर्थात् जो धर्म वहुत देश वा व्यक्तियों से सम्बन्ध रक्खे वह सामान्य कहाता है और जो धर्म थोड़े देश वा व्यक्तियों में रहे वह विशेष कहाता है । अब यह थोड़ा वहुत बुद्धि से जाना जाता है । एक ही पदार्थ एक की अपेक्षा से सामान्य है तो दूसरे की अपेक्षा से विशेष है । प्राणी मात्र की अपेक्षा से मनुष्यत्व, विशेष है, क्योंकि मनुष्यत्व की अपेक्षा प्राणित्व अधिक में

पाया जाता है। परन्तु ब्राह्मणत्व की अपेक्षा से मनुष्यत्व सामान्य है, क्योंकि ब्राह्मणत्व की अपेक्षा मनुष्यत्व का आधार क्षेत्र अधिक व्यापक है। पुनः गौड़ ब्राह्मण विशेष है, सामान्य ब्राह्मण की अपेक्षा से, क्योंकि गौड़ ब्राह्मणों की तुलना में ब्राह्मण अधिक हैं। परन्तु जो सबके लिये प्रयुक्त होता है वह सदा सामान्य रहता है, क्योंकि अन्य किसी का आधार क्षेत्र उससे अधिक विस्तृत नहीं होता। जैसे सत्ता सामान्य धर्म प्रत्येक वस्तु में रहने से विशेष कभी नहीं हो सकता। कोई सर्वव्यापक वस्तु कभी विशेष नहीं हो सकती, वह सदा सामान्य रहेगी। सर्वव्यापक पदार्थों को छोड़कर शेष सब पदार्थों में सामान्य और विशेष बुद्धि की अपेक्षा से निश्चित किया जाता है ॥१८॥

पदार्थों में छटे 'समवाय' का लक्षण करते हैं—

इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः ॥१९॥

इस (आधार) में यह (आधेय) है, इस प्रकार (का व्यवहार) जिस सम्बन्ध से कार्य और कारण में (परस्पर होता है) वह समवाय (सम्बन्ध) है।

जब दो वस्तुओं में एक, दूसरी में आश्रित या आधारित पाई जाये--उनमें से एक-दूसरे के बिना नहीं रह सके तो उनका सम्बन्ध समवाय कहाता है। द्रव्य में क्रिया, गुणी में गुण, व्यक्ति में जाति, अवयवों में अवयवी, कारणों में कार्य अर्थात् क्रिया—क्रियावान्, गुण-गुणी, व्यक्ति-जाति, अवयव-अवयवी, कार्य-कारण—इनका नित्य सम्बन्ध होने से 'समवाय' कहाता है।

इस प्रकार पृथिवी से परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश हो जाता है। मिथ्याज्ञान का नाश हो जाने पर जब आत्मा प्रारब्ध कर्मों का फल पूरा हो जाने से चालू देह को छोड़ देता है तब उस तत्त्वज्ञ आत्मा के लिए अन्य देह का प्रादुर्भाव न होने से वह जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है। इसी का नाम मोक्ष है। मुक्त होने पर जीवात्मा का सम्बन्ध प्रकृति तथा प्राकृत पदार्थों से छूटकर ब्रह्म से जुड़ जाता है ॥१९॥

मोक्षावस्था में आत्मा की क्या स्थिति होती है, इस विषय में कहते हैं—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥२०॥

उस अवस्था में जीवात्मा परमात्मा के स्वरूप में ठहरता है।

सूत्रान्तर्गत 'द्रष्टुः' पद परमात्मा का वाचक है। यह ठीक है कि जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही द्रष्टा हैं। परन्तु 'मुख्यामुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इस न्याय के अनुसार मुख्य द्रष्टा परमेश्वर अभिप्रेत है। जीवात्मा आनन्द का अभिलाषी है। उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है। पूर्ण आनन्द का स्रोत केवल परमेश्वर है—'रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवन्ति।' (तै. उ. २-७) ऋग्वेद (७-११-१) की ऋचा में कहा—'न ऋते त्वदमृता मादयन्ते'

अर्थात् तेरे विना मुक्तात्मा आनन्दित नहीं होते। ऐसी अवस्था में मुक्तात्मा परमेश्वर के आनन्द रूप का अनुभव करता है। यही परमात्मा के स्वरूप में अवस्थित होने का तात्पर्य है ॥२०॥

किन्तु परमात्मा में स्थित होकर भी जीव की स्वतंत्र सत्ता बनी रहती है—

न मुक्तावात्मलयः ॥२१॥

मुक्ति में आत्मा का (ब्रह्म में) लय नहीं होता।

अविद्या का नाश और कर्म बन्धन अर्थात् संस्कारों से मुक्त हो जाने पर जीवात्मा सर्वत्र व्याप्त परमेश्वर में वैसे ही स्थित होता है जैसे आकाश में समस्त पदार्थ स्थित रहते हैं। शुद्ध सामर्थ्ययुक्त जीव का अस्तित्व मोक्षावस्था में बना रहता है। उस अवस्था में स्थूल शरीर एवं इन्द्रियों का अभाव हो जाता है किन्तु शुद्ध संकल्पमय शरीर, मन, प्राण तथा इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति के साथ जीव की सत्ता वनी रहती है। छान्दोग्योपनिषद् (८-३-४) में लिखा है—'परं ज्योतिरूपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' अर्थात् जीवात्मा उस परम ज्योति को प्राप्त होकर अपने रूप में बना रहता है। तैत्तिरीयोपनिषद् (ब्र. व. १-१) में बड़े स्पष्ट शब्दों में मोक्षावस्था में जीवात्मा की स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन करते हुए कहा है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणा सह विपश्चितेति ॥

हृदयाकाश में स्थित अविनाशी, चेतनस्वरूप तथा सर्वव्यापक ब्रह्म को जो जान लेता है वह सर्वज्ञ ब्रह्म का साथी हो जाता है और साथी रहते हुए सब प्रकार से तृप्त रहता है ॥२१॥

ब्रह्मणि विद्यमानस्ततः पार्थक्येन ॥२२॥

ब्रह्म में स्थित होता हुआ भी (जीव) पृथक् रहता है।

मुण्डकोपनिषद् (३-२-८) में लिखा है—"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" अर्थात् जिस प्रकार नदियां बहती-बहती अपने नामरूप को छोड़कर समुद्र में जा मिलती हैं वैसे ही विद्वान् पुरुष नाम और रूप से छूटकर परात्पर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। यहां नदियों के समुद्र में मिलने से समझा जाता है कि परमात्मा के प्राप्त होने पर जीवात्मा का अपना अस्तित्व समाप्त हो जाता है। यथार्थ में ऐसा नहीं है। प्रत्येक वस्तु के दो रूप होते हैं—एक उस वस्तु का वाह्य रूप—उसका आकार प्रकार और रंग रूपादि और दूसरा उसकी आन्तरिक सत्ता जिसे वस्तुतत्त्व कहते हैं। नामरूप शरीर के होते हैं, जीव के नहीं। शरीर के नामरूप ही जीव का बाह्य रूप है। उन्हीं को छोड़ने की बात

यहां कही गई है। उपनिषद् का भाव यह है कि जिस प्रकार नदियां समुद्र में मिलने के पश्चात् अपना गंगा-यमुना का नाम और रूप खो बैठती हैं उसी प्रकार मुक्त जीव अपने बाह्य रूप—शरीर और यज्ञदत्त, देवदत्त आदि नामों को छोड़कर ईश्वर को प्राप्त होता है।

यद्यपि नदियों का नामरूप नहीं रहता तथापि समुद्र में मिलने पर भी उनका वस्तुतत्त्व-जल नष्ट नहीं हो जाता। वह समुद्र में मिलकर उसके जल की मात्रा को बढ़ा देता है। जल नष्ट हो गया होता तो ऐसा न होता। इसी प्रकार अपने नामरूप को खोकर भी मुक्त जीव का वस्तु तत्त्व (आत्मा) नष्ट नहीं होता। वह परमेश्वर के साथी के रूप में सदा विद्यमान रहता है।

इसी उपनिषद् के अगले मन्त्र में कहा है—'यो वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'—जो ब्रह्म को जान लेता है वह मानो ब्रह्म ही हो जाता है। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् (४-४-७) में 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'—ब्रह्म होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है, कहा। उपनिषदों में प्रायः औपचारिक वर्णन है। 'एव' पद के प्रयोग से स्पष्ट हो जाता है कि यहां उत्प्रेक्षालंकार है। फिर ब्रह्म क्या है? 'रसो वै सः'—आनन्द का अपर नाम ब्रह्म है। नदी के समुद्र में मिलने पर वह समुद्र जल से आप्लावित हो जाती है। इसी प्रकार आनन्दस्वरूप ब्रह्म के मिल जाने पर जीवात्मा आनन्द से आप्लावित हो जाता है। ब्रह्म के साथ जीव के अविभाग से रहने का यही अभिप्राय है कि ब्रह्म आनन्दस्वरूप है और जीव उसका भागीदार है अर्थात् ब्रह्म के साथ रहता हुआ आनन्द का उपभोग करता है किन्तु अपने अस्तित्व को नहीं छोड़ बैठता।

प्रेम और भक्ति की पराकाष्ठा तब होती है जब प्रेमी अपने प्रेष्ठ के प्रेम में इतना मग्न हो जाता है कि अपनी सुध-बुध खोकर कहने लगता है कि 'जिधर देखता हूं उधर तू ही तू है' अथवा 'लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल।' योग की सातवीं सीढ़ी पर पहुंचने पर योगी अपने को ध्याता और अपने से भिन्न ध्येय का ध्यान करने वाला समझता है। परन्तु आठवीं सीढ़ी पर पहुंचने पर उसे सर्वत्र ध्येय ही दीखने लगता है। उस अवस्था में वह न केवल अपने आपको प्रत्युत सबको उसी का रूप समझने लगता है। उसी अवस्था का वर्णन करते हुए ऋग्वेद (८-४४-२३) में लिखा है—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्।
स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥

अर्थात् "हे ईश्वर! यदि मैं तू हो जाऊँ और तू मैं हो जा, तो तेरा आशीर्वाद संसार में सत्य हो जाये।"

औपचारिक रूप से कही हुई 'यत्र नान्यत् पश्यति' (छा. ७-२४-१) 'न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत् पश्येत्' (बृ. ४-३-२३) तथा 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' (बृ. ४-४-७) इत्यादि उक्तियों का यही तात्पर्य है। ये आनन्दानु-

भूति के अतिरेक में अतिशयता से कहे हुए वचन मात्र है।' तैत्तिरीय (२-६) में कहा–'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' अर्थात् आनन्द ही ब्रह्म है, यह जाने। इस से ब्रह्म का आनन्दस्वरूप होना स्पष्ट है ॥२२॥

यही नहीं कि जीव का ब्रह्म में लय नहीं होता, वह उसके सदृश भी कभी नहीं हो सकता। एतदर्थ कहा—

न सादृश्यम् ॥२३॥

(मुक्तावस्था में जीव ब्रह्म के) सदृश भी नहीं होता।

जब ब्रह्म आनन्दस्वरूप है (आनन्दो ब्रह्म–तै.) और उसे प्राप्त करके जीव भी आनन्दमय हो गया (रसं लब्ध्वानन्दी भवति–तै.२-७) तो दोनों एक न होकर एक जैसे तो हो ही गये। ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं। क्योंकि मात्र एक गुण अथवा कुछ गुणों में समानता होने से दो पदार्थ एक नहीं हो जाते। चीनी, आटा और नमक तीनों श्वेत होने मात्र से एक नहीं हो सकते। न जल और दूध द्रव्य होने मात्र से एक माने जा सकते हैं। साधर्म्य के साथ २ वैधर्म्य का ज्ञान होने पर ही तत्त्वज्ञान होता हैं। ईश्वर का लक्षण है–'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः' (यो. १-२४) अर्थात् क्लेश, कर्म, कर्म–विपाक और आशयों से असंपृक्त–अछूता विशेष चेतन तत्व ईश्वर है। दूसरी ओर 'इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति' इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख दुःख और ज्ञान आत्मा के लक्षण हैं। ईश्वर और जीव दोनों के अपने २ गुण हैं। गुणों का गुणी से समवाय संवन्ध होता है अर्थात् गुण अपने गुणी से पृथक् नहीं हो सकते। ईश्वर के गुण ईश्वर में और जीव के जीव में सदा बने रहेंगे। अतः ईश्वर जीव के सदृश और जीव ईश्वर के सदृश कभी नहीं हो सकते।

रामानुज का कथन है कि 'एते च जगत्पतित्व–जगद्विधरण–सर्वेश्वरत्वादयः प्रत्यगात्मनि मुक्तावस्थायामपि न कथञ्चिद्भवन्ति''। मुक्तावस्था में भी जीव में सृष्टिकर्तृत्वादि गुण कैसे आ सकते हैं ?

छान्दोग्य उपनिषद् (८-१२-३)में कहा है कि जीवात्मा कभी भी अपने स्वरुप का परित्याग नहीं करता। वह जो कुछ करता है 'स्वेन रुपेणाभिनिष्पद्यते' अपने स्वरूप में स्थित रह कर करता है। शतपथ ब्राह्मण (१४-४-२-७) में बड़े विस्तार से बताया–"शृण्वन् श्रोत्रं भवति ·····मन्वानो मनो भवति"। मोक्ष दशा में जीवात्मा जब सुनना, देखना, सूंघना चाहता है तो संकल्प से वैसा कर सकता है। यदि जीवात्मा परमात्मा या परमात्मा जैसा बन जाता तो उसी की तरह देखता सुनता, अपने ढंग से नहीं।

मुण्डकोपनिषद् (३-१-३) के आधार पर कहा जाता है–'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति'–अर्थात् ज्ञानी पुरुष पाप–पुण्य से छूट निर्लेप होकर अत्यन्त समता को प्राप्त होता है। प्रथम तो जो राग द्वेषादि दोषों

से युक्त होकर कालान्तर में उनसे मुक्त हुआ वह नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव परमेश्वर के सदृश कैसे हो जायेगा ? मुक्त होकर भी जीव अल्पज्ञ और परिमित गुणकर्मस्वभाव वाला ही रहेगा। वह सर्वव्यापक, सर्वज्ञ तथा अनन्तसामर्थ्ययुक्त कदापि नहीं हो सकता। दूसरे 'साम्यमुपैति' में 'उपैति' क्रियापद का सामंजस्य तभी होगा जब दोनों में भेद माना जायेगा। साम्य सदा भेद घटित रहता है ॥२३॥

जीव के ब्रह्म सदृश होने में एक और बाधा प्रस्तुत करते हैं—

निमित्तादुत्पद्यमानः परमेश्वरोऽनित्यः परायत्तश्च ॥२४॥

निमित्त से उत्पन्न परमेश्वर अनित्य तथा पराधीन होगा।

ब्रह्म तो स्वभाव से आनन्दस्वरूप है, जबकि जीवात्मा निमित्त से आनन्दमय होता है। जो निमित्त से आनन्दमय है वह नित्य आनन्दस्वरूप की समता कैसे करेगा ? और कुछ नहीं तो कालभेद तो रहेगा ही। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' अथवा 'यो वै तत्परं ब्रह्म वेद स ब्रह्मैव भवति' को लेकर यदि कोई हठ करे कि ब्रह्म को जानने वाला सचमुच ब्रह्म हो जाता है तो भी यहां 'भवति'—'हो जाता है' क्रिया से स्पष्ट है कि ब्रह्मवित् पहले ब्रह्म नहीं था, अब हुआ। उत्पन्न होने वाला भाव अनित्य एवं पराधीन होता है। निमित्त से बनने वाला सादि, सादि होने से अनिवार्यतः सान्त और सादि सान्त होने से अनित्य होगा। परन्तु असली ब्रह्म तो अनादि, नित्य तथा स्वभाव से आनन्दस्वरूप है। यह अन्तर सदा बना रहेगा और इस अन्तर के कारण दोनों में ऐकात्म्य कभी न होगा ॥२४॥

यदि मोक्षदशा में ब्रह्म में जीव का लय मान लिया जाये तो क्या आपत्ति हैं ?

लयत्वे विनाशः ॥२५॥

लय होने पर विनाश हो जायेगा।

ब्रह्म में लीन होने का अर्थ होगा समुद्र में डूबकर आत्महत्या कर लेना। यदि मोक्ष का अर्थ मर जाना ही है तो इसके लिये पुरूषार्थ क्यों ? यदि मोक्षावस्था में दुःखों के साथ-साथ आत्मा का भी नाश हो जाना है तो उसका क्या लाभ ? यह तो 'न मर्ज रहा न मरीज़' वाली बात हुई। मोक्ष पाने वाला ही न रहा तो मोक्ष किसे ? ऐसे मोक्ष को दु.खों का उच्छेद या उनकी निवृत्ति न कहकर जीव का उच्छेद अथवा आत्महत्या की चेष्टा कहना अधिक उपयुक्त होगा। यह अभावात्मक मोक्ष होगा ॥२५॥

किन्तु ऐसा नहीं होगा क्योंकि—

नित्यत्वान्न लयः ॥२६॥

जीव के नित्य होने से उसका लय नहीं हो सकता।

जीव स्वरूप से अविनाशी है। ईश्वर की भांति वह भी अनादि तत्त्व है। अनादि होने से वह अनन्त एवं अविनाशी है। लय अथवा विनाश होने पर वह सान्त होगा। सान्त होने पर वह अनादि भी नहीं रहेगा। अनादि न रहने पर वह किसी के द्वारा निर्मित अवश्य होगा। निर्मित होने पर वह सावयव होगा और कोई उसका उपादान भी होगा। इस प्रकार जीव का सारा स्वरूप ही विगड़ जायेगा। फिर, 'नाभावो विद्यते सतः' के सिद्धान्त के अनुसार भी जीव का विनाश अर्थात् ब्रह्म में लय होना संभव नहीं। जो है उसका अभाव नहीं हो सकता ॥२६॥

जीव के ब्रह्म में लीन न होने में अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

न आनन्दभोक्तृत्वात् ॥२७॥

आनन्द का भोक्ता होने के कारण (लय) नहीं।

केवल दुःखों से छुड़ाने के रूप में मोक्ष अभावात्मक पदार्थ नहीं है। निश्चय ही वह भावरूप है। दुःखों से छूटकर आनन्दस्वरूप परमेश्वर में रहते हुए आनन्द का उपभोग करना मोक्ष है। यदि मुक्ति में जीव का लय हो जाये तो मुक्ति का सुख कौन भोगे? 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' (गीता)— अनेक जन्मों के निरन्तर पुरुषार्थ के फलस्वरूप जब मोक्ष की उपलब्धि हो, तो मोक्ष पानेवाला ही न रहे—यह वैठे-ठाले की खिलवाड़ नहीं तो क्या है? परिश्रम का फल किसे मिला? मुक्त आत्मा की ब्रह्म के साथ समता केवल मुक्त दशा में आत्मा द्वारा ब्रह्मानन्द की अनुभूति के आधार पर कही गई है। तैत्तिरीय उपनिषद्(२-१)में कहा 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म···सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति' जो सत्य, चेतन, अनन्त ब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म के साथ रहता हुआ सब प्रकार के आनन्द को भोगता हुआ आप्तकाम हो जाता है ॥२७॥

मुक्तात्मा मोक्षदशा में कहां रहता है—इसका निर्देश करते हैं—

अव्याहतगतिर्मुक्तात्मा ॥२८॥

मुक्त जीव अव्याहतगति होता है।

मोक्ष दशा में जीव जहां चाहे आनन्दपूर्वक विचरता है। ब्रह्म तो 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः' (यजु. ४०-५) स्वभावतः सर्वत्र व्याप्त है। छान्दोग्य (७-२५-२) में कहा—'तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति' अर्थात् वह इच्छानुसार सब लोकों में संचरण करता है। संचरण अथवा गति का अर्थ होता है किसी पदार्थ का 'जहां है वहां से' 'जहां नहीं है वहां को' जाना (A thing moves from where it is to where it is not)। अतः सर्वव्यापक

तत्त्व के लिये संचरण का कथन असंगत है। निश्चय ही उपनिषद् का कथन मुक्तात्मा के लिये है जिसे इतने अंश में ब्रह्मरूपता प्राप्त हो जाती है कि वह जहां चाहे आ जा सकता है। संचरण का कथन किये जाने से यह स्वतः सिद्ध है कि जीवात्मा मुक्तावस्था में भी सर्वव्यापक नहीं है। अतः वह 'स्वेन रूपेण' अपने ही रूप में गति करता है। उपनिषद् के उक्त कथन से जहां यह प्रमाणित होता है कि मुक्तात्मा मोक्ष दशा में बेरोक टोक जहां चाहे विचरण कर सकता है वहां यह भी सिद्ध होता है कि तब भी उसकी स्वतन्त्र सत्ता बनी रहती है, अपने अस्तित्व को खोकर वह ब्रह्म रूप नहीं हो जाता ॥२८॥

जिस प्रकार जीवात्मा बन्धन से छूट कर मोक्ष प्राप्त करता है वैसे ही कालान्तर में मोक्ष से पुनः बन्धन में आ जाता है। क्योंकि—

नात्यन्तोच्छेदः ॥२९॥

अत्यन्त उच्छेद (बन्धन का) नहीं।

वन्ध या मुक्ति का अत्यन्त उच्छेद कभी नहीं होता। जिस प्रकार एक देह को छोड़कर देहान्तर को ग्रहण करने का क्रम निरन्तर चलता रहता है उसी प्रकार बन्ध के पश्चात् मोक्ष और मोक्ष के पश्चात् बन्ध का क्रम भी लगातार बना रहता है। दो मुक्तियों के अन्तराल में बन्धन और दो बन्धनों के अन्तराल में मुक्ति का यह सिलसिला अनादिकाल से चला आ रहा है।

इस सन्दर्भ में दो में से एक स्थिति का होना आवश्यक है—या तो जीवात्मा अनादि काल से जन्म-मरण के बन्धन में पड़ा चला आ रहा है या किसी काल विशेष में इस चक्र का प्रारम्भ हुआ। यदि इस चक्र को अनादि माना जाये तो बन्धन आत्मा का स्वाभाविक गुण हो जायेगा और उस अवस्था में न कभी उसका अन्त होगा और न मोक्ष की सिद्धि संभव होगी; क्योंकि जिस भावरूप पदार्थ का आदि नहीं, उसका अन्त भी नहीं। तब, मोक्ष की सिद्धि के निमित्त अनिवार्यतः यही मानना होगा कि जन्म-मरण का क्रम किसी नियत काल में प्रारम्भ हुआ। किसी नियत काल में प्रारम्भ होने अर्थात् जीवात्मा के बन्धन में आने से पूर्व उसका मुक्त होना आवश्यक है, क्योंकि यदि मुक्त न होता तो बन्धन में पड़ने का प्रश्न ही कैसे उठता ? इस प्रकार यह प्रमाणित हो जाता है कि जो जीवात्मा इस समय बन्धन में है और भविष्य में कभी मुक्त होगा वह जन्म-मरण के वर्तमान क्रम के चालू होने से पूर्व मुक्तावस्था में था। इस आधार पर वर्तमान बन्धन का दो मुक्तियों के अन्तराल में होना स्वतः सिद्ध है। यदि वर्तमान बन्धन से पूर्व की मुक्तावस्था के पश्चात् जीवात्मा बन्धन में पड़ सकता था तो कोई कारण नहीं कि वर्तमान बन्धन के पश्चात् प्राप्त होने वाली मुक्ति के पश्चात् बन्धन में नहीं आयेगा। जो नीचे गिरकर ऊपर उठ सकता है वह ऊपर उठकर नीचे भी गिर सकता है। यह कपापि नहीं हो सकता कि बन्धन

से मुक्ति में तो चला जाये किन्तु मुक्ति से वन्धन में न आये। इस प्रकार दो मुक्तियों के वीच बन्धन और दो वन्धनों के वीच मुक्ति के क्रम का न कभी आदि था, न अन्त होगा। न सदा बन्धन रहेगा, न मुक्ति ॥२९॥

यदि ऐसा है तो शास्त्रों में अनेकत्र 'अत्यन्तमोक्ष', 'अत्यन्तनिवृत्ति' जैसे शब्दों का प्रयोग क्यों मिलता है? इस शंका का समाधान करते हैं—

प्रभूतार्थमत्यन्तपदम् ॥३०॥

'अत्यन्त' पद अतिशय का बोधक है।

यह आवश्यक नहीं कि 'अत्यन्त' शब्द सर्वत्र नितान्त अन्तहीनता का वाचक हो। 'नाभावो विद्यते सतः' सत् का अभाव नहीं होता। 'किसी पदार्थ का प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है, उत्पत्ति और विनाश नहीं। 'अत्यन्तं दुःखमत्यन्तं सुखं वास्य वर्त्तते' का इतना ही तात्पर्य है कि इस मनुष्य को अत्यधिक दुःख वा सुख है। महाकवि कालिदास जब "कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा। नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण" में 'अत्यन्त' शब्द का प्रयोग करते है तो उनका अभिप्राय सुख-दुःख के नैरन्तर्य से ही होता है। इसी प्रकार उक्त सूत्रों में भी 'अत्यन्त' पद का अभिप्राय 'वहुत काल तक' से अधिक कुछ नहीं ॥३०॥

जितना कर्म किया जाता है, उसका उतना ही फल मिलता है। अतः—

न ह्यन्तवतां कर्मणां फलमनन्तम् ॥३१॥

सान्त कर्मों का फल अनन्त नहीं हो सकता।

कर्म सिद्धान्त के अनुसार मुक्ति जीव के अत्यन्त पुरुषार्थ अर्थात् उसके विशेष कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होती है। नियत शरीर और नियत काल में सीमित सामर्थ्य वाला जीव सीमित कर्म ही कर सकता है। ऐसे कर्मों का फल असीम नहीं हो सकता। यदि परमेश्वर नियत कर्मों का अनन्त फल दे अर्थात् अनन्तकाल के लिए मोक्ष सुख दे तो उसका यह कार्य न्याय्य नहीं होगा ॥३१॥

इसी सन्दर्भ में कुछ अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

नानित्यैःसाधनैःसम्प्राप्ता मुक्तिर्नित्या ॥३२॥

अनित्य साधनों से प्राप्त मुक्ति नित्य नहीं हो सकती।

निमित्त अथवा साधनों से प्राप्त पदार्थ नित्य नहीं हो सकता। जल आदि के प्रयोग से वस्त्र स्वच्छ हो जाता है। किन्तु कालान्तर में मैल लग जाने पर फिर मैला हो जाता है। जीव का सामर्थ्य शरीरादि पदार्थ एवं साधन अनित्य हैं। इन अनित्य साधनों से प्राप्त नैमित्तिक मुक्ति नित्य नहीं हो सकती।

अग्नि के निमित्त से जल में उष्णता आती है। अतः जब तक अग्नि का सम्पर्क रहता है, उसमें उष्णता बनी रहती है। इस निमित्त के हटते ही जल

की उष्णता धीरे-धीरे समाप्त हो जाती है और वह अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त हो जाता है। जीव-स्वरूप से अल्पज्ञ है। वह कितना ही प्रयास करे, परमेश्वर की भांति सर्वज्ञ नहीं हो सकता। यह ठीक है कि तत्त्वज्ञान के द्वारा जीव को मुक्ति की उपलब्धि होती है। किन्तु मुक्ति काल में वह मात्र आनन्द का उपभोग करता है। उस समय वह ज्ञानार्जन में प्रवृत्त नहीं होता। परिणामतः कालान्तर में उसका ज्ञान क्षीण हो जाता है। मुक्ति के निमित्तरूप (ज्ञानान्मुक्तिः—सा० ३-२३) ज्ञान का ह्रास होने पर वह पुनः बन्धन में आ जाता है। स्वभाव से अल्पज्ञ होने से जीव की बहुज्ञता नित्य नहीं हो सकती। जीव का बन्ध और मोक्ष प्रवाह से अनादि मानना ही युक्तियुक्त है ॥३२॥

न जीवात्मस्वनन्तानन्दभोगायासीमसामर्थ्यम् ॥३३॥

जीवात्मा में अनन्त आनन्द को भोगने का असीम सामर्थ्य नहीं।

जो जितना भार उठा सके उस पर उतना भार लादना ही उचित है। एक मन भार उठाने में समर्थ व्यक्ति के सिर पर दस मन भार धर देना अथवा चार रोटियाँ खा सकने वाले व्यक्ति को दस रोटियाँ खाने को विवश करना अन्याय एवं अत्याचार होगा। हर प्रकार से सीमित सामर्थ्य वाले जीव से असीम आनन्द के उपभोग की आशा नहीं की जा सकती। जैसे कर्म करने में जीव का सामर्थ्य सीमित है वैसे ही उसकी कर्मफल भोगने की योग्यता भी सीमित है। मोक्षावस्था में जीव परमेश्वर के साथी के रूप में आनन्द भोगता है सही। परन्तु जहां परमेश्वर सर्वव्यापक, सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् होने से सर्वदा आनन्दस्वरूप रहने में समर्थ है वहां जीवात्मा स्वभाव से अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति होने के कारण उसका आनन्द भी परिसीमित है। परमेश्वर की भांति वह अनन्तकाल तक आनन्दयुक्त नहीं रह सकता ॥३३॥

पर्यायेण बन्धमोक्षौ लोकवत् ॥३४॥

बन्ध और मोक्ष पर्यायक्रम से आते हैं, लोक के समान।

संसार में नित्य ही बन्धन के पश्चात् मुक्ति और मुक्ति के पश्चात् बन्धन देखा जाता है। संसार के काम काज से निवृत्त होकर प्रत्येक मनुष्य गहरी नींद में चला जाता है। उस अवस्था में बाह्यार्थों से असम्पृक्त होने के कारण उसके दुःखों का अभाव (तिरोभाव) हो जाता है। इसी आधार पर सुषुप्ति की अवस्था को मोक्षावस्था के सदृश माना जाता है (समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता—सा. ५-७९)। प्रातः काल होते ही पुनः सांसारिक व्यवहाररूप बन्धन में पड़ जाता है। इस प्रकार बन्धन के पश्चात् मुक्ति और मुक्ति के पश्चात् बन्धन प्रत्यक्ष देखने में आते हैं। जैसे सुषुप्ति के बाद जागरण और जागरण के बाद सुषुप्ति तथा दिन के बाद रात्रि और रात्रि के बाद दिन का आना

अवश्यम्भावी है वैसे ही मुक्ति के पश्चात् बन्धन और वन्धन के पश्चात् प्रयत्नपूर्वक मुक्ति का आना अनिवार्य है।

सुखं हि दुःखान्यनुभूय प्रेष्ठम् ॥३५॥

दुःखानुभूति के अनन्तर सुख अधिक प्रिय होता है।

जीव का स्वभाव ऐसा है कि वह सदा एक अवस्था में रहना नहीं चाहता। निरन्तर आनन्द में वह रस नहीं रहता जो उसकी प्रारम्भिक अवस्था में होता है। समय बीतने के साथ-साथ उसका ह्रास होने लगता है। यदि अत्यन्त स्वादिष्ट पदार्थ भी नित्य खाया जाये तो उससे अरुचि होने लगती है। मधुर-संगीत भी कुछ देर के बाद वैसा रुचिकर नहीं रह जाता। वस्तुतः जीवन का महत्त्व मृत्यु से और सुख का महत्त्व दुःख से है। वैसे ही बन्धन के पश्चात् मुक्ति और मुक्ति के पश्चात् बन्धन न हो तो स्वयं मुक्ति भी भाररूप प्रतीत होने लगे। इस प्रकार सुख-दुःख की भांति बन्ध मोक्ष के पर्याय क्रम से चलते रहने में ही मोक्षानन्द की तीव्र अनुभूति सम्भव है॥३५॥

अब मुक्ति से पुनरावृत्ति के सन्दर्भ में पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हैं—

न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगः शब्दात् ॥३६॥

मुक्तात्मा का पुनः बन्ध से योग नहीं होता, शब्द प्रमाण से।

जन्म-मरण के बन्धन से छूट जाना मोक्ष कहलाता है। अतः मुक्तात्मा का फिर से जन्म-मरण के चक्र में फँसने का प्रश्न नहीं रहता। उपनिषदादि ग्रन्थों में अनेकत्र इस प्रकार के प्रमाण उपलब्ध हैं जिनमें मुक्ति से पुनरावृत्ति का स्पष्ट निषेध किया है। जैसे—

१—स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते
न च पुनरावर्तते (छा. ८-१५-१)—फिर लौटकर नहीं आता।

२—एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्त्तन्ते (छा. ४-१५-५)—इस (देवयान मार्ग) से जाने वाले इस मानव कल्प में नहीं लौटते।

३—तेषां न पुनरावृत्तिः (बृहद्. ६-२-१५)—उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती।

४—तस्मान्न पुनरावर्त्तते (प्रश्न. १-१०)—वहां से नहीं लौटता।

५—यस्माद् भूयो न जायते (कठ. ३-१०)—जहां जाकर फिर उत्पन्न नहीं होता।

६—यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते (गीता० १५-६)—जहां जाकर लौटते नहीं।

७—अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् (वे० सूत्र० ४-४-२२)—शब्द प्रमाण से अनावृत्ति है।

उत्तर पक्ष प्रस्तुत करते हुए इन शंकाओं का समाधान करते है—

नादिमतो मोक्षस्यानन्तता ॥३७॥

मुक्ति का आदि होने से वह अनन्त नहीं हो सकती।

जिसका आदि है उसका अन्त अनिवार्य है। जैसे एक किनारे की नदी की कल्पना नहीं की जा सकती वैसे ही ऐसी मुक्ति नहीं हो सकती जिसका आदि तो है किन्तु अन्त कभी नहीं होगा। वस्तुतः पूर्वोद्धृत वचनों से मुक्ति से पुनरावृत्ति के सिद्धान्त का किञ्चित् भी विरोध नहीं है। प्राचीन ऋषियों के कथन की शैली को ठीक-ठीक न समझकर अर्थ का अनर्थ किया जाता है।

मीमांसा का एक न्याय है 'न हि निन्दा निन्दितुं प्रवर्त्ततेऽपितु विधेयं स्तोतुम्'। तदनुसार 'अपशवोवाऽन्ये गो अश्वेभ्यः' इत्यादि वाक्य का गो अश्व से भिन्न पशुओं के पशुत्वाभाव के प्रख्यापन में तात्पर्य नहीं है, अपितु अन्य पशुओं की अपेक्षा गो अश्व की प्रशंसा करना मात्र अभीष्ट है। इसी प्रकार 'न च पुनरावर्त्तते' का तात्पर्य मुक्ति से पुनरावृत्ति के निषेध में नहीं है, अपितु मुक्ति के पूर्णकाल पर्यन्त जीव मुक्ति में रहता है अर्थात् बीच में नहीं लौटता—यह तात्पर्य है। उपनिषद्, वेदान्तसूत्र तथा गीता आदि में जहां कहीं इस प्रकार के वाक्य मिलें वहां उनका यही अभिप्राय समझना चाहिये।

मीमांसा के 'सर्वत्वमाधिकारिकम्' (१-२-१६) सूत्र के अनुसार इसे दूसरे रूप में भी समझा जा सकता है। ब्राह्मण वचन है—'पूर्णाहुत्या सर्वान् लोकान् अवाप्नोति, सर्वान् लोकान् जयति' इस पर विचार करके 'सर्वत्वमाधिकारिकम्' सूत्र से समाधान किया है कि पूर्णाहुति से प्राप्त जितना फल है, उतने का ही सर्वत्व यहां विवक्षित है। मीमांसा के इस अधिकरण के अनुसार उपर्युक्त वचनों का अर्थ इस प्रकार जानना चाहिये—

"उक्त वचनों में जो पुनरावर्त्तन का निषेध किया है, वह आत्यन्तिक निषेध न होकर प्रकृत मुक्ति विषय से सम्बद्ध है, अर्थात् मुक्ति का जितना काल शास्त्रों में लिखा है उस काल के मध्य मुक्त जीव का संसार में पुनरावर्त्तन नहीं होता।"

आचार्य शंकर ने छान्दोग्य उपनिषद् के उक्त सन्दर्भ (८-५५-१) की व्याख्या करते हुए इसी अर्थ की पुष्टि की। वह लिखते हैं—"यावद् ब्रह्मलोकस्थितिः तावत्तत्रैव तिष्ठति, प्राक्ततो नावर्त्तत इत्यर्थः" अर्थात् जब तक ब्रह्मलोक में स्थिति है तब तक वहीं रहता है, अवधि की समाप्ति से पूर्व नहीं लौटता। ब्रह्म तो अनादि है, ब्रह्मलोक भी सदा वर्तमान रहता है। अतः ब्रह्मलोक की आयु का तो प्रश्न ही नहीं उठता। ब्रह्म का प्राप्त होना ही जीव द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति है। अतः यहां 'यावदायुषं' शब्द ब्रह्मलोक में जीव के रहने की अवधि के लिये आया है। शंकर की व्याख्या से स्पष्ट है कि जब तक ब्रह्मलोक में स्थिति का काल है तब तक मुक्तात्मा का आवर्तन नहीं होता। किन्तु स्थिति काल की समाप्ति पर आवर्तन में कोई बाधा नहीं। छान्दोग्य के दूसरे

सन्दर्भ (४-१५-५) की व्याख्या में भी शंकराचार्य ने इसी भाव को स्पष्ट करते हुए कहा–'एतेन प्रतिपद्यमाना गच्छन्तो ब्रह्म इमं मानवं मनुसम्बन्धिनं मनोः सृष्टिलक्षणमावर्त्तं नावर्त्तन्ते'। तात्पर्य यह है कि देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए ज्ञानी आत्मा इस मानव आवर्त्त (मनु सम्बन्धी सर्ग अथवा मानुषी–मैथुनी सृष्टि) में नहीं लौटते। इसकी टीका करते हुए आनन्दगिरि कहते हैं--'इममिति विशेषणादनावृत्तिरस्मिन् कल्पे कल्पान्तर एवावृत्तिरिति सूच्यते।' अर्थात् यहां जो 'इमम्' विशेषण है इससे ज्ञात होता है कि मुक्तात्मा इस कल्प में नहीं लौटता किन्तु कल्पान्तर में लौट सकता है।

छान्दोग्य (५-१०) का भाष्य करते हुए शंकराचार्य पूर्व पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं--'न च पुनरावर्त्तन्त इतीमं मानवमावर्त्तन्त इत्यादि श्रुतिविरोध इति'–एक श्रुति कहती है कि ब्रह्म को प्राप्त हुआ जीव लौटता है, दूसरी श्रुति कहती है कि कल्प में नहीं लौटता--क्या इनमें परस्पर विरोध नहीं है? इसका समाधान करते हुए वह कहते हैं–'इमं मानवमिति विशेषणात् तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्तीति' अर्थात् यहां 'इमम्' विशेषण से स्पष्ट है कि मात्र इस कल्प में पुनरावृत्ति का निषेध किया है।

पुनः बृहदारण्यक के अन्तर्गत (६-२-१५) "ते तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो वसन्ति न तेषां पुनरावृत्तिः" (वे उन लोकों में अनेक वर्षों तक निवास करते हैं, उनकी फिर आवृत्ति नहीं) का भाष्य करते हुए आचार्य शंकर ने लिखा– "पराः परावृतः प्रकृष्टाः समाः संवत्सराननेकान् वसन्ति। ब्रह्मणोऽनेकान् कल्पान् वसन्तीत्यर्थः। तेषां ब्रह्मलोकं गतानां नास्ति पुनरावृत्तिः" अनेक संवत्सर पर्यन्त वहां निवास करते हैं, अर्थात् ब्रह्मा के अनेक कल्पों तक वहां बसते हैं। ब्रह्मलोक को प्राप्त उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती। शंकराचार्य ने यहां 'संवत्सराननेकान्' (अनेक वर्ष) तथा 'अनेकान् कल्पान्' (अनेक कल्प) कह कर मुक्ति के काल का स्पष्ट निर्देश कर दिया। वर्षों और कल्पों से सीमित होने पर मुक्ति निरवधि नहीं रही। तब न लौटने का अर्थ 'अवधि में न लौटना' के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। इसी सन्दर्भ में आचार्य शंकर आगे कहते हैं–'अस्मिन् संसारे न पुनरागमनं ('इह' इति शाखान्तर पाठात्' अर्थात् दूसरी शाखा में 'इह' पाठ से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मलोक को प्राप्त जीवों का आगमन) 'इस' संसार में नहीं होता। उपर्युक्त पाठ यजुर्वेदीय काण्वशाखा के शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत बृहदारण्यकोपनिषद् का है। परन्तु वाजसनेयिशाखा के शतपथ ब्राह्मण (१४-९-१-१८) में 'तेषामिह न पुनरावृत्तिः' यह 'इह' पदघटित पाठ है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए शंकराचार्य लिखते हैं– 'यदि हि नावर्त्तन्त एव इह ग्रहणमनर्थकमेव स्यात्' अर्थात् यदि मुक्तात्मा का कभी न लौटना अभिप्रेत हो, तो 'इह' पद का प्रयोग व्यर्थ हो जाये। इस प्रसंग का उपसंहार करते हुए शंकराचार्य ने लिखा–'तस्मादस्मात्कल्पादूर्ध्वं आवृत्तिर्गम्य'

अर्थात् इस कल्प के अनन्तर पुनरावृत्ति जानी जाती है।

इस प्रकार उपनिषदों और उन पर आधारित गीता आदि ग्रन्थों में जहां-जहां मुक्ति से अनावृत्ति का प्रसंग मिले वहां-वहां 'मुक्ति के लिए नियत अवधि में पुनरावृत्ति नहीं होती' यही तात्पर्य समझना चाहिये।

वेदान्त दर्शन के अन्तर्गत 'अनावृत्तिः शब्दात्' (४-४-२२) का अर्थ भी यही समझना चाहिए कि शब्द प्रमाण से 'मुक्ति की अवधि में' अनावृत्ति सिद्ध है। अनावृत्ति का जो अर्थ श्रुति को मान्य है वही ब्रह्मसूत्र को भी स्वीकार्य है, अर्थात् मुक्ति की नियत अवधि में अथवा इस कल्प में अथवा इस मानुषी सृष्टि में मुक्तात्मा का पुनरागमन नहीं होता। लोक में किसी व्यक्ति को सेवा में स्थिर या स्थायी करने का अर्थ यह नहीं होता कि अब वह मृत्यु पर्यन्त सेवा से निवृत्त नहीं किया जा सकेगा। इसका तात्पर्य इतना ही होता है कि उसे सेवा निवृत्ति के लिये नियत आयु (५५ या ५८ वर्ष) से पूर्व नहीं हटाया जा सकेगा। इसी प्रकार आजीवन कारावास का अभिप्राय यही होता है कि दण्डित व्यक्ति को आजीवन कारावास की नियत अवधि (प्रायः २० वर्ष) तक कारागार में रहना होगा, यह नहीं कि अब वह जेल से कभी बाहर नहीं आयेगा।

शब्द प्रमाण की दृष्टि से वेद का स्वतः प्रामाण्य सर्वोपरि है। अतः इस सन्दर्भ में ऋग्वेद (१-२४-१,२) के निम्न मन्त्र द्रष्टव्य हैं—

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥
अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥

प्रश्न—हम लोग किसका पवित्र नाम जानें? कौन नाशरहित पदार्थों के मध्य में वर्तमान देव सदा प्रकाशस्वरूप है जो हमको मुक्ति का सुख भुगा कर पुनः इस संसार में जन्म देता है और माता-पिता का दर्शन कराता है?

उत्तर—हम उस प्रकाशस्वरूप अनादि सदामुक्त परमात्मा का पवित्र नाम जानें जो हमको मुक्ति का आनन्द भुगाकर पुनः इस संसार में जन्म देता और माता-पिता का दर्शन कराता है।

वेद के इन वचनों में मुक्तात्मा की पुनरावृत्ति का स्पष्ट उल्लेख है ॥३७॥

सृष्टि की रचना जीवात्मा के कर्मफल भोगने के लिए होती है। मुक्तात्माओं के कोई कर्म शेष नहीं रहते। फिर उन्हें जन्म देने का क्या प्रयोजन है?

पुनर्मुक्त्यर्थं पुनर्जन्म ॥३८॥

फिर से मुक्ति पाने के लिए पुनर्जन्म है।

मुक्ति जीवात्मा की स्वाभाविक अवस्था नहीं है। निमित्त से प्राप्त मुक्ति नित्य होने से एक न एक दिन उसका अन्त होना निश्चित है। किन्तु जिस मुक्ति

का रसास्वादन वह कर चुका है उसे वह खोना नहीं चाहता। तथापि यह उसके वश की बात नहीं है। जितनी कमाई की थी वह चुक गई है। अब उसके लिए नए सिरे से प्रयास करना होगा। नैमित्तिक तत्त्वज्ञान के द्वारा मोक्ष की सिद्धि हुई थी। उसके फलस्वरूप प्राप्त आनन्द का उपभोग करता रहा। मुक्ति काल में भविष्य के लिए अतिरिक्त संग्रह करने का अवसर नहीं था। पूर्वप्राप्त ज्ञान का क्रमशः ह्रास होते-होते पुनः बन्धन की स्थिति में आ गया। मुक्ति के अभिलाषी जीव को तत्वज्ञान के साधनों की पुनः अपेक्षा हुई। 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्'—मुक्ति की प्राप्ति में सहायक ये साधन एतदर्थ निर्मित इस सृष्टि में ही उपलब्ध हैं। अतः मुक्तात्मा को पुनः इस सृष्टि में जन्म लेना पड़ता है। जहां से जाता है, कालान्तर में लौट कर वहीं आ जाता है और अभीष्ट को पाने के लिए यथापूर्व प्रयास का अवसर पा जाता है॥३८॥

मुक्तातमाओं की पुनरावृत्ति न मानने पर होने वाली हानि का उल्लेख करते हैं—

परावर्त्तनाभावे संसारसमुच्छेदः जीवानां निःशेषत्त्वात् ॥३९॥

पुनरावृत्ति न होने पर संसार का उच्छेद हो जायेगा, जीवों के शेष न रहने से।

यदि आत्माओं की बराबर मुक्ति होती रहे और उनमें से कोई कभी लौट कर न आये, तो एक दिन संसार का उच्छेद हो जायेगा। क्योंकि चाहे कितना ही बड़ा धनकोष क्यों न हो, निरन्तर व्यय होते रहने पर कभी न कभी समाप्त हो ही जाता है। किन्तु आज तक संसार का अत्यन्त उच्छेद नहीं हुआ। 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्'—प्रवाह से अनादि सृष्टि की रचना प्रत्येक कल्प में होती है। यह क्रम अनादि काल से अनन्तकाल तक निर्बाधरूप से चलता रहता है। 'न हि प्रयोजनमनभिसन्धाय प्रेक्षावन्तः प्रवर्त्तन्ते'—प्रयोजन के बिना प्रवृत्ति नहीं होती। प्रयोजन का लक्षण है 'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम्' अर्थात् जिस अर्थ को लक्ष्य कर कोई प्रवृत्त होता है वह अर्थ प्रयोजन कहाता है। इस प्रकार परमेश्वर द्वारा बार-बार सृष्टि रचना का भी कोई न कोई प्रयोजन है। वह प्रयोजन 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' इस सूत्र में स्पष्ट कर दिया गया है। भोग और अपवर्ग का यह निर्देश 'अकाम तथा नित्यमुक्त' परमेश्वर के लिए नहीं हो सकता। इससे स्पष्ट है कि जीव के निमित्त ही बार-बार सृष्टि की रचना होनी है। तब, यदि सृष्टि प्रवाह से अनादि है तो जीवात्मा की मुक्ति भी प्रवाह से अनादि माननी होगी। जीवों के मोक्ष में जाकर आवर्तमान होने में ही यह संभव है॥३९॥

मुक्ति से न लौटने पर भी संसार का उच्छेद नहीं होगा। क्योंकि आवश्यकतानुसार नए जीवों की सृष्टि होती रहेगी—यह पूर्वपक्ष सूत्रबद्ध किया—

न नव्यजीवोत्पादनात् ॥४०॥

नये जीवों की उत्पत्ति के कारण (संसार का उच्छेद) नहीं होगा।

यह पूर्वपक्ष है। सृष्टि के लिए जीव की अपेक्षा है–इस तर्क से मुक्तात्माओं के मुक्ति से पुनरावर्त्तन की आवश्यकता सिद्ध नहीं होती। क्योंकि मुक्तात्माओं के स्थान पर नये जीव उत्पन्न करके सृष्टि को चालू रक्खा जा सकता है। सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ऐसा करने में समर्थ है।

अब इसका उत्तर देते हैं—

नात्मनामनित्यत्वापत्तेः ॥४१॥

आत्मा के अनित्य हो जाने से ऐसा नहीं हो सकता।

परमेश्वर के सर्वशक्तिमान् होने का यह अर्थ कदापि नहीं कि वह जो चाहे कर सकता है। 'सर्वशक्तिमान्' का इतना ही तात्पर्य है कि परमेश्वर को अपने कार्यों के करने में अन्य किसी के साहाय्य की अपेक्षा नहीं होती। जीवों के भोगापवर्ग की व्यवस्था करना परमेश्वर का काम है, जीवों को उत्पन्न करना नहीं। यदि 'दुर्जनतोषन्याय' से परमेश्वर द्वारा जीवों का उत्पन्न होना मान भी लिया जाये तो इन जीवों का अनित्य होना स्वतः सिद्ध है। क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका विनाश अवश्यम्भावी है। और जब जीव ही न रहा तो उसकी मुक्ति नित्य कैसे होगी?

फिर, जीवों की उत्पत्ति में कारण क्या होगा? जीव के न रहने पर दो ही पदार्थ शेष रह गये–ईश्वर और प्रकृति। सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं नित्यमुक्त परमेश्वर में से एकदेशी, अल्पज्ञ, अल्पशक्ति एवं जन्म-मरण के बन्धन में पड़ने वाले जीव की उत्पत्ति की कल्पना कैसे की जा सकती है? इसी प्रकार जड़ प्रकृति से चेतन तत्त्व जीव की उत्पत्ति भी असम्भव है। वस्तुतः अनुच्छित्तिधर्मा-अविनाशी जीव की उत्पत्ति संभव नहीं। मुक्ति से पुनरावृत्ति में ही समस्त समस्याओं का समाधान निहित है ॥४१॥

अब पूर्वपक्ष के रूप में कथन करते हैं—

नेयं स्पृहणीया जन्ममरणसादृश्यात् ॥४२॥

जन्म-मरण के समान होने से ऐसी मुक्ति चाहने योग्य नहीं।

जो आज है, कल नहीं–ऐसी 'श्वोभावा' मुक्ति की इच्छा करना और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयास करना व्यर्थ है। 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्'–जन्म जन्मान्तर के अनवरत पुरुषार्थ के फलस्वरूप प्राप्त मुक्ति से भी कुछ काल के पश्चात् लौटकर फिर यहीं आना है तो वहां जाने का क्या लाभ? इसका समाधान करते हुए कहा—

मृत्योरपरिहार्यत्वेऽपि जिजीविषेव ॥४३॥

मृत्यु के अपरिहार्य होने पर भी जीवन की इच्छा की भांति।

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः'—जो उत्पन्न हुआ है, समय आने पर उसकी मृत्यु निश्चित है—यह जानते हुए भी मनुष्य जीना चाहता है और तदर्थ साधन जुटाता है। खाने के कुछ काल पश्चात् भूख अवश्य लगेगी—यह जानते हुए भी मनुष्य बार-बार भोजन करता है। तब मुक्ति में इतने दीर्घ काल तक दुःखों से छूटकर आनन्दोपभोग करना क्या छोटी बात है जो उसके लिये प्रयास न किया जाये ? ॥४३॥

अब मुक्ति की अवधि का निर्देश करते हैं—

षट्त्रिंशत्सहस्रकृत्वः सर्गप्रलययोः कालपर्यन्तं मोक्षः ॥४४॥

छत्तीस सहस्र बार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय में लगने वाले समय के बराबर मुक्ति की अवधि होती है।

एक बार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय में आठ अरब चौंसठ करोड़ वर्ष का समय लगाता है। इस प्रकार छत्तीस सहस्र बार सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय में ३१ नील १० खरब ४० अरब वर्ष लगेंगे। इसे दूसरी तरह भी समझा जा सकता है। ४३ लाख २० सहस्र वर्षों की एक चतुर्युगी, दो सहस्र चतुर्युगियों का एक (ब्राह्म) अहोरात्र, ऐसे ३० अहोरात्रों का एक मास, ऐसे १२ मास का एक वर्ष और ऐसे सौ वर्षों का 'परान्तकाल' होता है। इतने समय तक किसी प्रकार का दुःख न होकर आनन्द ही आनन्द में रहना साधारण बात नहीं है। इसे जन्म-मरण के सदृश कैसे कहा जा सकता है ? ॥४४॥

मुक्तावस्था में जीव के साथ क्या कुछ रहता है। इसके उत्तर में कहते हैं—

न मुक्तस्य स्थूलशरीरम् ॥४५॥

मुक्तात्मा का स्थूल शरीर नहीं रहता।

त्रिविध दुःखों से छूटने का नाम मोक्ष है। किन्तु शरीर के रहने पर यह संभव नहीं। जैसा छान्दोग्य (८-१२-१) में कहा—'सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यामात्तः—इन्द्रियादि से युक्त शरीर का प्रिय-अप्रिय अर्थात् सांसारिक सुख-दुखों से घिरे रहना अनिवार्य है। मोक्षावस्था में इन दुःखों का पूर्ण उच्छेद होता है। फलतः उस दशा में स्थूल शरीर का रहना नहीं बनता। इसलिये छान्दोग्य (८-१२-१) में कहा—'अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः'—मोक्षदशा में अशरीर जीवात्मा को प्रिय-अप्रिय स्पर्श नहीं करता। वहां प्राकृत शरीर इन्द्रिय आदि का आत्मा के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। किन्तु मननात्मक शुद्ध सकल्पमय शरीर तथा प्राण और इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति बराबर

बनी रहती है। छान्दोग्य (८-१२-५) उपनिषद् के अनुसार 'मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते'—मुक्तात्मा मन से अर्थात् मननात्मक शक्ति से ही सब कामनाओं का उपभोग करते हुए आनन्द में मग्न रहता है। यदि वहां शरीर इन्द्रियादि का अस्तित्व होता तो 'मनसा' कहना व्यर्थ था ॥४५॥

स्वीयसामर्थ्येनैवाशेषानन्दोपभोगः सङ्कल्पमात्रेण ॥४६॥

अपने (स्वाभाविक) सामर्थ्य से संकल्पमात्र (शरीर) से सम्पूर्ण आनन्द भोगता है।

आनन्द की अनुभूति मुक्तात्मा का ऐश्वर्य भोग है। इसका यह ऐश्वर्य भोग अथवा ऐश्वर्यानुभव संकल्पमात्र से होता है। आत्मा का यह संकल्प स्वसामर्थ्य रूप है जिसकी अभिव्यक्ति ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर होती है। सूत्र में प्रयुक्त 'एव' पद से स्पष्ट है कि संकल्प के अतिरिक्त उसे शरीर इन्द्रियादि किसी साधन की अपेक्षा नहीं होती। किन्तु यह संकल्प अन्तःकरण की संकल्पात्मक वृत्ति के समान न होकर उससे सर्वथा भिन्न आत्मा की अनुभूतिमात्र है। इसी सन्दर्भ में छान्दोग्य(८-२-१०) में कहा—"यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते"—जिस प्रदेश व कामना की वह अभिलाषा करता है वह उसके संकल्पमात्र से उद्भूत हो जाता है। उससे सम्पन्न होकर वह आनन्दित रहता है। इसकी व्याख्या करते हुए शतपथ ब्राह्मण (१४-४-२-१७) में बताया—"प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति, वदन् वाक्, पश्यंश्चक्षुः, शृण्वञ्छ्रोत्रं, मन्वानो मनस्, तस्यैतानि कर्मनामानि," मोक्ष में भौतिक शरीर व इन्द्रियों के गोलक जीवात्मा के साथ न रहने पर वह संकल्पमात्र से जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने के लिये चक्षु, स्वाद के लिये रसना, निश्चय करने के लिये बुद्धि और स्मरण करने के लिये चित्त हो जाता है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि मोक्ष में श्रोत्रादि इन्द्रियों का प्रादुर्भाव हो जाता है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि मुक्तात्मा अपने शक्तिरूप संकल्प से भावना के अनुसार ऐसा अनुभव करने लगता है। वेदान्तसूत्र (४-४-८) में कहा—'संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः' अर्थात् श्रुति से सिद्ध है कि वह कामना संकल्पमात्र से सिद्ध हो जाती है। श्रुति (ऋग्वेद ९-११३-९) में भी कहा है—'यत्रानुकामं चरणं……तत्र माममृतं कृधि'। अर्थात् जहां मुक्तात्मा कामनानुकूल विचरण करते हैं वहां मुझे भी मुक्त कर दें ॥४६॥

अब जीव के स्वाभाविक सामर्थ्य का विवरण प्रस्तुत करते हैं—

बल-पराक्रमाकर्षण-प्रेरणागतिभयविवेचन-क्रियोत्साह-स्मरणाध्यवसायेच्छारागद्वेष-संयोगवियोग-संयोजक-विभाजक-श्रवणस्पर्शन-दर्शनस्वादनघ्राण-ज्ञानैश्चतुर्विंशति-सामर्थ्ययुक्तोऽयमात्मा ॥४७॥

वल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भय, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, वियोग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन, गन्धग्रहण और ज्ञान--इस चौबीस प्रकार के सामर्थ्य से युक्त जीव है। इसी सामर्थ्य से वह भौतिक शरीर के बिना मुक्ति में आनन्द का भोग करता है। ४७॥

मुक्ति जीवन काल में प्राप्त होती है या मरने के बाद ही--इसका विवेचन करते हैं—

सदेहो गुणातीतो जीवन्मुक्तः ॥४८॥

गुणातीत होकर सशरीर जीवन्मुक्त होता है।

मुक्ति मनुष्य को जीवन काल में ही प्राप्त करनी होती है। मुक्ति का अर्थ है--अब आगे और जन्म न होना। इसलिये यदि जीवन में मुक्ति प्राप्त न हो तो मरने के पश्चात् तो उसकी प्राप्ति के साधन उपलब्ध न होने से तदर्थ कोई प्रयत्न संभव ही न होगा। सांख्य दर्शन (५-७६) में कहा—'समाधिसुषुप्ति-मोक्षेषु ब्रह्मरूपता' अर्थात् समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में ब्रह्मरूपता--त्रिविध दुःखों से निवृत्ति होकर आनन्दानुभूति होती है। समाधि और सुषुप्ति की अवस्था में मोक्ष के समान दुःख के अभाव और आनन्द के प्रादुर्भाव का कारण है उस अवस्था में बाह्य और आन्तर इन्द्रियों का व्यापार वन्द हो जाने से प्राकृत जगत् से जीवात्मा का सम्बन्ध न रहना। जब आत्मज्ञान तथा निरन्तर अभ्यास के द्वारा मनुष्य जाग्रत् में इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है तो जीवन्मुक्त हो जाता है। कठोपनिषद् (६-१०) में इस अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥

जब मन और इन्द्रियाँ अपना-अपना काम वन्द करके स्थिर हो जाती है और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती उसे परमगति-मोक्ष=जीवन्मुक्तावस्था कहते हैं। गीता (१४-२३) में भी कहा है—

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्त्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते॥

जो मनुष्य गुणों से चलायमान न होकर स्थिर रहता और उनके अधीन चेष्टा नहीं करता—त्रिगुणात्मक प्रकृति पर इस प्रकार विजय प्राप्त करने वाले मनुष्य को गुणातीत अथवा जीवन्मुक्त कहते हैं। इसी अध्याय के २४-२५ वें श्लोकों

में दिये गुणातीत के समस्त लक्षण सशरीर व्यक्ति पर ही लागू होते हैं।

जीवन्मुक्त आत्मा एकत्र स्थित होता हुआ, योगाभ्यास से शुद्ध अन्तःकरण के द्वारा आनन्दानुभूति के साथ अनेक दैहिक व्यापार करने में समर्थ रहता है। जीवन्मुक्त दशा में यद्यपि आनन्दानुभूति के लिये शरीर इन्द्रियादि का कोई उपयोग नहीं होगा, फिर भी जीवन्मुक्त ब्रह्मज्ञानी उठते-बैठते, खाते-पीते, आते-जाते साधारण दैहिक व्यापार करते हुए भी आनन्द की अनुभूति में लीन रहता है।

किन्तु विदेह मुक्ति इससे उत्तर अवस्था है। विदेह मुक्ति में उक्त अवस्था साधनरूप है। साध्यसाधन में अभेदोपचार से इसे मुक्ति कह दिया जाता है। वस्तुतः जीवन्मुक्त से अभिप्राय है परम मोक्ष का पूर्ण अधिकारी—जिसे मोक्ष प्राप्ति के लिये अब और कुछ करना शेष नहीं रहा। सुषुप्ति की मुक्ति शरीर सहित किन्तु ज्ञानरहित होती है, समाधि और जीवन्मुक्त की मुक्ति शरीर सहित और ज्ञानसहित होती है, मरने के पश्चात् मुक्ति शरीर-रहित और ज्ञान-सहित होती है। यह तभी प्राप्त होती है जब कोई पहले समाधि तथा जीवन्मुक्त की अवस्था को प्राप्त कर लेता है ॥४८॥

कुछ लोग मुक्ति भी चार प्रकार की मानते हैं। अगले सूत्र में पूर्वपक्ष के रूप में तथाकथित मुक्तियों का उल्लेख करते हैं—

सालोक्यसामीप्यसानुज्यसायुज्यलक्षणा चतुर्धामुक्तिः ॥४९॥

सालोक्य, सामीप्य, सानुज्य और सायुज्य भेद से चार प्रकार की मुक्ति है। ईश्वर के लोक में निवास करने से 'सालोक्य', सेवक के समान ईश्वर के पास रहने से 'सामीप्य', छोटे भाई के समान ईश्वर के साथ रहने से 'सानुज्य' और ईश्वर से संयुक्त होने से 'सायुज्य' मुक्ति होती है ॥४९॥

इसकी समीक्षा करके उत्तर पक्ष प्रस्तुत करते हैं—

नेयं मुक्तिः स्वतस्सिद्धेः ॥५०॥

स्वतः सिद्ध होने से यह मुक्ति नहीं।

यहां न बन्धन है और न छूटने के लिए प्रयत्न अपेक्षित है। फिर मुक्ति कैसी ॥५०॥

क्योंकि—

ईश्वराधिष्ठिते लोके निवासाज्जीवस्य सालोक्यम् ॥५१॥

ईश्वर द्वारा अधिष्ठित लोक में जीवों के निवास करने से उनका 'सालोक्य' है। जितने भी लोक लोकान्तर हैं सब ईश्वर के हैं। कृमि, कीट, पतंग, पशु, पक्षी, मनुष्यादि प्राणी कहीं भी रहें, ईश्वर के लोक में ही रहते हैं। अतः इस रूप

में 'सालोक्य' मुक्ति प्राणिमात्र को सदा स्वतः प्राप्त है। उसके निमित्त कोई प्रयत्न अपेक्षित नहीं ॥५१॥

इसी प्रकार–

अन्तर्यामित्वादीश्वरस्य सामीप्यम्॥५२॥

ईश्वर के अन्तर्यामी होने से 'सामीप्य' है।

ईश्वर कण-कण में व्याप्त है। 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः' (यजु: ४०-५)-परमात्मा प्रत्येक पदार्थ के भीतर है और बाहर भी। गीता में कहा–'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' अर्थात् ईश्वर प्राणिमात्र के हृदय में विद्यमान है। ऐसे ईश्वर से दूर कोई कैसे रह सकता है? इस रूप में 'सामीप्य' मुक्ति प्राणिमात्र को अनायास उपलब्ध है। एतदर्थं 'अत्यन्त पुरुषार्थ' करने का प्रश्न ही नहीं उठता ॥५२॥

वैसे ही–

ईश्वरापेक्षयाल्पज्ञत्वादिगुणानां सत्त्वात्सानुज्यम् ॥५३॥

ईश्वर की तुलना में अल्पज्ञत्वादि गुणों के होने से 'सानुज्य' है।

ईश्वर के समान जीव अनादि तथा चेतन होने से उसके बंधुवत् है। किन्तु अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति होने से उससे छोटा है। जीव न उसके समान हो सकता है और न उससे बड़ा। अतः उसका 'सानुज्य' स्वतः सिद्ध है ॥५३॥

इसी प्रकार–

व्याप्यव्यापकसम्बन्धात्सायुज्यम् ॥५४॥

व्याप्य–व्यापक सम्बन्ध होने से 'सायुज्य' है।

सर्वव्यापक होने से ईश्वर जीव में भी व्यापक है, जीव व्याप्य है। इस व्याप्यव्यापक सम्बन्ध को जीव चाह कर भी अन्यथा करने में असमर्थ होने से ईश्वर से सदा संयुक्त है। इस प्रकार उसका 'सायुज्य' सदा से स्वतः सिद्ध है ॥५४॥

मोक्ष का अधिकारी वही है जिसके पास उसकी प्राप्ति के साधन हैं–इसे सूत्रबद्ध किया–

साधनचतुष्टयैर्युक्तो मोक्षाधिकारी ॥५५॥

चार साधनों से युक्त पुरुष मोक्ष का अधिकारी है।

चार साधनों का उल्लेख अगले सूत्र में किया—

विवेको वैराग्यं षट्कसम्पत्तिः मुमुक्षुत्वञ्च साधनचतुष्टयम् ॥५६॥

विवेक, वैराग्य, षट्कसम्पत्ति और मुमुक्षुत्व—ये चार मुक्ति के साधन हैं ॥५६॥

अगले सूत्रों में इन साधनों की व्याख्या की है—

गुणकर्मस्वभावाभिज्ञानपूर्वकं वस्तूनामुपयोगो विवेकः ॥५७॥

पदार्थों के गुण-कर्म-स्वभाव को जानकर उनका यथावत् उपयोग 'विवेक' है।

यथार्थ ज्ञान के विना मुक्ति संभव नहीं। अतः मोक्षपथ का अनुगमन करने वाले के लिये पृथिवी से परमेश्वर पर्यन्त प्रत्येक पदार्थ के गुण-कर्म-स्वभाव को जानना अनिवार्य है। पदार्थ के गुणों को जाने विना उसका उपयोग नहीं हो सकता। अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख और अनात्म देहादि को आत्मा अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसको वैसा न समझ कर उससे विपरीत मानना अविद्या है जो समस्त दुःखों का मूल है। विवेक हो जाने पर इसका प्रतिकार होता है। यह विवेक ज्ञान सर्वप्रथम शास्त्रों के अध्ययन तथा आप्त पुरुषों के सदुपदेश से होता है। अनन्तर युक्तिपूर्वक मनन द्वारा पुष्ट एवं दृढ़ होता है। जब आत्मा यह जान लेता है कि यह शरीर, इन्द्रिय, भौतिक पदार्थ आदि प्राकृतिक रचना हैं और इस कारण जड़ एवं परिणामी पदार्थ हैं तथा देह आदि से भिन्न आत्मतत्व चेतन एवं अपरिणामी है तब वह उनका यथार्थ उपयोग करते हुए प्रकृति से असम्पृक्त शुद्ध रूप का साक्षात्कार करता है ॥५७॥

सत्याचरणानुष्ठानमसत्याचरणपरित्यागश्च वैराग्यम् ॥५८॥

सत्याचरण का अनुष्ठान और असत्याचरण का त्याग 'वैराग्य' कहाता है।

जब मनुष्य विवेक द्वारा सत्यासत्य—पदार्थों के सदसत्स्वरूप को जान लेता है अर्थात् प्रकृति—पुरुष के भेद को भली प्रकार समझ लेता है तो नित्य पदार्थों की ओर प्रवृत्त और अनित्य पदार्थों में वितृष्ण हो जाता है। यही वैराग्य का स्वरूप है ॥५८॥

शमदमोपरतितितिक्षाश्रद्धासमाधानानि षट्कसम्पत्तिः ॥५९॥

शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान—ये छह षट्कसम्पत्ति हैं ॥५९॥

धर्माचरणे प्रवृत्तिः शमः ॥६०॥

आत्मा और अन्तःकरण को अधर्म से हटाकर धर्माचरण में प्रवृत्त रखना 'शम' है ॥६०॥

जितेन्द्रियत्वं दमः ॥६१॥

श्रोत्रादि इन्द्रियों और शरीर को व्यभिचारादि दुष्कर्मों से हटाकर शुभ कर्मों में लगाना 'दम' है ॥६१॥

हर्षामर्षौ परित्यज्य मोक्षसाधनेषु प्रवर्त्तनं तितिक्षा ॥६२॥

निन्दा-स्तुति, हानि-लाभ चाहे कितना ही क्यों न हो, हर्ष शोक को छोड़ कर मोक्ष प्राप्ति के साधनों में प्रवृत्त रहना 'तितिक्षा' है ॥६२॥

श्रुतिष्वाप्तवचनेषु च विश्वासस्तदनुकूलमाचरणञ्च श्रद्धा ॥६३॥

वेदादि सच्छास्त्रों तथा उनके ज्ञाता आप्त पुरुषों के वचनों में विश्वास तथा उनके अनुकूल आचरण 'श्रद्धा' है ॥६३॥

चित्तस्यैकाग्रता समाधानम् ॥६४॥

चित्त की एकाग्रता को 'समाधान' कहते हैं ॥६४॥

परानुरक्तिर्मुक्तौ मुमुक्षुत्वम् ॥६५॥

मुक्ति में परम अनुराग 'मुमुक्षुत्व' है।

जैसे क्षुधा-तृषातुर को अन्न जल के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं सूझता वैसे ही हर समय मुक्ति के साधनों में प्रवृत्त रहना 'मुमुक्षुत्व' कहाता है ॥६५॥

ज्ञान मात्र से मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं, अपितु—

ज्ञानकर्मोपासनानां समन्वयात्तत्सिद्धिः ॥६६॥

ज्ञान, कर्म और उपासना के समन्वय से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान और कर्म (प्रयत्न) हैं। शरीर की बनावट भी इन दो गुणों की साक्षी है। शरीर में दो प्रकार की इन्द्रियां हैं—ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां। ज्ञानेन्द्रियाँ आत्मा के 'कर्म' रूप गुण को सार्थक करने के लिये हैं और कर्मेन्द्रियां आत्मा के 'ज्ञान' गुण को सफल करने के लिए। वस्तुतः जानना जानने के लिये नहीं, करने के लिये होता है। कर्म को दिशा निर्देश ज्ञान से मिलता है। ज्ञान के बिना कर्म अन्धा और कर्म के बिना ज्ञान लंगड़ा है। दोनों के संयोग अथवा सहयोग से जीवन यात्रा सम्भव है। किन्तु ज्ञान और कर्म मिल कर आत्मा को कहां ले जायेंगे ? यदि ज्ञान और कर्म का कोई लक्ष्य नहीं तो वे बन्धन से मुक्त करने के स्थान पर उसे और दृढ़ कर देंगे। अतः दोनों का समान उद्देश्य है आत्मा को परमेश्वर के निकट पहुंचाना। ज्ञान और कर्म दोनों में सामंजस्य स्थापित करते हुए यजुर्वेद (४०-११) में कहा—'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते' अर्थात् कर्म से मृत्यु को पार कर (आत्मा) ज्ञान से अमरता को

प्राप्त करता है। यह अमरता परमेश्वर के सानिध्य में मिलती है। 'यस्यच्छायाऽमृतम्' (यजु.) जिसकी छाया में मोक्ष मिलता है--में यही भाव निहित है। जिस प्रकार ताप गुण से युक्त अग्नि के सामीप्य से उष्णता प्राति होती है उसी प्रकार आनन्दस्वरूप परमेश्वर की उपासना (पास बैठने से) आनन्द की उपलब्धि होती है। अतः ज्ञानपूर्वक कर्म करते हुए परमेश्वर की ओर बढ़ना ही मोक्षाभिलाषी का कर्त्तव्य है ॥६६॥

मोक्ष जैसी महान् उपलब्धि एक दिन में नहीं होती। अपितु—

अनेकजन्मसंसिद्धेः ॥६७॥

अनेक जन्म के प्रयत्नों के फलस्वरूप मुक्ति मिलती है।

मुक्ति के लिये अपेक्षित साधनों का अभ्यास दीर्घकाल तक करना पड़ता है और वह भी इस प्रकार कि अन्तराल में कभी उसका विच्छेद न होने पाये। श्रद्धापूर्वक अनुष्ठित यह अभ्यास अनेक जन्म पर्यन्त करते रहना पड़ता है। तब कहीं मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥६७॥

षष्ठ अध्याय

सृष्टि

नित्यायाः सत्वरजस्तमसां साम्यावस्थायाः प्रकृतेरुत्पन्नानां परम-सूक्ष्माणां पृथक्पृथग्वर्तमानानां तत्वावयवानां प्रथमः संयोगारम्भः संयोगविशेषादवस्थान्तरस्य स्थूलाकारप्राप्तिः सृष्टिः ॥१॥

अनादि नित्यस्वरूप सत्त्व, रजस् और तमोगुणों की साम्यावस्थारूप प्रकृति से उत्पन्न परमसूक्ष्म पृथक्-पृथक् विद्यमान तत्वावयवों के संयोग का प्रथम आरम्भ और संयोग विशेषों से अवस्थान्तर को प्राप्त हो स्थूल आकार का रूप धारण करना 'सृष्टि' कहाती हैं ॥१॥

अब सृष्टि रचना में कारणों का उल्लेख करते हैं—

निमित्तमुपादानं साधारणञ्चेति त्रीणि कारणानि ॥२॥

निमित्त, उपादान और साधारण--सृष्टि रचना में ये तीन कारण हैं ॥२॥

निर्माता निमित्तम् ॥३॥

निर्माता अथवा रचयिता निमित्त कारण कहाता है ।

जिसके बनाने से कुछ बने, न बनाने से न बने, आप स्वयं न बने, दूसरों को प्रकारान्तर से बनादे उसे निमित्त कारण कहते हैं ॥३॥

तच्च द्विविधं मुख्यं साधारणञ्चेति ॥४॥

और वह (निमित्त कारण) दो प्रकार का होता है--मुख्य और साधारण ॥४॥

सर्गस्योत्पादयिता परमेश्वरो मुख्यं निमित्तम् ॥५॥

सृष्टि को कारण से बनाने वाला परमात्मा मुख्य निमित्त कारण है ॥५॥

सर्गात्पदार्थानादाय कार्यान्तराणां स्रष्टा जीवात्मा साधारणं निमित्तम् ॥६॥

परमेश्वर की बनाई सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेकविध कार्यान्तर करने वाला जीवात्मा साधारण निमित्त कारण है ॥६॥

अवस्थान्तरितं विकारापन्नमुपादानम् ॥७॥

अवस्थान्तर को प्राप्त होकर बनने बिगड़ने वाला उपादान कारण कहाता है ॥७॥

निमित्तोपादानाभ्यामन्यत् साधारणम् ॥८॥

निमित्त और उपादान से अतिरिक्त अन्य अपेक्षित साधन साधारण कारण कहाते हैं।

घड़े के बनने में कुम्हार निमित्त कारण, मिट्टी उपादान तथा दण्ड, चक्र, दिशा, काल, प्रकाश आदि साधारण कारण हैं ॥८॥

अगले सूत्र में उपादान कारण का कथन किया है—

प्रकृतिरेवोपादानकारणम् ॥९॥

सृष्टि रचना में उपादान कारण प्रकृति ही है।

'प्रक्रियते अनयेति प्रकृतिः'—जिससे कोई पदार्थ बनाया जाये उसे प्रकृति कहते हैं। कार्यावस्था में आने पर वह नाम-रूप को धारण करती और विकृति कहाती है। 'प्रकृति' शब्द ही इस बात को सिद्ध करता है कि जगत् का मूल-भूत उपादान कारण प्रकृति ही है।

जगत् का निमित्त कारण ब्रह्म अभौतिक एवं अपरिणामी है। जो स्वयं अभौतिक एवं अपरिणामी है वह भौतिक एवं परिणामी जगत् का उपादान कारण कैसे हो सकता है? निमित्त कारण को उपादान कारण बनते कभी किसी ने नहीं देखा। फिर परमेश्वर ही इसका अपवाद कैसे हो सकता है? ऐसा मानना सृष्टिक्रम के सर्वथा विरुद्ध होगा।

जगत् की उपादानकारणता में प्रकृति के साथ अन्य किसी की साझेदारी नहीं है। शंकराचार्य के अनुयायियों ने 'परिणाम' के साथ कल्पनामूलक 'विवर्त्त' को खड़ा करके इस तथ्य पर परदा डालने का प्रयत्न किया। परन्तु प्रयास करने पर भी वह ब्रह्म से भिन्न प्रकृति अथवा माया (मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्-श्वेत.) नामक तत्त्व की उपादानकारणता तो न हटा सके। यदि प्रकृति के सहयोग के बिना ब्रह्म स्वयं ही जगद्रूप में प्रगट होता, तो उसमें परिणामित्व आदि दोषों की प्राप्ति होती और 'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः' के सिद्धान्त के अनुसार समस्त जगत् ब्रह्म के अनुरूप होता।

'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' (प्रतिज्ञा और दृष्टान्त की बाधा न होने से प्रकृति जगत् का कारण है)—वेदान्तदर्शन (१-४-२३) के इस सूत्र से स्पष्ट है कि प्रकृति उपादान से ही परब्रह्म इस जगत् की रचना करता है। कठोपनिषद् (५-८) में कहा है—'य एष सुप्तेषु जागर्त्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः' अर्थात् सोते हुओं में जागने वाले चेतन ने संकल्प के अनुसार इस जगत्

का निर्माण किया। निर्माता द्वारा यह संकल्पपूर्वक निर्माण प्रकृति-उपादान के बिना सम्भव नहीं। जगन्निर्माता ब्रह्म का संकल्प नित्यज्ञानरुप है। ज्ञान निश्चित रूप से किसी विषय की अपेक्षा रखता है। इस संकल्परूप ज्ञान का विषय वह प्रकृति तत्त्व है जिसे निर्माता जगद्रूप में परिणत करता है। सर्ग से पूर्व केवल ब्रह्म जागता रहता है। वह सुप्त प्रकृति को प्रेरित कर जगद्रूप में परिणत करता है। जगत् की उत्पत्ति में प्रेरयिता अथवा निर्माता के रूप में जैसे ब्रह्म निमित्त कारण है वैसे ही प्रकृति उसका उपादान कारण है। यदि प्रकृति को कारण न माना जाये तो इस प्रतिज्ञा वाक्य की अनुकूलता नहीं रहेगी। ॥९॥

आगे प्रकृति का लक्षण कहा गया है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ॥१०॥

सत्त्व, रजस्, और तमस् की साम्य अवस्था प्रकृति कहाती है।

सत्त्व (शुद्ध) रजस् (मध्य) तमस् (जाड्य) ये तीन प्रकार के मूल तत्त्व हैं। साम्यावस्था में इनके संघात का नाम प्रकृति है। कार्यमात्र के उपादान कारण की मूलभूत स्थिति 'प्रकृति' है। अर्थात् जब तक ये तत्त्व कार्यरूप में परिणत नहीं होते प्रत्युत मूलकारणरूप में अवस्थित रहते हैं तभी तक इनका नाम प्रकृति है। इसमें विकृति अथवा वैषम्य आने पर नाम-रूप युक्त सृष्टि बनती है। समस्त वैषम्य अथवा द्वन्द्व विकृति अवस्था में संभव है, इसलिये प्रकृति स्वरूप को साम्यावस्था कह कर स्पष्ट किया है। विकृति का ही दूसरा नाम कार्यावस्था है। समस्त कार्य की कारणरूप अवस्था का नाम प्रकृति है। इस प्रकार कार्यमात्र का यही मूल उपादान होने से भले ही इसे एक कहा जाये, पर प्रकृति नाम का एक व्यक्तिरूप में कोई तत्त्व नहीं है। वस्तुतः मूल तत्त्व तीन वर्ग में विभक्त है परन्तु उनकी संख्या अनन्त है।

आधुनिक विज्ञान समस्त विश्व का उपादान कारण–प्रोटोन, इलेक्ट्रॉन और न्यूट्रॉन–नामक तीन प्रकार के तत्त्वों को मानता है। प्रोटोन तत्त्व आकर्षण शक्ति का पुंज है। इसके विपरीत इलेक्ट्रॉन अपकर्षण स्वरूप है। पहला दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करता है जबकि दूसरा अपने को अपकर्षण (दूर रहने या हटने) में प्रवृत्त रखता है। इनको क्रमशः पाजिटिव और नैगेटिव पावर कहा जाता है। तीसरे तत्त्व न्यूट्रॉन में ये दोनों बातें नहीं होतीं। समस्त विश्व के मूल में ये ही तीन तत्त्व हैं। इन्हीं से सब जगत् बना है।

भारतीय दर्शन में सत्त्व-रजस्-तमस् को मूलतत्त्व माना गया है। समस्त जड़ जगत् इन्हीं तत्त्वों से मिल कर बना है। सत्त्व प्रीतिरूप है। प्रीति का अर्थ है-दूसरे को अपनी ओर आकृष्ट करना। इसके विपरीत रजस् अप्रीतिरूप है और इस कारण दूर हटने की प्रवृत्ति रखता है। तीसरा तमस् विषादरूप है अर्थात् न प्रीतिरूप है और न अप्रीतिरूप।

इस संतुलन का यह अभिप्राय नहीं कि 'सत्त्व-रजस्-तमस्' क्रमशः पूर्णतया 'प्रोटोन-इलेक्ट्रॉन-न्यूट्रॉन' हैं। किन्तु मूल तत्त्वविषयक चिन्तन में आधुनिक विज्ञान और भारतीय दर्शन दोनों में पर्याप्त समानता है। इस संतुलन के आधार पर इतना तो कहा जा सकता है कि आधुनिक विज्ञान ने जो आज कहा है उसे भारतीय तत्त्वज्ञ ऋषियों ने बहुत पहले कह दिया था। यह भी सम्भव है कि भारतीय दार्शनिकों का चिन्तन उससे भी परे मूल अवस्था की ओर हो।

आधुनिक विज्ञान की मान्यता है कि न केवल एक ऊर्जा दूसरी ऊर्जा के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं अपितु ऊर्जा (ऐनर्जी) को वस्तु-तत्त्व (मैटर) के रूप में तथा वस्तु-तत्त्व को ऊर्जा के रूप में भी परिवर्तित किया जा सकता है। यदि यह ठीक है तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऐनर्जी और मैटर का मूल उपादान तत्त्व एक ही है अथवा मूल में वे दोनों एक हैं।

कारणरूप प्रकृति एक होते हुए भी अनेक सम्भाव्यताओं से युक्त है। उस एक में अनन्त शक्तियां अन्तर्हित रहती हैं। उदाहरण के रूप में--स्वर्ण से अंगूठी कंगन, कंठहार आदि कितने ही आभूषण बनाये जा सकते हैं। कार्यरूप में विविध नाम-रूप वाले होने पर भी कारणरूप में सब एक--स्वर्ण हैं। स्वर्ण उन सबकी साम्यावस्था है जिसमें अनेक नाम-रूपयुक्त आभूषणों की सम्भाव्यता अन्तर्हित है। इसी प्रकार घड़े, सुराही, खिलौने आदि के उपादान कारण की साम्यावस्था मिट्टी है। सुनार और कुम्हार स्वर्ण और मिट्टी को जैसा चाहें रूप-आकार दे सकते हैं। किन्तु कार्यावस्था में आजाने पर उनसे जो चाहे नहीं बनाया जा सकता। साम्यावस्थारूप प्रकृति से विकृति की अवस्था में पहुंचने पर उनका सामर्थ्य सीमित हो जाता है। आटे से रोटी, पूरी, मठरी आदि कुछ भी बनाया जा सकता है। किन्तु एक बार आटे की रोटी बन जाने पर फिर उससे पूरी, मठरी आदि कुछ और नहीं बनाया जा सकता। इस प्रकार साम्यावस्थारूप प्रकृति ऐश्वरी सृष्टि का उपादान कारण है, कार्यावस्था को प्राप्त विकृति नहीं ॥१०॥

प्रकृत्यात्मकमव्यक्तं जगत्कारणं सृष्टेः पूर्वम् ॥११॥

सृष्टि से पूर्व जगत् का(उपादान)कारण प्रकृति अव्यक्त दशा में रहती है।

जब तक सृष्टि उत्पन्न नहीं होती तब तक प्रकृति सूक्ष्मावस्था में होने के कारण अव्यक्त रहती है। उस समय पृथिवी, जल, वायु आदि की तो बात ही क्या, नेत्रों से दिखाई न देने वाला शून्य आकाश भी नहीं होता। ऋग्वेद (१०-१२९-३) में उस अवस्था का वर्णन 'तम आसीत्तमसा गूढमग्रे' कह कर किया गया है। ऋग्वेद के इसी भाव का विशदीकरण मनुस्मृति(१-५)में इस प्रकार किया है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

सृष्टि से पहले यह जगत् तमोभूत (कारणरूप) न किसी से जानने, न तर्क में लाने और न प्रसिद्ध चिन्हों से युक्त इन्द्रियों से जानने योग्य होता है।

ऐतरेय उपनिषद् के आरम्भ में कहा है--'आत्मा वै इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति। स इमांल्लोकानसृजत'। सर्ग से पूर्व एक आत्मा था (हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे) अन्य कोई वस्तु झपकती न थी। उसने ईक्षण किया--लोकों-नानारूप सृष्टि का सर्जन किया जाय, उसने ऐसा किया।

उपनिषद् के 'नान्यत्किंचन मिषत्' तथा नासदीय सूक्त (ऋग् १०-१२९) में आये 'अन्यन्न परः किं चनास' शब्दों को देखकर कुछ लोग यह समझ बैठते हैं कि यह सारा जगत् ईश्वर से उत्पन्न हुआ है, प्रकृति आदि जगत् का उपादान कारण कुछ नहीं है। वस्तुतः इस सूक्त से जगत् की उत्पत्ति के कारणों में से परब्रह्म रूप निमित्त कारण की प्रधानता दिखाई गई है। यह प्रधानता इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र में आये 'इयं विसृष्टिर्यत आवभूव' शब्दों से स्पष्ट है। यहां ऐसा कोई संकेत नहीं है जिससे यह प्रतीत हो कि वह ब्रह्म स्वयं जगद्रूप में परिणत हो जाता है। यहां परब्रह्म की जगदुत्पादक शक्ति की प्रशंसा या प्रधानता अभिप्रेत है, न कि सत् प्रकृति का निषेध॥११॥

अगले सूत्र में नासदीय सूक्त के अन्तर्गत 'नासदासीन्नोसदासीत्' का स्पष्टीकरण किया है—

न सदासीन्नोसदासीदिति व्यवहारस्य वर्त्तमानाभावात्॥१२॥

सत् असत् दोनों के अभाव का निर्देश इसलिये किया है क्योंकि उस समय उसका व्यवहार नहीं था।

समस्त व्यापृत जगत् कारण में लीन होने से किसी वस्तु का व्यापार या क्रिया नहीं थी। कुछ न होता तो कालान्तर में कहां से आ जाता? इसलिए 'असत्' 'नहीं था' का अभाव था। किन्तु कारणावस्था में होने से वह जानने योग्य अर्थात् कार्यावस्था में नहीं था। जैसे जब जगत् नहीं था तब मृत्यु भी नहीं थी। क्योंकि जब तक स्थूल जगत् में कोई उत्पन्न न हो तब तक मृत्यु कैसे हो? कारणरूप में रहते प्रकृति अव्यक्त दशा में रहती और इसलिये अदृश्य अथवा अज्ञात रहती है। कार्यावस्था में विकृति बन जाने पर वह व्यवहार में आजाने से प्रत्यक्ष हो जाती है॥१२॥

सर्गकाल में जगद्रूप में व्यक्त रहने के बाद प्रलय होने पर वह पुनः अव्यक्त हो जाती है—

सर्गान्तेऽपि साम्यावस्था ॥१३॥

सृष्टि का अन्त होने पर (प्रलयकाल में) प्रकृति पुनः साम्यावस्था में प्राप्त हो जाती है।

जैसे सृष्टि से पूर्व साम्यावस्था में अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण प्रकृति अव्यक्त रहती है वैसे ही प्रलय हो जाने पर यथापूर्व यह जगत् मूल उपादान कारण में लीन होकर अव्यक्त रूप रहता है। इस सन्दर्भ में गीता के ये दो श्लोक (८, १८, १९) द्रष्टव्य है—

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥

दिन (सृष्टि) का आरम्भ होने पर अव्यक्त से सब व्यक्त (पदार्थ) निर्मित होते हैं और रात्रि (प्रलय) होने पर उसी पूर्वोक्त में लीन हो जाते हैं।

भूतों का यह समुदाय (इस प्रकार) बार-बार उत्पन्न होकर रात्रि होने पर निश्चित रूप से लीन हो जाता और दिन होने पर फिर प्रकट होता है ॥१३॥

जगत् को मिथ्या मानने वालों का तर्क है कि—

आद्यन्तयोरभावाद् वर्त्तमानेऽप्यभावः ॥१४॥

आदि और अन्त में अभाव होने से वर्तमान में भी अभाव है।

गौड़पादाचार्य ने माण्डूक्योपनिषद् कारिका में लिखा है--'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा' अर्थात् जो पहले न हो और अन्त में भी न रहे वह वर्तमान में भी नहीं होता। सृष्टि से पूर्व जगत् नहीं था, अन्त में भी न रहेगा। इसलिए वर्तमान में भी उसका अस्तित्व नहीं है ॥१४॥

इस तर्क का उत्तर अगले सूत्र में दिया है—

नाशः कारणलयः ॥१५॥

कारण में लय होना नाश है।

प्रथम तो जो प्रत्यक्ष है, जिसे प्रमाता प्रमाणों से जानता और प्राप्त होता है वह अन्यथा नहीं हो सकता। वर्तमान में जगत् का अस्तित्व है--यह स्वतः सिद्ध है। यदि कोई पदार्थ वर्तमान में नहीं है तो उसके विषय में यह कहा ही कैसे जा सकता है कि वह पहले नहीं था या फिर नहीं रहेगा। उसके पहले न होने और फिर न रहने की उक्ति ही इस बात का प्रमाण है कि वह इस समय है। 'यहां घड़ा नहीं था और कुछ समय बाद नहीं रहेगा' कहने से स्पष्ट है कि वह इस समय यहां है। यह ठीक है कि संयोगज पदार्थ संयोग से पहले नहीं

होता और वियोग के बाद नहीं रहता। किन्तु संयोग होता ही विद्यमान सत् पदार्थों का है, अभाव का नहीं। जो पदार्थ है ही नहीं उसके संयोग अथवा वियोग का प्रश्न ही नहीं उठता। ईश्वर के सामर्थ्य में अथवा सामर्थ्यरूप जगत् पहले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा। यह अवश्य है कि सृष्टि से पूर्व प्रलय काल में और सृष्टि के अन्त अर्थात् प्रलय प्रारम्भ होने से जब तक पुनः सृष्टि रचना न होगी तब तक उपादान कारण प्रकृति के साम्यावस्था में रहने से वह उसकी अव्यक्त दशा है जबकि वर्तमान में वह व्यक्त है।

वास्तव में इस भ्रान्ति का कारण है प्रकृति और विकृति के भेद को न समझना। विकृति का दूसरा नाम परिवर्तन या रूपान्तर है। किन्तु नामरूप का परिवर्तन नाश का द्योतक नहीं है। जो सत् है वह सत् रहेगा और जो असत् है वह असत् रहेगा। 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' (गीता २-१६) सत् से असत् अथवा असत् से सत् कभी नहीं होगा। संसार आज तक विद्यमान है तो उसका सत् होना निश्चित है। वस्तुतः किसी कार्यवस्तु का सर्वथा नाश या अभाव कभी नहीं होता। अभिव्यक्ति अवस्था में आने पर जब वह अपने रूप का परित्याग करती है तो या तो वह रूपान्तर धारण कर लेती है या अपनी कारणावस्था में चली जाती है। इसी स्थिति को साधारणतया उस कार्यवस्तु के नाश का नाम दे दिया जाता है। परन्तु उत्पत्ति से पहले और पीछे भी उसका अस्तित्व अपने कारण में बराबर बना रहता है। मूलतत्त्व सदा वर्तमान रहता है। आभूषण के आभूषण रूप में नष्ट हो जाने पर भी सोना बना रहता है जो कार्यावस्था में उसका उपादान है। घड़ा फूट जाने पर भी मिट्टी शेष रह जाती है। इसी प्रकार नामरूप जगत् का अन्त हो जाने पर भी मूल उपादानकारण प्रकृति अपनी कारणावस्था में सदा बनी रहती है। आदि और अन्त में कार्य के न रहने का अर्थ अपने कारण में लय होना है, न कि अभाव रूप होना।

आधुनिक विज्ञान की मान्यता है कि एक ऊर्जा दूसरी ऊर्जा के रूप में परिवर्तित हो जाती है। कतिपय वैज्ञानिकों की यह भी स्थापना है कि ऊर्जा को वस्तुतत्त्व में और वस्तुतत्त्व को ऊर्जा में परिवर्तित किया जा सकता है। वस्तुतः ऊर्जा और वस्तुतत्त्व दोनों मूल में एक हैं। भारतीय दर्शन की भी यही मान्यता है कि सर्वात्मना विनाश किसी पदार्थ का नहीं होता, परिणामस्वरूप उसकी अवस्था भले बदलती रहे। वह एक स्थिति से दूसरी में परिवर्तित हो जाता है। पर सर्वथा नष्ट कभी नहीं होता। अदृश्य हो जाना ही नष्ट हो जाना है। संस्कृत व्याकरण में 'नाश' पद का धातु 'णश्' अदर्शन अर्थ में कहा है। कारण में लय होने को लोक में नाश का नाम दे दिया जाता है ॥१५॥

उपादान कारण प्रकृति के जड़ होने से उसके कार्यावस्था में आकर सृष्टि रचना में समर्थ होने के लिए निमित्त कारण का होना अनिवार्य है—

प्रवृत्त्यनुपपत्तेरचेतनस्य प्रवर्त्तकत्वोपपत्तिः ॥१६॥

अचेतन में प्रवृत्ति की उपपत्ति न होने से प्रवर्तक का होना सिद्ध है।

चेतन निरपेक्ष प्रकृति जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकती क्योंकि जड़ होने के कारण वह स्वयं कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकती। 'सकर्त्तृकैव क्रिया'-इस न्याय के अनुसार कर्त्ता के विना कोई क्रिया नहीं होती और न क्रियाजन्य किसी पदार्थ की रचना हो सकती है। जिन पृथ्वी आदि पदार्थों की संयोग-विशेष से रचना होती है वे अनादि नहीं हो सकते। जो संयोग से बनता है उसका संयोग करने वाला उससे भिन्न कोई दूसरा अवश्य होता है। चेतन की प्रेरणा के विना जड़ प्रकृति स्वतः जगद्रूप में परिणत नहीं हो सकती। घी, सूजी, चीनी आदि को पास २ रखने पर हलवा नहीं बन जाता; काग़ज़, स्याही और लेखनी को एकत्र रख देने पर ग्रन्थ नहीं लिखा जाता; हल्दी, चूना और नींबू को एक साथ रख देने से रोली नहीं बन जाती। काग़ज़, ब्रुश और रंग रख देने मात्र से चित्र तैयार नहीं हो जाता। इसी प्रकार जड़ प्रकृति के परमाणुओं को ज्ञान और युक्ति से मिलाये विना सृष्टि की रचना नहीं हो सकती।

कुछ लोगों का कहना है कि जैसे दूध स्वयमेव दही में परिणत हो जाता है वैसे ही प्रकृति की स्वतः प्रवृत्ति हुआ करती है। वस्तुतः दूध का दधि रूप में परिणाम स्वतः नहीं होता। यदि दूध को आप ही आप दही बनने को छोड़ दिया जाये तो कालान्तर में वह विकृत भले ही हो जाये, दधिरूप में परिणत नहीं होगा। दूध को दधिरूप में परिणत होने के लिये उसे ठीक तरह से उबालना, यथासमय उचित मात्रा में उसमें जामन देना और अनुकूल तापमान में उसे सुरक्षित रखना आवश्यक है। यह सब प्रक्रिया चेतन के सहयोग के विना सम्भव नहीं। किसी चेतन सत्ता के द्वारा ज्ञानपूर्वक की गई क्रिया के विना अभीष्ट की सिद्धि नहीं हो सकती। घुणाक्षरन्याय से कोई एक अक्षर भले ही बन जाये, किसी काव्य की रचना सम्भव नहीं। आकाश में उड़ते बादलों में किसी आकार की क्षणिक प्रतीति हो सकती है। किन्तु किसी जीते जागते प्राणी की सृष्टि नहीं हो सकती।

सृष्टि की रचना ज्ञानपूर्वक व्यवस्थामूलक है, आकस्मिक नहीं। जगत् के मूल उपादान जड़ तत्त्व स्वयं कार्यरूप में परिणत होकर व्यवस्थित जगत् की रचना नहीं कर सकते। लोक लोकान्तरों की रचना में जो आश्चर्यजनक कौशल दीख पड़ता है वह किसी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् चेतन तत्त्व की प्रेरणा की अपेक्षा रखता है। अनादि काल से प्रयास करते रहने पर भी मनुष्य आज तक स्वयं अपने शरीर की रचना को भी पूरी तरह नहीं समझ पाया। जिस माता के गर्भ में नौ मास तक उसका निर्माण होता रहता है वह भी इस विषय में सर्वथा अनभिज्ञ है। परोक्ष रूप में मूल उपादान तत्त्वों को सर्वत्र सर्वदा प्रेरणा देने वाला ब्रह्म ही जगत् का निमित्त कारण है।

मुण्डकोपनिषद् (२-१-५) में आया है--'पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्सम्प्रसूताः' अर्थात् पुमान्-परमात्मा योषित्-प्रकृति में प्रेरणा-रूप रेतः सिंचन करता है और इस प्रकार पुरुष से समस्त प्रजा प्रसूत होती है। परमात्मा का रेतः सिंचन जगत् सर्ग के लिए ईक्षण द्वारा प्रकृति में प्रेरणा देना ही है ॥१६॥

प्रकृति को विकृति में परिवर्तन कर सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय में प्रवृत्त रहने पर भी परमेश्वर वन्धन या दुःख में नहीं पड़ता। क्योंकि—

असङ्गोऽयं प्रवर्त्तकः ॥१७॥

(प्रकृति का) प्रेरयिता (परमात्मा) असङ्ग है।
परमेश्वर सृष्टि का निमित्त कारण है। निमित्त कारण उपादान तत्त्वों से नामरूप की सृष्टि करता हुआ स्वयं अविकारी एवं अपरिणामी रहता है। अपने वनाये पदार्थों पर अपनी बुद्धि, कला-कौशल तथा सामर्थ्य की छाप को छोड़ कर वह उनसे अलग रहता है--उनमें भागी नहीं होता। उसे जानने, खोजने और पाने के लिए विशेष प्रयत्न करना पड़ता है।

वन्ध और मोक्ष सापेक्षता से हैं अर्थात् मुक्ति की अपेक्षा से वन्ध और वन्ध की अपेक्षा से मुक्ति होती है। जो नित्य मुक्तस्वभाव है उसके कभी भी वद्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता। एकदेशी जीव ही बद्ध और मुक्त होते हैं, सर्वदेशी परमेश्वर नैमित्तिक मुक्ति के चक्र में नहीं फंसता। 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' (यजु.३१-२) अनन्त-गुण-कर्म स्वभाव युक्त किंचिन्मात्र जगत् की उत्पत्ति--स्थिति--प्रलय करता हुआ वन्धन में नहीं पड़ता। सुख-दुःख कर्मों के फलस्वरूप होते हैं और सभी प्रकार के कर्म देह, अन्तःकरण आदि के धर्म हैं। अतः 'अकाय' और 'अकाम' होने से ईश्वर न कर्मों में लिप्त होता और न इनके फलस्वरूप सुख दुःख का भोक्ता होता है ॥१७॥

अव सृष्टि के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं दृश्यम् ॥१८॥

भूत तथा इन्द्रिय रूप से परिणाम को प्राप्त प्रकाश, क्रिया तथा स्थिति स्वभाव वाले सत्त्वादि गुणों को दृश्य कहते हैं।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, प्रकाश ये पाँच स्थूल और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से लक्षित पांच सूक्ष्म इन दशों का नाम 'भूत' है। वाक्, पाणि, पाद, गुदा, उपस्थ, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, मन इन ग्यारह का नाम 'इन्द्रिय' है। सत्व प्रकाशशील, रजस् क्रियाशील और तमस् स्थितिशील है। अर्थात् प्रकाश-शक्ति का नाम 'सत्त्व', क्रियाशक्ति का नाम 'रजस्' और प्रकाश तथा क्रिया शक्ति के प्रतिबन्धक आवरणशक्ति का नाम 'तमोगुण' है। ये सव गुण परस्पर

उपरक्त प्रविभाग, संयोगविभागरूप धर्म से युक्त हैं और अन्योऽन्याश्रय द्वारा पृथ्वी आदि का उत्पादन करते हैं।

आन्तर तथा बाह्य सभी पदार्थ प्रकाश, क्रिया और स्थिति—इन तीन भावों का स्वरूप हैं। अतः सत्त्व, रजस् और तमस् ही जगत् के मूल उपादान हैं। प्रकाश, क्रिया और स्थिति परस्पर अविनाभाव-सम्बन्ध से सम्बद्ध हैं। एक भाव रहने से अन्य दो भाव भी रहते हैं। इनमें से किसी एक भाव की प्रधानता रहने से उसी गुण के अनुसार पदार्थ की आख्या होती है। यह आख्या आपेक्षिकता को ही सूचित करती है। केवल 'सात्त्विक' कोई वस्तु नहीं हो सकती। सात्त्विक द्रव्य अन्य राजस् और तामस् द्रव्य से अधिक सात्त्विक है—यह समझना चाहिये। जैसे 'ज्ञान' में प्रकाशगुण अधिक होने से उसे सात्त्विक कहा जाता है क्योंकि वह 'कर्म' की अपेक्षा 'अधिक' सात्त्विक होता है। राजस और तामस के सम्बन्ध में भी ऐसा ही नियम है। इस प्रकार प्रत्येक गुण प्रत्येक द्रव्य में न्यूनाधिक रहता है।

यह दृश्य भूतेन्द्रियात्मक है अर्थात् जिस प्रकार भूतभाव या पृथिव्यादि सूक्ष्म-स्थूलरूप में परिणत होते हैं उसी प्रकार इन्द्रियभाव या श्रोत्रादि सूक्ष्म-स्थूल इन्द्रियरूप में परिणत होते हैं। इस प्रकार भूत और इन्द्रियरूप से परिणत सत्त्वादिगुणरूप विकृति का नाम 'दृश्य' है ॥१८॥

अगले सूत्र में सृष्टि के प्रयोजन का कथन करते हैं—

तच्च भोगापवर्गार्थं पुरुषस्य ॥१९॥

और वह पुरुष (जीव) के भोग और अपवर्ग के लिये है।

'न हि प्रयोजनमनभिसन्धाय प्रेक्षावन्तः प्रवर्त्तन्ते' साधारण मनुष्य भी बिना प्रयोजन के किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता। अतः सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म द्वारा सृष्टिरचना का कोई प्रयोजन अवश्य होना चाहिये। 'स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' (श्वेत ६-८)—परमेश्वर में अनन्त ज्ञान, बल और क्रिया है। सृष्टि रचना उसका स्वाभाविक गुण है। उसका अनन्त सामर्थ्य जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और व्यवस्था करने में सफल है। किन्तु स्वभावतः जगत् की रचना निष्प्रयोजन नहीं है। अद्वैतवादियों के मत में तो ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी का अस्तित्व नहीं है। इसलिये सृष्टि का निर्माण उसने अपने लिये ही किया होगा। परन्तु वह स्वयं तो 'अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तः न कुतश्चनोनः' (अथर्व १०-८-४४) है। वह पूर्ण, अकाम तथा आनन्दस्वरूप है। उसे अपने लिये कुछ नहीं चाहिये। प्रयोजन अपना और पराया दो प्रकार का होता है। जगत् की रचना में ईश्वर का अपना कोई स्वार्थ नहीं है। 'संहतपरार्थत्वात्' परप्रयोजनार्थ उसे मानना होगा। प्रकृति स्वयं भोग्य और अचेतन है। इसलिये अचेतन भोग्य जगत् का भोक्ता कोई चेतन हो सकता है। 'तस्यात्मानु-

ग्रहाभावे भूतानुग्रहः प्रयोजनम्' (योगदर्शन १-२५ व्यासभाष्य) उसकी अपनी किसी भलाई के न होने पर प्राणियों की भलाई के लिये ब्रह्म संकल्पमात्र से अनादि उपादान तत्त्व प्रकृति से स्वभावतः जगत् की रचना करता है। ईश्वर की प्रेरणा से प्रकृति सर्वतोभावेन जीव के लिए प्रवृत्त रहती है। चेतन तत्त्व-जीव का प्रयोजन है--भोग और अपवर्ग। जीवों के पाप-पुण्यों का फल देने और मोक्ष प्राप्ति कराने के लिये ईश्वर सृष्टि की रचना करता है। प्राकृत पदार्थों से आत्मा का भोग प्रत्यक्ष सम्पन्न होता है। अपवर्ग की सिद्धि समाधि-लाभ से आत्मसाक्षात्कार होने पर होती है। देहेन्द्रियादि के सहयोग से आत्मा समाधिलाभ के लिए प्रयत्नशील रहता है। आत्मा के अपवर्ग के लिये यही सृष्टि का उपयोग है। विवेकज्ञान हो जाने पर परम लक्ष्य की प्राप्ति हो जाने से उसके लिये सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं रहता। किन्तु ऐसा समय कोई नहीं आता जब भोक्ता आत्माओं का सर्वथा अभाव हो जाये (समस्त असंख्य जीवों का एकसाथ मुक्त हो जाना सम्भव नहीं और मुक्ति की अवधि समाप्त होने पर जीवों की मुक्ति से पुनरावृत्ति होने से समय-समय पर उनका प्रत्यागमन होता रहता है)। जब तक भोक्ता आत्मा विद्यमान हैं तब तक सृष्टि की अपेक्षा बनी रहेगी। इस प्रकार नित्य जीवों के बन्ध-मोक्ष के कारण सृष्टि रचना का क्रम अनवरत सदा बना रहेगा ॥१९॥

यदि जीवात्माओं पर अनुग्रह की भावना से ईश्वर सृष्टि की रचना करता है तो संसार में दुःख और विषमता क्यों है? इस प्रश्न का उत्तर अगले सूत्र में दिया है—

कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम् ॥२०॥

कर्मों की विविधता के कारण सृष्टि में विविधता है।

प्राणियों के कर्मों की अपेक्षा से शुभाशुभ कर्मो के वैलक्षण्य से संसार में विषमता है। नाना योनियों तथा देहादि की विभिन्नता उनकी अपनी कमाई है। नानाविध कर्मों के यथायोग्य उपभोग के लिये उन्हीं के अनुसार जगत् की विविधता प्रगट होती और उपभोग में आती है। जगत् की रचना प्राणियों के लिए है, इसलिये यह उनके अनुकूल होनी चाहिये। इस अनुकूलता का नियमन उनके कर्मों के आधार पर होता है। न्यायदर्शन (पूर्वकृतफलानुबन्धादुत्पत्तिः ३-२-६०) के अनुसार शरीर आदि कार्यजगत् की उत्पत्ति आत्मा के पूर्वकृत कर्मों के अनुरूप हुआ करती है। बृहदारण्यकोपनिषद् (३-२-१३) में कहा—'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन'—शुभकर्म से सुख और पाप-कर्म से दुख प्राप्त होता है। प्रश्नोपनिषद् (३-७) में बताया--'पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापम्, उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्'—पुण्यकर्मों से जीवात्मा उच्च योनियों को प्राप्त होता है पापकर्मों से नीच (कृमि, कीट, स्थावर आदि)

योनियों को तथा शुभाशुभ मिश्रित कर्मों से मनुष्य योनि को पाता है ॥२०॥

त्रिगुणेतरेतरोपाश्रयत्वाच्च ॥२१॥

और (सृष्टिरचना में) त्रिगुणों (सत्त्व-रजस्-तमस्) के एक दूसरे में मिथुनीभूत होने से (सृष्टि में वैचित्र्य) है।

उपादान तत्वों की त्रिगुणात्मकता भी जगत् के वैषम्य का कारण है। पृथ्वी आदि समस्त विविध प्रकार के तत्वों तथा पदार्थों की विभिन्न रचना मूल उपादानतत्वों के विविध प्रकार के सम्मिश्रण पर आधारित होती है। सत्त्वादि सभी द्रव्य सहकारिभाव से सृष्टि करते हैं। सर्वत्र एक की प्रधानता और अन्य दोनों की सहकारिता रहती है। भोग की भावना से वह रचना प्राणियों के अनुकूल हो, इसलिये पृथिव्यादि भूतों, अन्य तत्त्वों, औषधि, वनस्पतियों आदि की रचना में उनके कर्म सहयोगी रहते हैं। ब्रह्म केवल उनकी व्यवस्था करता है। इस प्रकार संसार की विषमता एवं विलक्षणता में प्राणियों के नानाविध कर्मों के अतिरिक्त सत्त्व-रजस्-तमस् की विविध क्रियाओं का अर्थात् अन्योन्यमिथुनता का विविधरूपों में उपस्थित होना भी कारण है। ये उपादानतत्त्व एक दूसरे के साथ जितने रूपों में मिथुनीभूत होते हैं उनकी गणना नहीं हो सकती। उन अनन्त प्रकार के मिथुन के आधार पर जो कार्य उभार में आते हैं वे अनन्तरूप होंगे। तीनों गुणों के भिन्न-भिन्न अनुपात से मिलकर बनने के कारण पदार्थों में वैविध्य अनिवार्य है ॥२१॥

उत्पत्ति से पूर्व कार्य अपने उपादान कारण में विद्यमान रहता है--सत्कार्यवाद के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए अगला सूत्र कहा गया—

कार्यात् नियतप्राग्वृत्तिःकारणम् ॥२२॥

कार्य से कारण नियमपूर्वक पहले विद्यमान रहता है।

प्रत्येक उत्पद्यमान कार्य के लिये उसके उपादान कारण के विषय में एक नियम है। किसी कार्य के लिए किसी विशेष कारण का उपादान किया जाता है। जैसे घड़ा बनाने के लिए मिट्टी का और वस्त्र बनाने के लिए सूत का। इससे सिद्ध होता है कि उत्पत्ति से पूर्व कार्य अपने कारण में विद्यमान रहता है। यदि ऐसा न हो तो कार्य के समान रूप से सर्वत्र असत् होने से जिस किसी कारण से जिस किसी कार्य की चाहे उत्पत्ति हो जानी चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता। मिट्टी से घड़ा और सूत से वस्त्र ही बनता है, मिट्टी से वस्त्र और सूत से घड़ा कदापि नहीं बन सकता। इससे स्पष्ट है कि मिट्टी में घड़ा और सूत में वस्त्र किसी न किसी रूप में पहले से विद्यमान हैं। जो सर्वथा असत् है यदि वह अस्तित्व में आ जाये तो अभाव से भाव की उत्पत्ति माननी होगी जो मूलतः सर्वथा असंगत है। इसलिये जिस वस्तु के

सम्बन्ध में हम उत्पन्न होना कहते हैं वह अपनी उत्पत्ति से पूर्व सर्वथा असत् हो, ऐसा नहीं हो सकता। उसका अस्तित्व अपने कारण में अदृश्य रूप में—जैसे बीज में वृक्ष का--सदा विद्यमान रहता है। हां, वहां वह अव्यक्तावस्था में रहता है। जिस प्रकार 'नाशः कारणलयः'—कारण में लय हो जाना नाश कहाता है उसी प्रकार कारण से (न कि अभाव से) कार्यरूप में आ जाना अथवा अव्यक्त से व्यक्त हो जाना उत्पत्ति कहाता है। यही 'सत्कार्यवाद' है।

कार्यावस्था में वस्तु की जिन क्रियाओं व गुणों का व्यवहार किया जाता है, कारणदशा में उनका अभाव अवश्य रहता है। मिट्टी से घड़ा और सूत से वस्त्र वनता है सही। किन्तु मिट्टी से घड़े का या सूत से वस्त्र का काम नहीं लिया जा सकता। इस प्रकार उत्पत्ति से पूर्व कार्य अपने कारण में कारणरूप से विद्यमान होते हुए भी कार्यरूप में असत् होता है। यही 'असत्कार्यवाद' है।

इस प्रकार देखा जाये तो पता चलेगा कि सत्कार्यवाद' और 'असत्कार्यवाद' में तत्त्वतः परस्पर कोई विरोध नहीं है ॥२२॥

यदि कारण के बिना कोई वस्तु अस्तित्व में नहीं आती, तो कारण का भी कारण मानना चाहिये। इस शंका का समाधान प्रस्तुत करते हैं—

अमूलं मूलकारणम् ॥२३॥

मूल कारण का कारण नहीं होता।

जो केवल कारणरूप है वह किसी का कार्य नहीं होता। जो किसी का कारण हो और स्वयं किसी का कार्य हो वह मूल कारण नहीं कहाता। सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था प्रकृति है। वही जगत् का आदि कारण है। समस्त चराचर अचेतन जगत् के मूलतत्त्व यही सत्त्व-रजस्-तमस् हैं। अखिल विश्व इनका परिणाम है, परन्तु ये किसी के परिणाम नहीं हैं। यदि इनका भी कोई उपादानकरण माना जायेगा तो आगे उसका भी कोई अन्य उपादान मानना होगा। इस प्रकार इस कारण परम्परा का कहीं अन्त न होने से अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी। अतः सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था रूप प्रकृति जगत् का मूल उपादान होने से उसका कोई कारण नहीं है क्योंकि सब कार्यों का मूल कारण अकारण होता है ॥२३॥

नास्तिक शंका करता है कि—

शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य ॥२४॥

केवल शून्य तत्त्व है। जो भाव अर्थात् वर्त्तमान है उसका नाश हो जाता है। क्योंकि विनाश हो जाना वस्तुमात्र का धर्म है।

जिसे यह कहा जाता है कि 'यह है' वह सब विनाश होने वाला है। आज जो वस्तु है वह कल नहीं रहेगी, होने से पहले भी नहीं थी। इसी प्रकार जो

आज नहीं है, वह कल होगी और वह भी आगे न रहेगी। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु अभाव से होकर अभाव में लीन हो जाती है। अतः अभाव या शून्य ही एकमात्र तत्त्व है।

अब इस शंका का समाधान करते हैं—

नादृश्यतयावस्थानत्वात् ॥२५॥

अदृश्य रूप में रहने से (विनाश) नहीं।

जब कोई वस्तु अपने वर्त्तमान रूप का परित्याग करती है तो या तो वह कोई दूसरा रूप धारण कर लेती है या अपने कारण में लय होकर अदृश्य हो जाती है। वस्तुतः नाश किसी वस्तु का नहीं होता। कारण में लय होने को ही साधारणतया नाश समझ लिया जाता है और यह सावयव पदार्थों का होता है। अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती। निरवयव प्रकृत्ति से सावयव पदार्थों का आविर्भाव होता है। अवयवरहित तत्त्व शून्य है। शून्य का अर्थ प्रकाश, अवकाश और विन्दु भी है। इन सबका अस्तित्व है। आकाश में सब पदार्थ अदृश्य होकर रहते हैं। विन्दु से रेखा और रेखा से वर्त्तुलाकार होकर अनेकानेक वस्तुओं का निर्माण होता है। इसलिए सब पदार्थों को विनाशी और इस कारण केवल शून्य को एकमात्र तत्त्व नहीं माना जा सकता ॥२५॥

इसमें एक अन्य हेतु देते हैं—

न हि शून्याधिगन्तृ शून्यम् ॥२६॥

शून्य का जानने वाला शून्य नहीं होता।

यदि शून्य को जाना जा सकता है तो वह शून्य कैसे हुआ? शून्यमात्र तत्त्व है तो यदि इसकी सिद्धि के लिए प्रमाण उपस्थित किया जाता है तो स्वतः शून्यवाद का खण्डन हो जाता हैं, क्योंकि उसमें जो प्रमाण साधक है, वह शून्य नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त यदि शून्य का अर्थ अभाव है तो शून्य को जानने वाला शून्य नहीं हो सकता। उसका अस्तित्व तो स्वतः सिद्ध है ॥२६॥

अभाव से भाव की उत्पत्ति सिद्ध करने के लिए एक दृष्टान्त पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया जाता है—

अभावाद्भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् ॥२७॥

अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है, जैसे (कारण—बीज का) मर्दन किये बिना (अंकुर) उत्पन्न नहीं होता।

जब तक बीज अपनी स्थिति में रहता है तब तक उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता। जब वह मिट्टी में मिलकर अपने स्वरूप को छोड़कर गलकर नष्ट हो जाता है तभी अंकुर फूटता है। नाश का ही नाम अभाव है। बीज को तोड़

कर देखें तो उसमें अंकुर कहीं नहीं दीख पड़ता। इसलिये अंकुर का कारण वीज नहीं, वीजाभाव है। इस प्रकार अभाव से ही भाव की उत्पत्ति होती है ॥२७॥

इस युक्ति का खण्डन करने के लिए वताया—

न बीजे तदुपमर्दनकर्त्रुपलब्धेः ॥२८॥

वीज में उसके उपमर्दनकर्त्ता के (पहले ही) विद्यमान होने से (अभाव से भाव की उत्पत्ति) नहीं।

यदि उपमर्दन के अनन्तर अंकुर उत्पन्न होता है तो उपमर्दन करने वाले का उपमर्दन काल में विद्यमान होना आवश्यक है। वह वहां न हो तो उपमर्दन कौन करेगा? और यदि वह वहां पहले से ही है तो उसके उत्पन्न होने का प्रश्न नहीं उठता। जिस (अंकुर) का प्रादुर्भाव होना है वह अभी है नहीं। तो जो स्वयं ही नहीं वह किसी का उपमर्दन कैसे करेगा? ॥२८॥

इसी विपय में एक अन्य हेतु देते हैं—

विनष्टेभ्योऽनिष्पत्तेश्च ॥२९॥

नष्ट वीज से उत्पत्ति न होने से भी (नहीं, अभाव से उत्पत्ति)।

यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति हो सकती है तो उत्पन्न होने के लिए वीज की आवश्यकता ही क्या है? वीज का गल कर नष्ट हो जाना या न होना दोनों अवस्थाओं में बीज का अभाव समान है। तव विना बीज के अथवा सड़े गले, घुने हुए या जले हुए बीज से भी अंकुर उत्पन्न हो जाना चाहिए। इतना ही नहीं, एक पौधे के बीज से दूसरे पौधे की--आम की गुठली से जामुन की उत्पत्ति हो जानी चाहिये। परन्तु ऐसा होता नहीं। लोकोक्ति प्रसिद्ध है— 'वोये पेड़ ववूल के आम कहां से खाय।' वस्तुतः नष्ट वीज से अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती। वीज का गलना नष्ट होना नहीं, अंकुर की उत्पत्ति के लिये अवस्थान्तर को प्राप्त होना मात्र है। इसलिए अभाव से भाव की उत्पत्ति संभव नहीं। यदि उपमर्दकाल में सहयोगी कारणान्तरों की उपस्थिति को आवश्यक माना जाता है तो अभाव से भाव की उत्पत्ति का सिद्धान्त उखड़ जाता है क्योंकि उपमर्दके सहयोगी कारणान्तर-मिट्टी, नमी, गरमी(ऊष्मा) आदि सभी भावरूप हैं। वस्तुतः वीज और वीज के सहयोगी वे भावरूप कारण, भावरूप अंकुर के उत्पादक होते हैं ॥२९॥

पदार्थों के कार्य-कारण भाव के विषय में पूर्वपक्ष के रूप में एक तर्क उपस्थित किया जाता है —

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ॥३०॥

मनुष्य के कर्मों की विफलता देखे जाने से ईश्वर कारण है।

मनुष्य के कितने ही कर्म निष्फल दीख पड़ते हैं। इससे स्पष्ट है कि मनुष्य के कर्म करने से ही उनका फल प्राप्त नहीं होता। ईश्वरेच्छा के बिना मनुष्य के कितने ही कर्म व्यर्थ रहते हैं। जिस कर्म का फल ईश्वर देना चाहता है, देता है और जिसका नहीं देना चाहता, नहीं देता। इससे कर्मफल सर्वथा ईश्वरेच्छा पर निर्भर है। इसलिये 'कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम्' के होते हुए भी जिस ईश्वर के अधीन फलसिद्धि है उसी को कार्यमात्र का कारण मानना चाहिये ॥३०॥

इस शंका का निराकरण करने के लिये सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं—

न ईश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तेः कर्मणा तत्सिद्धेः ॥३१॥

ईश्वर के अधीन कर्मों के अनुसार फल निष्पत्ति होने से उक्त कथन युक्तनहीं।

यदि मात्र ईश्वर की इच्छा के अधीन कर्मफल हो तो ईश्वर को 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' मानकर विना कर्म किये फलप्राप्ति होनी चाहिए। किन्तु ऐसा होने लगे तो अकृताभ्यागम दोष होगा--शास्त्रमर्यादा के विपरीत विना कर्म किये मनमाने फल का प्राप्त होना। इसके अतिरिक्त मनुष्यों की फलप्राप्ति में न्यूनाधिक्य और वैविध्य होने से परमेश्वर पर स्वेच्छाचारिता-अन्याय एवं पक्षपात का दोष आरोपित होगा। वस्तुतः जड़ होने से कर्म स्वयं फल नहीं दे सकते और उनका कर्त्ता पुरुष अल्पज्ञ एवं अल्पशक्ति होने से न तो स्वकृत कर्मों की सफलता के लिए पृथ्वी आदि भूतों तथा भोग्य पदार्थों का सम्पादन कर सकता है, न उनका लेखा जोखा करके समुचित व्यवस्था कर सकता है और न पापकर्मों के फलस्वरूप मिलने वाले दुःख को स्वेच्छा से ग्रहण कर सकता है। इस प्रकार न ईश्वर विना कर्मों के फल दे सकता है और न कर्म, विना ईश्वर के फल दे सकते हैं। इसलिए ईश्वर जो जैसा करता है उसे वैसा फल देता है ॥३१॥

प्रत्येक कार्य विना कारण के हो जाता है--इस स्थापना के निमित्त एक लौकिक दृष्टान्त प्रस्तुत किया जाता है—

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात् ॥३२॥

कांटों की तीक्ष्णता आदि के देखे जाने से विना निमित्त भाव--कार्योत्पत्ति (संभव है)

कांटों की तीक्ष्णता, पर्वतों में होने वाली धातुओं की विविधता, पत्थरों का चिकनापन आदि का कोई निमित्त नहीं दीखता। इसलिए जैसे विना निमित्त के इन पदार्थों की रचना हो जाती है वैसे ही मनुष्यादि प्राणियों के शरीर भी बिना किसी ईश्वर या कर्मफल आदि के निमित्त के स्वभाव से ही उत्पन्न हो जाते हैं ॥३२॥

इस वाद का प्रत्याख्यान करते हैं—

न कण्टकानुपपत्तेः कण्टकिवृक्षमन्तरेण ॥५३॥

कण्टकी वृक्ष के बिना कांटों की उत्पत्ति न होने से (विना निमित्त के कार्योत्पत्ति) नहीं।

जो उपादान होता है वही उत्पन्न कार्य का निमित्त है। यदि विना निमित्त (कारण) के उत्पत्ति का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाये तो ववूल से ही क्यों, आम के पेड़ से भी कांटे उत्पन्न हो जाने चाहियें और जामुन के पेड़ पर आम, खजूर आदि लग जाने चाहियें। ववूल से कांटे, आम से आम और जामुन से जामुन उत्पन्न होने से स्पष्ट है कि इन सब के अपने-अपने निमित्त विशेष हैं। इसलिये विना निमित्त के कार्योत्पत्ति संभव नहीं ॥३३॥

अव पूर्वपक्ष के रूप में अनित्यवाद का अतिपादन करते हैं—

सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ॥३४॥

उत्पत्ति और विनाश-धर्मक होने से सब अनित्य है।

जो वस्तु होकर न रहे वह अनित्य कहाती है। जो उत्पत्ति से पूर्व न हो और नाश के पश्चात् न रहे वह अनित्य है। उत्पत्ति से पहले पदार्थ नहीं होता और कालान्तर में उसका विनाश हुए विना नहीं रहता। उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय सृष्टि में सर्वत्र व्याप्त नियम है। इस प्रकार जो कभी हो और कभी न हो वह अनित्य कहाता है। संसार में शरीरादि कुछ पदार्थ भौतिक हैं और बुद्धि-सुख-दुःख आदि अभौतिक। ये दोनों ही प्रकार के पदार्थ उत्पत्ति और विनाश वाले होने से अनित्य हैं ॥३४॥

न सर्वमनित्यमनित्यतानित्यत्वात् ॥३५॥

अनित्यता के नित्य होने से सब अनित्य नहीं है।

यदि सब अनित्य है तो भी सवकी अनित्यता तो नित्य हो गई। यदि अनित्यता नित्य है तो सब अनित्य नहीं रहा। और यदि अनित्यता को अनित्य मान लिया जाये तो अपने आप नित्यता सिद्ध हो जायेगी ॥३५॥

इस पर प्रतिवादी अपने पक्ष की पुष्टि में कहता है—

अनित्यताऽप्यनित्या काष्ठाग्नेर्निदर्शनात् ॥३६॥

काष्ठाग्नि के समान अनित्यता भी अनित्य है।

जैसे अग्नि दाह्य इन्धनादि को नष्ट करके स्वयं भी नष्ट हो जाती है वैसे ही अनित्यता भी सवको नष्ट कर--अनित्य बनाकर स्वयं नष्ट होजाती है। इस प्रकार सबकी अनित्यता के साथ स्वयं अनित्यता भी अनित्य बनी रहती है ॥३६॥

इसका समाधान करते हुए कहा—

नित्यस्याप्रत्याख्यानं यथोपलब्धिव्यवस्थानात् ॥३७॥

उपलब्धि के अनुसार व्यवस्था होने से नित्य का प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता।

जिसकी जैसी उपलब्धि होती है उसी के अनुसार नित्य-अनित्य की व्यवस्था की जानी चाहिये। जो यथावत् उपलब्ध होता है उसका वर्तमान में अभाव नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार परम सूक्ष्म कारण को अनित्य नहीं कहा जा सकता। इसलिये जो पदार्थ प्रमाण के अनुसार उत्पत्ति-विनाश धर्मक उपलब्ध होता है उसे अनित्य मानना चाहिये। इसके विपरीत परम सूक्ष्म परमाणुरूप में पृथ्वी आदि भूत, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन ये सब द्रव्य और इनमें समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गुण किसी प्रमाण से विनाशधर्म वाले सिद्ध न होने से अनित्य नहीं माने जा सकते ॥३७॥

सर्वनित्यत्ववादी का कथन है—

सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् ॥३८॥

पञ्चभूतों के नित्य होने से सब नित्य हैं।

कारणरूप में पंचभूत नित्य हैं। किसी प्रमाण से इनका नाश सिद्ध नहीं होता। समस्त जगत् इन्हीं पाँच भूतों से मिल कर बना है। जब पंचभूतरूप कारण नित्य है तो फिर उसके कार्य अनित्य कैसे हो सकते हैं ? अतः सभी पदार्थ नित्य हैं ॥३८॥

इसकी समीक्षा करते हुए कहा—

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेर्घटादिवत् ॥३९॥

घटादि की भांति उत्पत्ति और विनाश का कारण उपलब्ध होने से सब नित्य नहीं।

जिन पदार्थों के उत्पत्ति–विनाश का कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उपलब्ध है वे स्पष्टतः अनित्य हैं। सब स्थूल जगत्–शरीर, घटपटादि को उत्पन्न और नष्ट होते प्रत्यक्ष देखा जाता है जिससे उनका अनित्य होना सिद्ध है। अतः सभी पदार्थों को नित्य नहीं माना जा सकता ॥३९॥

शास्त्रों में भौतिक जगत् को कहीं 'सत्' और कहीं 'असत्' कहा गया है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए बताया—

सापेक्षिकत्वात्सदसत् ॥४०॥

'सत्' और 'असत्' दोनों सापेक्षिक हैं।

शरीर तथा संसार दोनों 'सत्' हैं। इसलिये न शरीर की उपेक्षा करनी चाहिए, न संसार की। परन्तु अन्त तक न शरीर रहता है, न संसार। इसलिये न शरीर को सब कुछ माना जा सकता है, न संसार को। उपनिषदों के ऋषियों ने शरीर को 'सत्' माना परन्तु आत्मा की दृष्टि से और आत्मा की अपेक्षा से उसे 'असत्' कहा। इसी प्रकार उन्होंने संसार को 'सत्' माना किन्तु विश्वात्मा की दृष्टि से और विश्वात्मा की अपेक्षा से उसे 'असत्' कहा। नचिकेता ने सांसारिक ऐश्वर्यों को 'श्वोभाव'--आज हैं, कल नहीं--कह कर ठुकरा दिया। जो मार्ग नचिकेता ने अपनाया उसी का अनुसरण मैत्रेयी ने किया। जब याज्ञवलक्य ने मैत्रेयी के सम्मुख भौतिक सुख सामग्री देने का प्रस्ताव रक्खा तो उसने पूछा--"यन्नु इयं पृथ्वी वित्तेन पूर्णा स्यात् कथं तेनाहममृता स्याम्"--अगर सारी पृथ्वी सुवर्ण तथा धनधान्य से भरपूर होकर मुझे मिल जाये तो क्या मैं अमर हो जाऊंगी? याज्ञवलक्यने उत्तर दिया--"यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यात्"--जैसे साधन सम्पन्न व्यक्तियों का जीवन होता है वैसा ही तेरा होगा। यह सुन कर मैत्रेयी ने कहा "येनाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम्" जिसे पाकर मैं अमर नहीं हो सकती उसे लेकर मैं क्या करुंगी? (बृ. उप. २-४) 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का उद्‌घोष करने वाले की मूल भावना कुछ ऐसी ही रही होगी कि सच्चिदानन्द ब्रह्म की अपेक्षा से सत् स्वरूप जगत् मात्र मिथ्या प्रतीत होता है। वस्तुतः ऐसा नहीं। यही समझना चाहिये ॥४०॥

इस विषय से सम्बन्धित एक अन्य वाद प्रस्तुत करते हैं--

सर्वं पृथक् भावलक्षणपृथक्त्वात् ॥४१॥

भाव लक्षणों के पृथक् होने से सब पदार्थ पृथक् और अनेक हैं।

जगत् के सब पदार्थ नानारूप हैं--पृथक्-पृथक् और अनेक। व्यवहार में आने वाली किसी वस्तु की एक सत्ता नहीं क्योंकि भाव के लक्षण पृथक् पृथक् हैं। कोई पदार्थ एकमात्र इकाई नहीं हैं, वह अनेक अवयवों का समुदायमात्र है। जैसे कुम्भ--यह पदार्थ गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, ग्रीवा, बुध्न (तली) आदि अनेक पदार्थों का समुदाय होने से सबका वाचक है, किसी एक वस्तु का नहीं। इसलिये जाति, आकृति और व्यक्ति भी कोई एक पदार्थ नहीं। तात्पर्य यह कि गुणों या अवयवों से अतिरिक्त कोई गुणी या अवयवी नहीं है।

अब इस वाद का निराकरण करते हैं--

न स्वरूपतः पृथग्भावेष्वप्येकभावनिष्पत्तेः ॥४२॥

स्वरूप से पृथक् पृथक् पदार्थों में भी पदार्थ की एकता निष्पन्न होने से उक्त कथन ठीक नहीं।

अनेक अवयवों तथा विभिन्न पदवाच्य साधनरूप अर्थों से एक घट उत्पन्न

होता है। यह घट नानारूप न होकर एक इकाई है। वह केवल परमाणुसमूह नहीं है। परमाणु अतीन्द्रिय होने से उसका प्रत्यक्ष किसी इन्द्रिय से नहीं होता। परन्तु घट आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है। भाव का लक्षण जो संज्ञा है उसका नियम एक अवयवी में देखा जाता है। अनेक लक्षणों से एक भाव की सिद्धि होती है। अनेक गुण और भिन्न-भिन्न अवयव मिल कर एक गुणी या अवयवी को सिद्ध करते हैं। अवयवी से जो काम सिद्ध होता है वह उसके अवयवों से नहीं हो सकता। घड़े में पानी भरा जा सकता है, मिट्टी के परमाणुओं में नहीं। इससे सिद्ध है कि अनेक लक्षणों से युक्त एक भाव, अनेक गुणों से संवद्ध एक गुणी और अनेक अवयवों से एक अवयवी सिद्ध होता है। यदि अवयवी कोई एक अतिरिक्त तत्त्व नहीं है तो जिन तत्त्वों से घट का निर्माण होता है उनके लिये 'अवयव' पद का प्रयोग असंगत होगा। अवयव किसी अवयवी के ही कारणतत्त्वों को कहा जा सकता है। यदि अवयवी एंक इकाई नहीं तो वे कारणतत्त्व किसके अवयव कहायेंगे? 'अवयव समूह' कह कर अवयवी की इकाई का निषेध नहीं किया जा सकता। इसलिये स्वरूप से पृथक् पृथक् पदार्थों में एक पदार्थ अवगत होता है ॥४२॥

अगले सूत्र में एक अन्य वाद को प्रस्तुत किया गया—

सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ॥४३॥

भावों में अन्योन्याभाव की सिद्धि से सब अभाव है।

प्रत्येक भाव का उसके अतिरिक्त समस्त भावों में अभाव रहता है। जैसे घड़े में वस्त्रादि का, वस्त्र में घड़े आदि का अभाव है। गौ का अश्वादि समस्त पदार्थों में और अश्वादि समस्त पदार्थों का गौ में अभाव है। जब भावों में एक दूसरे का अभाव सिद्ध है तो सबका अभाव क्यों न मान लिया जाये? ॥४३॥

अब इस वाद का प्रत्याख्यान करते हैं—

नाभावेष्वेतरेतराभावानुपपत्तेः ॥४४॥

(सब पदार्थों का) अभाव होने पर इतरेतराभाव उपपन्न न होने से (सर्वमभावः) कथन युक्त नहीं।

यदि सब पदार्थों का अभाव है अर्थात् यदि कुछ है ही नहीं तो इतरेतराभाव--एक में दूसरे के अभाव की बात ही कैसे कही जा सकती है? जब न गाय कोई पदार्थ है और न घोड़ा तो 'गाय घोड़ा नहीं' या 'घोड़ा गाय नहीं'—यह प्रयोग कैसे हो सकता है? वस्तुतः 'सर्व' पद अनेक भाव पदार्थों की सम्पूर्णता का वाचक है और 'अभाव' भावरूप पदार्थ के प्रतिषेध को कहता है। ये दोनों पद परस्पर विरोधी अर्थ का निर्देश करते हैं। इस प्रकार परस्पर विरोधी होने से वह प्रतिज्ञा वाक्य ही असंगत है।

इसके अतिरिक्त इसमें प्रतिज्ञा और हेतु का परस्पर विरोध है जो तर्कशास्त्र सम्मत न होने से अशुद्ध है। 'सर्वमभावः' इस प्रतिज्ञा वाक्य में भावरूप का प्रतिषेध किया गया है। इसके अनुसार यदि 'सव अभाव' है तो हेतु में 'भावेषु' पद का प्रयोग निराधार हो जाता है। 'भाव कुछ है नहीं तो 'भावेषु' कथन किस आधार पर ? यदि हेतुपद को स्वीकार कर 'भाव' का अस्तित्व माना जाता है तो 'सर्वमभावः' यह प्रतिज्ञा मिथ्या हो जाती है। इस प्रकार ये प्रतिज्ञा और हेतु परस्पर विरुद्ध होने से त्याज्य हैं। इसलिये सवको अभाव कहना सर्वथा अनुपपन्न है ॥४४॥

इस निमित्त एक अन्य हेतु देते हैं—

स्वरूपसिद्धेश्च ॥४५॥

और स्वरूप की सिद्धि होने से (सर्वमभावः नहीं)।

संसार में जितने पदार्थ हैं वे सव अपने भाव से वर्तमान हैं। उनमें अपने से भिन्न पदार्थों का भाव न होना उनके अपने भाव का निषेधक न होकर साधक है। यदि सवका अभाव है तो गाय में गाय का और घोड़े में घोड़े का अभाव क्यों नहीं कहा जाता ? जव वादी गौ को गवात्मना सत् और अश्वात्मना असत् कहता है तो गौ का स्वभाव–स्वरूप से अर्थात् गवात्मरूप से अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार अश्वात्मना अश्व का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। अतएव सव पदार्थों में अपना रूप होने से अभाव किसी का नहीं हो सकता ॥४५॥

निमित्त कारण के विना स्वभाव से ही सृष्ट्युत्पत्ति होना संभव है–इस वाद को प्रस्तुत करते हैं—

स्वभावादुत्पत्तिविनाशौ ॥४६॥

स्वभाव से ही जगत् की उत्पत्ति और विनाश होता है।

जैसे अन्न-जल एकत्र हो सड़ने से कृमि उत्पन्न हो जाते हैं; पृथ्वी, वीज और जल के मिलने से घास वृक्षादि उत्पन्न हो जाते हैं और हल्दी, चूना व नींबू से रोली वन जाती है वसे ही परमाणुओं (तत्त्वों) के स्वाभाविक गुणों से मिलकर सव जगत् उत्पन्न हुआ है। इसके वनाने वाला कोई नहीं ॥४६॥

अगले सूत्रों में इस मत की समीक्षा प्रस्तुत करते हैं—

न स्वभावादुत्पत्तौ विनाशस्याभावात् ॥४७॥

स्वभाव से उत्पत्ति होने पर विनाश का अभाव होने से (स्वभाव से उत्पत्ति-विनाश) नहीं।

स्वभाव सदा एक सा रहता है। यदि परमाणुओं का स्वभाव संयुक्त होने का है तो स्वभाव से उत्पत्ति होने पर सदा उत्पत्ति ही होगी, विनाश कभी नहीं

होगा। किन्तु पदार्थों को विनष्ट होते देखा जाता है ॥४७॥

विनाशे सत्युत्पत्तेरभावात् ॥४८॥

विनाश होने पर कभी उत्पत्ति न होने से उक्त कथन ठीक (नहीं)।

यदि परमाणुओं का स्वभाव विकर्षण का है तो स्वभाव से विनाश होने पर उत्पत्ति कभी न होगी। किन्तु पदार्थों को उत्पन्न होते देखा जाता है ॥४८॥

स्वभावादेव चेदुत्पत्तिविनाशौ न युगपदेवोत्पत्ति-विनाशसम्भवः ॥४९॥

यदि परमाणुओं में कुछ का स्वाभाव संयोग का और कुछ का वियोग का माना जाये तो यदि संयोग-स्वाभाव वाले परमाणुओं की संख्या अधिक होगी तो सदा उत्पत्ति ही उत्पत्ति होगी और यदि वियोग गुण वाले परमाणु अधिक होंगे तो सदा विनाश ही विनाश होगा। और दोनों की शक्ति समान होगी तो न उत्पत्ति हो सकेगी, न विनाश। यदि प्रत्येक परमाणु में दोनों स्वभाव युगपत् माने जायें (यद्यपि एक में विरुद्ध धर्म एक ही काल में सम्भव नहीं) तो भी उत्पत्तिं और विनाश की व्यवस्था न हो सकेगी। क्योंकि एक ही समय में उत्पत्ति और विनाश दोनों का प्रत्यक्ष होता है ॥४९॥

निमित्तसद्भावेनोत्पत्तिविनाशौ चेत् पृथक् निमित्तोपपत्तिः ॥५०॥

यदि निमित्त के होने से उत्पत्ति और विनाश हो तो (उत्पद्यमान और विनश्यमान द्रव्यों से) निमित्त को पृथक् मानना होगा। ऐसी अवस्था में भी केवल स्वभाव से उत्पत्ति और विनाश सम्भव न होगा ॥५०॥

न निमित्ताद्विना संयोगवियोगौ ॥५१॥

निमित्त के बिना संयोग और वियोग नहीं होता।

निमित्त कारण परमेश्वर के बिना मूलतत्वों की स्वाभाविक क्रिया से ही सृष्टि की रचना सम्भव नहीं। जैसे हल्दी चूना और नींबू का रस दूर-दूर देश से आकर आप ही आप नहीं मिल जाते अपितु किसी के मिलाये से मिलते हैं और वह भी उपयुक्त परिमाण में, वैसे ही प्रकृति के परमाणुओं को ज्ञान और युक्ति से परमेश्वर के मिलाये बिना जड़ पदार्थ स्वयं ही सृष्टि रचना में समर्थ नहीं हो सकते। इसलिए स्वभाव से ही न सृष्टि की रचना हो सकती है, न उसका विनाश। क्योंकि कर्त्ता के बिना क्रिया सम्भव नहीं ॥५१॥

अब बौद्धों के सृष्टि विषयक सिद्धान्तों की समीक्षा करते हैं—

माध्यमिक-योगाचार-सौत्रान्तिक-वैभाषिकसंज्ञाभिः बौद्धाश्चतुर्विधाः ॥५२॥

माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक--चार प्रकार के बौद्ध हैं ॥५२॥

सृष्टि विषयक इन सबकी अपनी-अपनी मान्यतायें हैं—

सर्वशून्यमिति माध्यमिकाः ॥५३॥

माध्यमिकों के मतानुसार सब शून्य है।

बौद्धों का माध्यमिक सम्प्रदाय 'सर्वशून्य' मानता है। जितने पदार्थ हैं वे आदि में नहीं होते और अन्त में नहीं रहते। मध्य में जो प्रतीत होते हैं वह केवल भ्रान्त प्रतीति है। दीखते ही शून्य हो जाते हैं। जैसे उत्पत्ति से पूर्व घट नहीं था, प्रध्वंस के पश्चात् नहीं रहेगा। घट ज्ञान समय में भासता है किन्तु पदार्थान्तर में ज्ञान जाते ही घटज्ञान नहीं रहता।

नागार्जुन की मान्यता है कि किसी पदार्थ की प्रतीति हमें उसके गुणों के माध्यम से अर्थात् उसके गुणों का ज्ञान होने पर होती है। किन्तु गुणाधान से पूर्व पदार्थ का अस्तित्व नहीं होता। तब फिर वे गुण कहां रहते हैं? न, वे अपने आप में रहते हैं। और न गुण रहित पदार्थ में रह सकते हैं। पदार्थ भी बिना गुणों के नहीं रह सकता—कमसे कम हमें उसका अनुभव नहीं हो सकता। गुणों को द्रव्य और द्रव्य को गुण भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार शून्य ही एक तत्व है ॥५३॥

अब इसकी समीक्षा करते हैं—

न शून्यावगन्तृशून्ययोरूपपत्तेः ॥५४॥

शून्य का ज्ञाता और शून्य (ज्ञेय) के उत्पन्न होने से (सर्वशून्य) नहीं।

यदि सभी शून्य है तो उसका जानने वाला भी शून्य है। जब दोनों शून्य हैं तो किसी ने किसी को नहीं जाना अथवा शून्य को शून्य नें जाना। किन्तु शून्य को शून्य नहीं जान सकता। इससे शून्यत्व की सिद्धि कैसे हुई? जब सब शून्य है तो किसी का 'सब शून्य है' जानना भी शून्य है। किन्तु यह जानना भी एक तत्त्व है। इस प्रकार भी शून्य की सिद्धि नहीं होती। इस लिए शून्य का ज्ञाता और ज्ञेय दो पदार्थ सिद्ध होते हैं ॥५४॥

बाह्यार्थशून्यत्वमिति योगाचाराः ॥५५॥

योगाचार बाह्य को शून्य मानते हैं।

योगाचार विज्ञानवादी है। उसके मत में बाह्य जगत् की कोई सत्ता नहीं है। जो कुछ है भीतर ही है। बाह्य जगत् कल्पनामात्र है। यदि कुछ है भी तो उसे जाना नहीं जा सकता। वास्तव में कोई पदार्थ विद्यमान नहीं है, ज्ञानमात्र

में उसकी स्थिति है। घटनाज्ञान आत्मा में होता है। तभी मनुष्य कहता है कि 'यह घट है।' भीतर ज्ञान न हो तो नहीं कहेगा ॥५५॥

अब इसकी समीक्षा प्रस्तुत करते हैं—

न गिरिनिभोऽवकाशाभावाद् हृदये ॥५६॥

हृदय में पर्वत के तुल्य अवकाश न होने से (बाह्यार्थशून्यत्व) नहीं।

बाह्यार्थशून्य होने पर भीतर ज्ञान हो ही नहीं सकता। बाहर घट न होने पर कोई नहीं कहता कि 'यह घट है।' यदि पदार्थ का अस्तित्व भीतर ही हो तो उसमें तथाकथित बाह्य पदार्थ के सभी गुण होने चाहियें। एक विशालकाय पर्वत छोटे से हृदय देश में कैसे समा सकता है? व्याप्य से व्यापक का सूक्ष्म होना अनिवार्य है। बाहर स्थित अग्नि के सम्पर्क में आने पर तो शरीर भस्म हो जाता है। यदि वास्तव में अग्नि का अस्तित्व भीतर ही है तो शरीर को क्यों नहीं जला डालती? बाहर से शक्कर जिह्वा पर रक्खे बिना हृदय में अवस्थित शक्कर के ज्ञानमात्र से हमारी वासना की तृप्ति क्यों नहीं होती? यदि सब कुछ भीतर ही हो तो सांसारिक पदथों की उत्पत्ति और प्राप्ति के निमित्त पुरुषार्थ किये बिना ही संकल्पमात्र से मनुष्य की सब आवश्यकतायें पूरी हो जाया करें। वस्तुतः पर्वत, अग्नि और शक्कर आदि पदार्थ तो बाहर ही हैं, केवल उनका ज्ञान आत्मा में रहता है। पदार्थों का अस्तित्व बाह्य जगत् में न हो तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से आत्मा में उनके ज्ञान का प्रश्न ही पैदा न हो। ज्ञेय पदार्थ के बिना ज्ञान हो ही नहीं सकता ॥५६॥

बाह्यार्थानुमेयत्वमिति सौत्रान्तिकाः ॥५७॥

सौत्रान्तिक अर्थ का अनुमान मानते हैं।

बाह्य जगत की वास्तविकता को स्वीकार करते हुए भी सौत्रान्तिकों के मत में किसी पदार्थ का सांगोपांग प्रत्यक्ष नहीं होता। किन्तु उसके एकदेश का प्रत्यक्ष होने पर शेष का अनुमान कर लिया जाता है। बाहर पदार्थ का अस्तित्व न होता तो उसके एकदेश का भी प्रत्यक्ष न होता और न शेष का अनुमान ही हो पाता ॥५७॥

अब इसकी समीक्षा करते हुए कहा—

प्रत्यक्षमूलत्वादनुमानस्य न बाह्यार्थस्यानुमेयत्वम् ॥५८॥

अनुमान के प्रत्यक्षमूलक होने से बाह्यार्थ का अनुमेयत्व नहीं होता।

न्याय का सिद्धान्त है–'प्रत्यक्षपूर्वकमनुमानम्–' प्रत्यक्ष होने पर अनुमान होता है। आग और धुएं का अथवा बादल और वर्षा का एक साथ प्रत्यक्ष होने पर कालान्तर में एक को देख कर दूसरे का अनुमान होता है। यदि प्रत्यक्ष

केवल एकदेशी होता है तो सौत्रान्तिक और उसके मत के भी केवल एकदेश का प्रत्यक्ष होने और शेष का अनुमान होनें से उसकी वास्तविकता सन्दिग्ध हो जायेगी। सब अवयवों में अवयवी एक है। अवयवों के प्रत्यक्ष होने से अवयवी का और अवयवी का प्रत्यक्ष होने से अवयवों का प्रत्यक्ष होता है। सावयव घट प्रत्यक्ष होता है। इसलिये हम 'अयं घटैकदेशः' न कह कर 'अयं घटः' कहते हैं। प्रत्येक अवयव भी अपने आप में एक अवयवी है क्योंकि उसे भी उससे छोटे अनेक अवयवों (परमाणुओं तक) में विभक्त किया जा सकता है। हाथ शरीर का एक अवयव है किन्तु स्वयं वह अंगुलियों, हड्डियों, नसनाड़ियों आदि कितने ही अवयवों से युक्त अवयवी है। इसलिये यदि हम छोटे-छोटे अवयवों से वने एक अवयवी का प्रत्यक्ष कर सकते हैं तो उस वड़े अवयवी का प्रत्यक्ष क्यों नहीं कर सकते जिसका यह अवयवी स्वयं अवयव है ॥५८॥

बाह्यार्थप्रत्यक्षत्वमिति वैभाषिकाः ॥५९॥

वैभाषिकों के मत में पदार्थ का वाह्य प्रत्यक्ष होता है।

जब हम 'अयं नीलो घटः' कहते हैं। तो नीले रंग सहित घड़ा आत्मा के वाहर जगत् में विद्यमान होता है। सारा जगत् प्रत्यक्ष का विषय है और सभी दृश्य पदार्थ आत्मा से वाहर हैं ॥५९॥

इस सिद्धान्त की समीक्षा करते हुए कहा—

न बहिर्विद्यमानत्वेऽपितज्ज्ञानस्यात्मन्येव वर्त्तमानत्वात् ॥६०॥

पदार्थ के वाहर विद्यमान होने पर भी उसका ज्ञान आत्मा में होने से उक्त कथन ठीक नहीं।

यद्यपि प्रत्यक्ष का विषय वाहर होता है किन्तु उसका ज्ञान आत्मा में होने से वाह्यार्थ प्रत्यक्ष का सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष तभी सम्भव है जब ज्ञाता और ज्ञान दोनों एकत्र हों। यह आत्मा में ही संभव है। इसलिये पदार्थ के वाहर होने पर भी तदाकार ज्ञान आत्मा में ही होता है ॥६०॥

अब आगे वौद्धमत में मान्य भावनाओं का उल्लेख कर उनकी समीक्षा करते हैं—

सर्वं क्षणिकं क्षणिकम्, दुःखं दुःखम्, स्वलक्षणं स्वलक्षणम् शून्यं शून्यमिति बुद्धोपदिष्टं भावनाचतुष्टयम् ॥६१॥

क्षण-क्षणमें बुद्धि के परिणाम होने से जो पूर्णक्षण में ज्ञात था वह दूसरे क्षण में नहीं रहता। इसलिये सब क्षणिक हैं।

सब प्रवृत्ति दुःखरूप है क्योंकि प्राप्ति से कोई सन्तुष्ट नहीं होता। सब पदार्थ अपने-अपने लक्षणों से लक्षित होते हैं। जैसे गाय के चिन्हों से गाय को और

घोड़े के चिन्हों से घोड़े को जाना जाता है वैसे ही लक्षण सदा लक्ष्य में रहते हैं।

शून्य ही एक पदार्थ है।

ये बुद्ध द्वारा उपदिष्ट चार भावनायें हैं ॥६१॥

न क्षणिकत्वं प्रत्यभिज्ञानात् ॥६२॥

प्रत्यभिज्ञान होने से क्षणिकत्व नहीं।

यदि विश्व क्षणभंगुर हो तो पूर्वदृष्ट पदार्थ का 'यह वही है' ऐसा स्मरण न होना चाहिये। जो क्षणभंगुर होता है वह पदार्थ ही नहीं रहता। फिर स्मरण किसका हो। परन्तु पूर्वदृष्टश्रुत का स्मरण होता है। इसलिये क्षणिकवाद ठीक नहीं ॥६२॥

नैकतरस्याभावेऽपर सद्भावः निशिवासरयोरिव ॥६३॥

एक के अभाव में दूसरे की सिद्धि नहीं होती, दिन-रात के समान।

जैसे दिन की अपेक्षा से रात्रि और रात्रि की अपेक्षा से दिन होता है वैसे ही सुख की अपेक्षा से दुःख और दुःख की अपेक्षा से सुख होता है। यदि सुख न हो तो दुःख की और दुःख न हो तो सुख की सिद्धि नहीं हो सकती। अतः संसार में सुख-दुःख दोनों का अस्तित्व है ॥६३॥

लक्ष्यलक्षणयोर्भिन्नाभिन्नत्वं उपलब्ध्यनुपलब्ध्योरुभयोरपि-दृष्टत्वात् ॥६४॥

दोनों प्रकार के उदाहरण देखे जाने से लक्ष्य और लक्षण भिन्न भी हैं और अभिन्न भी।

यदि स्वलक्षण ही मानें तो नेत्रग्राह्यत्व रूप का लक्षण है और रूप लक्ष्य है। जैसा घट का रूप लक्ष्य चक्षुर्ग्राह्यत्व लक्षण से भिन्न है और गन्ध पृथ्वी से अभिन्न है। इसी प्रकार लक्ष्य-लक्षण को भिन्नाभिन्न मानना चाहिये ॥६४॥

शून्यावगन्तुः शून्यस्य चोपपत्तेः न सर्वशून्यत्वम् ॥६५॥

शून्य को जानने वाले तथा (ज्ञेय) शून्य के उत्पन्न होने से सर्वशून्य नहीं।

'सर्व' जिसे शून्य कहा जा रहा है और 'वह' जो उसे शून्य कह रहा है-दोनों का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है। इस लिये 'सब शून्य है' नहीं कहा जा सकता ॥६५॥

अनेक धार्मिक सम्प्रदायों द्वारा संसार के दुःखरूप होने का कथन पूर्वपक्ष के रूप में सूत्रित किया—

दुःखायतनं जगत्सर्वम् ॥६६॥

समस्त संसार दुःखों का घर है।

बौद्धमत में विश्व के आधारभूत पांचस्कन्ध स्वीकार्य हैं–संज्ञा, रूप, विज्ञान, वेदना और संस्कार। इनमें 'गौरित्यादिशब्दोल्लेखिसंवित्प्रवाहः संज्ञास्कन्धः'—गौ, अश्व, मनुष्यादि देहरूप नाम का सम्बन्ध मानना 'संज्ञास्कन्ध;' 'सविषयाणीन्द्रियाणि रूपस्कन्धः'–इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण किया जाना 'रूपस्कन्ध'; 'आलयविज्ञानप्रवृत्तिविज्ञानप्रवाहो विज्ञानस्कन्धः'–आलयविज्ञान और प्रवृत्ति-विज्ञान दोनों 'विज्ञानस्कन्ध'; सुखदुःखादिप्रत्ययप्रवाहो वेदनास्कन्धः'–रूपस्कन्ध और विज्ञानस्कन्ध दोनों से उत्पन्न सुख दुःख आदि का अनुभव 'वेदनास्कन्ध' और 'वेदनास्कन्धनिबन्धना रागद्वेषादयः क्लेशा उपक्लेशाश्च मदमानादयो धर्माधर्मौ च संस्कारस्कन्धः'-वेदनास्कन्ध से रागद्वेषादिक्लेश और क्षुधातृषादि उपक्लेश, मद, प्रमाद, अभिमान तथा धर्माधर्म रूप व्यवहार 'संस्कारस्कन्ध' कहाते हैं। ये पांचों स्कन्ध दुःखात्मक हैं। बौद्धों की भांति अन्य अनेक सम्प्रदाय और उनके प्रवर्त्तक संसार को दुःखरूप मानकर इससे पलायन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करते हैं॥६३॥

अब इस मत की समीक्षा करते हैं—

न जीवात्मनस्तत्र प्रवर्त्तनात् ॥६७॥

जीवात्मा की (संसार में) प्रवृत्ति होने से (संसार दुःखरूप) नहीं।

प्रत्येक प्राणी सुख जानकर उसमें प्रवृत्त होता और दुःख जानकर उससे निवृत्त होता है। संसार में जीवों की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष दीख पड़ती है। यदि संसार में दुःख ही दुःख होता तो उसमें किसी की प्रवृत्ति न होती। किन्तु हम देखते हैं कि मनुष्य अधिक से अधिक काल तक संसार के पदार्थों का उपभोग करने के उद्देश्य से अपने आयुष्य को बढ़ाने, शरीर को स्वस्थ रखने तथा सुखोपभोग की सामग्री को जुटाने के लिये आवश्यक साधनोपायों के चिन्तन में सदा प्रवृत्त रहता है। मरणासन्न अवस्था को प्राप्त होने पर भी जैसे-तैसे कुछ काल और यहां बने रहने के लिये हाथ-पैर मारता है। 'जीवेम शरदः शतम्' से सन्तुष्ट न होकर 'भूयश्च शरदः शतात्'–सौ वर्ष से भी अधिक जीते रहने की कामना करता है॥६७॥

इस विषय में एक अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

दुःखापेक्षया सुखस्याधिक्याच्च ॥६८॥

दुःख की अपेक्षा सुख की मात्रा अधिक होने से भी संसार (दुःखरूप नहीं)।

'अकामः न कुतश्चनोनः' परमेश्वर ने अपने लिये नहीं, जीव के कल्याण के लिये–उसके 'भोगापवर्ग' के लिये सृष्टि की रचना की है। आनन्दस्वरूप परमेश्वर की रची हुई सृष्टि में दुःख ही दुःख हो–आनन्द कहीं हो ही नहीं–यह कैसे सम्भव है? दुःख को नकारा नहीं जा सकता। किन्तु दुःख को सहते हुए भी

मनुष्य मौत को भगाकर यहां जीना चाहता है। ऐसा क्यों है? इसलिये कि संसार में दुःख की तुलना में सुख कहीं अधिक है। वस्तुतः संसार में सुख-दुःख दोनों है। दोनों सापेक्ष हैं। सुख, भोग में भी है और अपवर्ग में भी। भोगरूप सुख में दुःख का अंश है जबकि अपवर्ग का सुख विशुद्ध आनन्दमय है। अतः अपवर्ग–मोक्ष की अपेक्षा से भोग हेय है और भोग की अपेक्षा से अपवर्ग श्रेयस्कर है। ऐसा जानकर और 'स्वल्पाद् भूरिरक्षणम्' के सिद्धान्त को मानकर, भोग को अपवर्ग के साधनमात्र के रूप में अपनाकर संसार में रहने वाले के लिए संसार दुःखरूप नहीं रह जाता। दुःख की अत्यन्त निवृत्ति 'हान' है जो मोक्ष का अपर नाम है। इसका उपाय है–विवेकख्याति अर्थात् प्रकृति-पुरुष के भेद का साक्षात्कार ज्ञान। इस प्रकार दुःख का कारण संसार नहीं अपितु उसके यथार्थ स्वरूप को न समझना है ॥६८॥

अब सृष्टि रचना के क्रम का निरूपण करते हैं—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ॥६९॥

सत्त्व-रजम्-तमम् की साम्यावस्था प्रकृति है।

प्रकृति की विभिन्न विशेषताओं के आधार पर उसके अनेक नामों का उल्लेख मिलता है, जैसे प्रकृति, प्रधान, स्वधा, अव्यक्त, प्रजा, तमस्, परिणामिनी, प्रसवधर्मिणी, अक्षर, शक्ति, क्षेत्र, ब्रह्म, माया, अविद्या आदि। तथापि मुख्यतः 'प्रकृति' और 'प्रधान' इन दो नामों का प्रयोग किया जाता है। 'प्रधान' पद मुख्य रूप से जगत् की प्रलयावस्था की ओर संकेत करता है–'प्रकर्षेण अन्तर्लीयते सर्वं जगत् यस्मिंस्तत्'। जिसमें सब जगत् सर्वथा लीन हो जाता है वह 'प्रधान' है। क्योंकि जगत् की दृश्यमान अवस्था का आधार सर्ग है और उसका द्योतन 'प्रकृति' पद से होता है, इसलिये सर्वाधिक प्रचलित यही नाम है। धातु एवं प्रत्यय के आधार पर 'प्रकृति' पद का अर्थ होगा–'प्रकर्षेण क्रियते जगदनया इति प्रकृतिः' अर्थात् जिस साधन से सब जगत् की रचना होती है वह 'प्रकृति' है।

सत्त्व, रजस्, और तमस्–ये तीन मूल तत्त्व हैं जिनकी साम्यावस्था अर्थात् समान रूप से रहने का नाम प्रकृति है। जो अन्य पदार्थों का उपादान कारण हो अर्थात् जिससे पदार्थों की उत्पत्ति हो उसे प्रकृति कहते हैं। कार्यमात्र के उपादान कारण की मूल स्थिति प्रकृति है अर्थात् जब तक सत्त्व-रजस्-तमस् कार्यरूप में परिणत नहीं होते प्रत्युत मूलरूप में अवस्थित रहते हैं तब तक प्रकृति कहाते हैं। इस प्रकार समस्त कार्य की कारणरूप अवस्था का नाम प्रकृति है ॥६९॥

प्रकृतेः स्थूलं महत्तत्त्वम् ॥७०॥

प्रकृति से कुछ स्थूल महत्तत्व है।

जब यह कार्यरूप सृष्टि उत्पन्न नहीं हुई थी तब एक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का उपादान कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विद्यमान थी। अव्यक्तावस्था में होने अर्थात् व्यवहार का अभाव होने से वह अदृश्य थी। सृष्टि रचना के निमित्त जब परमेश्वर ने ईक्षण किया तब उसकी प्रेरणा से प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न हुआ और तब ये तत्त्व कार्योन्मुख होने अर्थात् कार्यरूप में परिणत हो सृष्टि का निर्माण करने में तत्पर हुए। तब उनकी अवस्था साम्य से वैषम्य की ओर अग्रसर हुई। प्रकृति से विकृति की अवस्था में आने पर उसका प्रथम विकार अथवा परिणाम 'महत्' कहाया। इसी को विश्वबुद्धि या प्रकृति में सर्वत्र व्याप्त विश्वान्तःकरण कह सकते हैं।

ततोऽप्यहंकारः ॥७१॥

उस (महत्) से अहंकार की उत्पत्ति हुई।

अहंकार भेद का सिद्धान्त है। अतः उससे प्रकृति में पृथक्ता का भाव उत्पन्न हुआ ॥७२॥

अहंकारात्पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियञ्च ॥७२॥

अहंकार से पंचतन्मात्र तथा दोनों प्रकार की इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई।

शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध—ये पांच तन्मात्र हैं। इन्हें तन्मात्र इसलिये कहते हैं कि ये अन्य किसी भी तत्त्व से अमिश्रित रहते हैं। इसीलिये इनको 'अविशेष' नाम भी दिया गया है क्योंकि इनमें किसी प्रकार की वाह्य विशेषता अर्थात् कार्यगत विशेषता नहीं रहती। इनके गंध, रस, आदि नाम उन-उन कार्यों के उत्पादक होने के कारण व्यवहार के लिये रख लिये गये हैं। उपादान तत्त्वों की तन्मात्र नामक वह स्थिति है जहाँ अभी तक पृथिवी, जल, सुवर्ण आदि किसी प्रकार की विशेषता का प्रादुर्भाव नहीं हो पाया। तन्मात्र भी सत्त्व-रजस्-तमस् नामक मूलतत्त्वों के विकार हैं। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण—ये पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं। ये दसों बाह्येन्द्रिय हैं, आन्तरिन्द्रिय केवल एक मन है।

इन्द्रियां, मन व स्थूलभूत केवल विकृति हैं। अतः ये किसी तत्त्वान्तर को उत्पन्न नहीं करते। महत्तत्व, अहंकार तथा सूक्ष्म अवयवों के रूप में तन्मात्र प्रकृति के कार्य हैं परन्तु महत्तत्व अहंकार का. अहंकार इन्द्रियों व तन्मात्र का, तन्मात्र सूक्ष्म भूतों का कारण होने से प्रकृति भी हैं। अतः ये प्रकृति-विकृति दोनों हैं ॥७२॥

तन्मात्रेभ्यो भूतपञ्चकम् ॥७३॥

पृथिवी आदि स्थूल भूतों का कारण सूक्ष्मभूत की रचना द्वारा तन्मात्र हैं।

शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध तन्मात्र से क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्म तत्वों का ग्रहण इन्द्रियों से नहीं होता किन्तु पृथिवी आदि स्थूल तत्व इन्द्रियगोचर हैं। इसलिये इनके अस्तित्व से उनके उपादान तन्मात्र तत्वों के अस्तित्व का अनुमान होता है।

तन्मात्र क्या हैं ? उनके स्वरूप को समझने के लिये सुवर्ण के एक कण का विश्लेषण करना उपयुक्त होगा। उसके सूक्ष्मातिसूक्ष्म कण में जब तक उसके सुवर्ण होने की प्रतीति होगी तब तक वह परमाणुसंज्ञक होगा। जब विश्लेषण करते-करते वह कण उस अवस्था में पहुंच जायेगा जहां उसके अवयवों में सुवर्ण की प्रतीति नहीं रहेगी तब उसकी कार्यगत विशेषता समाप्त समझी जायेगी। तत्त्व की वह अवस्था अविशेष अथवा तन्मात्र है। प्रत्येक स्थूल पदार्थ मूलतः इसी प्रकार के सूक्ष्म अवयवों से परिणत होकर स्थूल अवस्था में आता है ॥७३॥

स्थूलभूतानामाद्यस्थितिः परमाणुः ॥७४॥

स्थूलभूतों की आद्यस्थिति परमाणु है।

परमेश्वर के ईक्षण द्वारा क्षोभ उत्पन्न होने पर जब प्रकृति की साम्यावस्था भंग हो जाती है और वह व्यक्तावस्था की ओर अग्रसर होती है तो सबसे पहले महत् की और तदनन्तर अहंकार की उत्पत्ति होती है। अहंकार से प्रकृति में पृथक्ता का भाव उत्पन्न होकर तत्त्व तन्मात्र के सूक्ष्मतम अवयवों के रूप में आता है। मूलतः सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था प्रकृति से उत्पन्न होने के कारण परमाणु प्रकृति का परिणाम अथवा कार्य हैं। प्रकृति की कार्यावस्था में परमाणु सृष्टि का उपादान है। परमाणु से नीचे कार्य सृष्टि की रचना सम्भव नहीं। इस प्रकार कार्यावस्था में प्रकृति का सूक्ष्मतम अवयव होने और स्थूलाकार जगत् की उत्पत्ति में कारण होने से द्रव्य की परमाणु अवस्था को भी प्रकृति अथवा मूल उपादान कहा जाता है। वास्तव में तन्मात्र के रूप में उद्भूत होने से स्वयं प्रकृति का कार्य और साथ ही स्थूलाकार जगत् का (उपादान) कारण होने से परमाणु (तन्मात्र तत्त्व) प्रकृति-विकृति की अवस्था में आ जाते हैं।

गुणों (सत्त्व-रजस्-तमस्) से उत्पन्न होने के कारण परमाणु नित्य नहीं कहाता। न्याय-वैशेषिक ने प्राकृत तन्मात्रों से परिणत सूक्ष्मभूत की अवस्था तक विचार प्रस्तुत किया, जबकि सांख्य ने प्रकृति की मूल अवस्था तक विवरण प्रस्तुत किया। अर्थात् जहां से सांख्य मूल जड़ तत्त्व की खोज में सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम सृष्टि के क्रम की ओर गया, वहीं से न्याय-वैशेषिक ने स्थूलसृष्टि का

क्रम दिखाया। उनमें परस्पर विरोध न होकर सभी एक दूसरे के पूरक बन कर चले हैं ॥७४॥

अब परमाणु का स्वरूप कथन करते हैं—

कार्यावस्थायां विभागानर्हं पृथिव्यादि परमाणुसंज्ञकम् ॥७५॥

कार्यावस्था में जो अविभाज्य है उसकी पृथ्वी परमाणु आदि संज्ञा है।

किसी पदार्थ का छोटे से छोटा अवयव जिसके आगे टुकड़े न हो सकें परमाणु कहाता है। पृथ्वी अथवा किसी पार्थिव पदार्थ का विश्लेषण या विभाग करते-करते जब हम सूक्ष्मातिसूक्ष्म ऐसे कण पर पहुंच जाते हैं जिसमें पृथ्वीत्व बना रहता है वह पृथ्वी का मूल परमाणु है। परमाणु में परिधि और व्यास होता है और जिसमें परिधि और व्यास है वह अन्तिम तत्त्व नहीं है। उसका आगे और भी विघटन हो सकता है। जब तक वह एकमात्र नहीं हो जाता, तब तक ज्ञान से बराबर कटता चला जाता है। फिर भी उसे अविभाज्य इसलिए कहा जाता है कि उस अवस्था में अर्थात् कार्यावस्था को खोये बिना उसके और टुकड़े नहीं किये जा सकते। पृथ्वी के परमाणु का और आगे विश्लेषण अथवा विखण्डन तो किया जा सकता है, किन्तु तब उसमें पृथ्वीत्व नहीं रहेगा; प्रत्युत वह अपने मूल कारणों के रूप में बिखर जायेगा। पृथ्वीत्व की प्रतीति न रहने पर उसकी कार्यगत विशेषता समाप्त हो जायेगी। तब उसकी संज्ञा 'अविशेष' अथवा 'तन्मात्र' हो जायेगी जो अन्ततः सत्त्व-रजस्-तमस् के रूप में एकमात्र हो मूल कारणावस्था को प्राप्त हो जायेगा। जलादि के परमाणुओं के विषय में भी यही स्थिति है। किसी भी तत्त्व के पिण्ड का विभाग करते हुए उसका जो अन्तिम खण्ड या कण है दृश्यमान जगत् की उत्पत्ति के समय वही उसका परमाणु है और प्रारम्भिक या आदि कण होने से अविभाज्य मूलतत्त्व है। किन्तु मूलतः वह सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था प्रकृति का कार्य है ॥७५॥

अब परमाणुओं से सृष्टि रचना का निरूपण करते हैं—

पृथिव्यादिपरमाणूनां संयोगविशेषात्स्थूलभूतसृष्टिः ॥७६॥

पृथ्वी आदि परमाणुओं के संयोग विशेष से स्थूल भूत सृष्टि का निर्माण होता है।

इन्ही परमाणुओं के विभिन्न अनुपात तथा रूपों में संयुक्त होने से स्थूलाकार विविध जगत् की रचना होती है ॥७६॥

पृथिवी आदि स्थूल भूतों के गुणों का उल्लेख करते हैं—

स्पर्शवान् वायुः ॥७७॥

वायु स्पर्श गुण वाला है।

यद्यपि वायु का गुण केवल स्पर्श है तथापि शीत और उष्ण स्पर्श वायु का स्वाभाविक गुण नहीं। जब वायु का जल से संसर्ग होता है तो वह ठण्डी हो जाती है और जब अग्नि के अंश से होता है तो वह गरम हो जाती है। उसका अपना गुण सरदी-गरमी से पृथक् केवल स्पर्श है, अर्थात् अनुष्ण-अशीत स्पर्श ॥७७॥

त्वग्ग्राह्यो गुणः स्पर्शः ॥७८॥

त्वगिन्द्रिय (त्वचा) से जिसका प्रत्यक्ष होता है वह 'स्पर्श' गुण है ॥७८॥

तेजो रुपस्पर्शवत् ॥७९॥

रूप और स्पर्श गुण वाला अग्नि है।

जहां वायु में केवल एक गुण–स्पर्श है वहाँ तेज–अग्नि में दो गुण हैं–रूप और स्पर्श। इनमें रूप स्वाभाविक तथा स्पर्श वायु के योग से है। तेज चार प्रकार का है। एक–जहां रूप और स्पर्श दोनों रहते हैं। जैसे सौर तेज तथा अग्नि। दूसरे–जहां रूप का प्रत्यक्ष होता है, स्पर्श का नहीं। जैसे–चन्द्रमा। तीसरे–जहां स्पर्श उद्भूत रहता है, रूप अनुद्भूत। जैसे गरम रेत या पत्थर। चौथे–जहाँ रूप और स्पर्श दोनों ही अनुद्भूत रहते हैं। जैसे मानव आदि का चक्षु-तेज। स्पर्श के नैमित्तिक होने के कारण ही चांदी-सोने में तेज-रूप होते हुए भी स्पर्श में उष्णता नहीं होती ॥७९॥

चक्षुर्ग्राह्यो गुणो रुपम् ॥८०॥

नेत्रों से जिसका ग्रहण हो वह 'रूप' गुण है।

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः ॥८१॥

रूप, रस और स्पर्श द्रवत्व और स्नेह गुण वाले जल हैं।

वायु में एक, अग्नि में दो किन्तु जल हें तीन गुण होते हैं–रूप, रस, और स्पर्श। इनमें रस जल का स्वाभाविक गुण है तथा रूप व स्पर्श क्रमशः अग्नि और वायु के योग से हैं ॥८१॥

रसनग्राह्यो गुणो रसः ॥८२॥

रसना से ग्रहण होने वाले मधुर, तिक्त आदि को रस कहते हैं।

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी ॥८३॥

पृथिवी में चार गुण रहते हैं रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ।

इनमें 'गन्ध' पृथिवी का विशेष गुण है । इसलिये 'गन्धवती पृथ्वी' यह लक्षण पूरी तरह अन्य निरपेक्ष है । पृथ्वी का स्वाभाविक गुण होने से वह अन्य किसी द्रव्य में नहीं रहता । रूप अग्नि के संयोग से तथा स्पर्श वायु के संयोग से है ॥८३॥

घ्राणग्राह्यो गुणो गन्धः ॥८४॥

नासिका से जिसका ग्रहण होता है वह गन्ध है ॥८४॥

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम् ॥८५॥

निष्क्रमण (भीतर से बाहर आना) तथा प्रवेशन (बाहर से भीतर जाना) क्रियाओं का सम्भव होना आकाश के अस्तित्व का लिंग है ।

ठोस से ठोस पदार्थ में भी आकाश की विद्यमानता है । इसी से पदार्थों का सिकुड़ना आदि सम्भव होता है । इसी कारण लोहे आदि में भी अग्नि के सूक्ष्म परमाणु प्रवेश कर जाते हैं । आकाश में सब और सबमें आकाश व्याप्त रहता है ॥८५॥

शब्दो लिङ्गमाकाशस्य ॥८६॥

शब्द आकाश का लिङ्ग (गुण) है ।

शब्द एक बाह्येन्द्रिय से ग्रहण किया जाता है । चक्षु के अतिरिक्त अन्य इन्द्रियां गुण के अतिरिक्त किसी द्रव्य का ग्रहण नहीं करती । अतः शब्द गुण है । किन्तु गुण किसी द्रव्य के आश्रय के विना नहीं रह सकता । पृथ्वी आदि आठ द्रव्य शब्द के आश्रय नहीं । इसलिये शब्द शेष नवम द्रव्य आकाश का गुण है । ध्वनि उत्पादक साधनों से जहां जितना अधिक आकाश आवेष्टित होगा उतना ही तुमुल शब्द वहाँ होगा ॥८६॥

श्रोत्रग्राह्यो गुणः शब्दः ॥८७॥

श्रोत्र से ग्रहण होने वाला गुण 'शब्द' है ॥८७॥

दृश्यमान जगत् की उत्पत्ति का स्वरूप निर्धारण करते हैं—

त्रसरेणोः द्विरावृत्ततया पृथिव्यादयो दृश्यपदार्थाः ॥८८॥

त्रसरेणु के दुगुना होने से पृथ्वी आदि दृश्य पदार्थ होते हैं ।

एक अणु = ६० परमाणु, द्व्यणुक २ × ६० = १२० परमाणु, त्रसरेणु =

३×१२०=३६० परमाणु, त्रसरेणु का दुगुना=२×३६०=७२० परमाणु। इस प्रकार किसी द्रव्य पदार्थ के दृश्य रूप में आने के लिये सर्वप्रथम न्यूनातिन्यून ७२० परमाणुओं का संघात अनिवार्य है। फिर उनके संयोग विशेष से प्रथमतः कोई तत्त्व बनकर सूक्ष्म से स्थूल, स्थूलतर और स्थूलतम बनता जाता है।

जो पंचभूत हमें दृष्टिगत होते हैं वे सब संयुक्त हैं। उनमें जो स्थूल हैं उनमें सूक्ष्म के गुण रहते हैं। पृथ्वी सबसे स्थूल है इसलिये उसमें सब भूतों के रहने से उन सबके गुणों का पृथ्वी में प्रत्यक्ष होता है। (जो जिससे सूक्ष्म है उसमें अपने से स्थूल के समान गुणों की प्रतीति नहीं होती) पंचभूतों में सूक्ष्मतम आकाश है। आकाश की उत्पत्ति नहीं होती। वह विभु एवं नित्य है। फिर भी 'जब आकाशः सम्भूतः' कहा जाता है तो उसका अभिप्राय इतना ही होता है कि उस परमेश्वर और प्रकृति से आकाश–अवकाश अर्थात् जो कारणरूप द्रव्य सर्वत्र फैला हुआ था, उसको इकट्ठा करने से अवकाश उत्पन्न सा दीखता है ॥८८॥

अब सृष्टिरचना के क्रम का निर्देश करते हैं—

स्थूलभूतपञ्चकादोषधिवृक्षादयः ॥८९॥

क्रमशः अनेक स्थूलावस्थाओं को प्राप्त होते हुए पांच स्थूलभूतों के संयोग विशेष से पहले नाना प्रकार की औषधियाँ वृक्षादि उत्पन्न होते हैं ॥८९॥

तेभ्योऽन्नम् ॥९०॥

औषधि वृक्षादि से अन्न=खाद्य पदार्थों की उपलब्धि होती है ॥९०॥

भोग्यानन्तरं भोक्ता ॥९१॥

भोग्य (पदार्थों) के पश्चात् भोक्ता होता है।

जैवी सृष्टि से पूर्व जीव के लिए अपेक्षित सामग्री का होना आवश्यक है। प्यास लगने पर कुंआ खोदना बुद्धिमत्ता नहीं। इस व्यवस्था के अनुसार पहले वनस्पति, फिर पशु (कृमि से हाथी पर्यन्त) और अन्त में मनुष्य उत्पन्न हुए। प्राणी के प्रादुर्भाव से पूर्व इस धरती पर वायु, जल, लता, ओषधि, वनस्पति, फल, मूल, आदि खाद्य पदार्थ तथा सूर्य, चन्द्रमा आदि अन्य आवश्यक साधन उपलब्ध थे। इनके बिना प्राणिमात्र के लिए धरती पर रहना सम्भव न था। यजुर्वेद (३१-६) के अनुसार "संभृतं पृषदाज्यम् पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान्ग्राम्यांश्च ये" अर्थात् परमेश्वर ने पहले दध्यादि भोग्य पदार्थों तथा वायु में गमन करने वाले पक्षियों, सिंह व्याघ्रादि वनैले पशुओं और नगरों एवं गांवों में रहने वाले गाय, घोड़े आदि पशुओं को उत्पन्न किया। इस प्रकार जड़ जगत् की रचना पूर्ण होने पर चेतन जगत् की ओर चेतन में भी क्रमशः सादी, क्लिष्ट और क्लिष्टतम प्राणियों की सृष्टि हुई ॥९१॥

अब सृष्टि रचना की प्रक्रिया का निरूपण करते हैं—

अमैथुन्यादिसृष्टिः ॥६२॥

आदि सृष्टि अमैथुनी होती है।

सृष्टि के आदिकाल में समस्त सृष्टि अमैथुनी होती है–अर्थात् नर-नारी के परस्पर संयोग के विना ही जीव देह धारण करते हैं। इस प्रकार की देह रचना ही 'अयोनिज' कहाती है क्योंकि गर्भाशय से बाहर निकलने के योनि नामक मार्ग का इसमें उपयोग नहीं होता। इसी को ऐश्वरी सृष्टि भी कहते हैं क्योंकि उस समय सृष्टि के निमित्त कारण के रूप में केवल ईश्वर विद्यमान होता है। प्राकृत व्यवस्थाओं के अनुसार रज-वीर्य के मूल तत्त्व किसी विशिष्ट खोल आदि के साथ संकलित हो जाते हैं और उनसे शरीर रचना प्रारम्भ हो जाती है। कालान्तर में देह के परिपुष्ट हो जाने पर वे खोल फट जाते हैं और बने बनाये शरीर बाहर आ जाते हैं। सृष्टि के आदि में मुक्ति की अवधि समाप्त होने पर मानव शरीर धारण करने वाले जीवों, उत्कृष्ट धर्म विशेष का पालन करने वाले ऋषि मुनियों, तथा अन्य समस्त प्राणियों के देह की उत्पत्ति इसी प्रकार अयोनिज शरीरों के रूप में होती है।

अयोनिज शरीरों की रचना में प्रवृत्त होने वाले परमाणुओं के दिग्देश गर्भाशय तथा रजवीर्यसंयोग आदि के रूप में निमित्त नहीं रहते। ईश्वर के नियम से चेष्टा पाकर प्रत्येक देश और दिशा में वर्तमान वे परमाणु द्व्यणुकादि परम्परा संरचना के विशिष्ट स्तरों को पार करते हुए अयोनिज शरीरों की उत्पत्ति में समर्थ होते हैं।

इस प्रक्रिया को एक वृक्ष के उदाहरण से समझना आसान होगा। बिना बीज के वृक्ष नहीं उगता–इसे सभी स्वीकार करते हैं। बीज पेड़ पर उत्पन्न होते हैं और आगे होने वाले वृक्षों को उत्पन्न करते हैं। परन्तु सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न सबसे पहले पेड़ का बीज कहां से आया? वस्तुतः जिन तत्त्वों से बीज का निर्माण होता है वे प्रकृति में सदा विद्यमान हैं। वे भौतिक तत्त्व एक खोल के भीतर प्रकृति-गर्भ में संकलित होकर पोषण पाते रहे और पूर्ण अवस्था को प्राप्त हो अनुकूल अवसर आने पर अंकुर के रूप में प्रस्फुटित हुए। इस प्रकार सबसे प्रथम उत्पन्न होने वाले किसी भी वृक्ष के बीज का निर्माण प्रकृति के गर्भ में ईश्वर द्वारा निर्धारित नियम व व्यवस्थाओं के अनुसार स्वतः हुआ। यही अयोनिज अथवा अमैथुनी सृष्टि की प्रक्रिया है। ईश्वरीय व्यवस्था में तत्त्वों द्वारा निर्मित्त बीज की बनावट वैसी रही होगी जैसी हमें उस वृक्ष विशेष से उत्पन्न होने वाले बीजों की आज दीख पड़ती है।

मैथुनी सृष्टि में नर-मादा का संयोग प्राणी के प्रजनन की जिस स्थिति को आज प्रस्तुत करता है वही स्थिति अमैथुनी सृष्टि में प्राकृत नियमों व व्य-

वस्थाओं के अनुसार प्रकृति के गर्भ में प्रस्तुत हो जाती है । वर्तमान वैज्ञानिकों द्वारा ट्यूब में मानव शरीर के निर्माण के लिए किया जा रहा प्रयत्न इसी प्रक्रिया का द्योतक है ।

सृष्टि चाहे अमैथुनी हो या मैथुनी-प्रणियों के शरीरों की रचना परमेश्वर सदा माता-पिता के द्वारा करता है । दोनों में अन्तर केवल इतना है कि आदि सृष्टि में माता, जननी यह भूमि होती है और वीर्य संस्थापक सूर्य । ऋग्वेद (१-१६४-३३) में कहा है–'द्यौर्मे पिता जनिता माता पृथिवी महीयम्' । अर्थात् सृष्टि के आदिकाल में प्राणियों के शरीरों का उत्पादक पिता रूप में सूर्य था और माता के रूप में यह विशाल पृथ्वी । परमात्मा ने सूर्य और पृथ्वी–दोनों के रज–वीर्य के सम्मिश्रण से प्राणियों के शरीरों को बनाया । जैसे इस समय बालक माता के गर्भ जरायु में पड़ा माता के आहार में से रस लेकर बनता और विकसित होता है वैसे ही आदि सृष्टि में पृथ्वी रूपी माता के गर्भ में बनता रहता है । जैसे-जैसे गर्भ बढ़ता है वैसे-वैसे भूमि की मिट्टी संकुचित होकर उसे अधिकाधिक स्थान देती रहती है ।

प्रशस्तपाद ने वैशेषिक दर्शन के अपने भाष्य में लिखा–'तत्रायोनिजमनपेक्षितं-शुक्रशोणितं देवर्षीणां शरीरं धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते' । अर्थात् देवों और ऋषियों के शरीर शुक्रशोणित के बिना ही परमाणुओं से उत्पन्न होते हैं । रज-वीर्य भी तो अन्ततः परमाणुओं एवं मूलतः सत्त्व-रजस्-तमस् का ही विकार है । यजुर्वेद में भी लिखा है–'तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये' (३१-६) अर्थात् आदि सृष्टि में परमात्मा से देव, ऋषि और साध्य आप ही आप उत्पन्न हुए ।

यदि माता-पिता के संयोग से ही सृष्टि मानी जाये तो अनवस्था दोष की प्राप्ति होगी। स्वेदज और ऊष्मज प्राणियों की सृष्टि का अयोनिज अर्थात् माता पिता के संयोग के बिना होना आज भी प्रत्यक्ष है ॥९२॥

आदावीश्वराधीनं तदनु जीवाधीनं देहनिर्माणम् ॥९३॥

देह निर्माण (सृष्टि के) आदि में ईश्वर के अधीन, तदनन्तर जीव के अधीन हैं ।

जीव के सभी प्रयत्न व भोग आदि शरीर के द्वारा संभव हैं । इसलिए सृष्टि के क्रम को आरम्भ करने के लिये पूर्व सृष्टि से कर्मफल को भोगने वाले जीवों के पास देहों का होना नितान्त आवश्यक है । अशरीर अवस्था में जीव स्वयं उनका निर्माण करने में असमर्थ है। इसीलिये 'योनिज' तथा 'अयोनिज' दो प्रकार के शरीरों की व्यवस्था की गई हैं । सर्ग का चालू काल ईश्वरीय व्यवस्थाओं के अनुसार संचालित होता है और अयोनिज शरीरों का निर्माण होता है । तदनन्तर सजातीय प्रजनन का नियम चालू होता है । जो कार्य पहले

प्राकृतिक व्यवस्थाओं के अनुसार जीव से अतिरिक्त सत्ता के द्वारा होता था वह अब नर-मादा के संयोग से होकर योनिज शरीरों की सृष्टि के रूप में स्वयं प्राणियों द्वारा होने लगता है। आरम्भ में सांचा बनाना कष्टसाध्य होता है। सांचा तैयार होने पर उसके अनुरूप वस्तुओं का निर्माण करने में विशेष कठिनाई नहीं होती। आदि सृष्टि में अनेकानेक शरीरों के रूप में साँचे बनाना ईश्वर का काम था। तदनन्तर उन सांचों में ढाल-ढालकर नित नये शरीर बनाते रहना जीव का काम है ॥६३॥

सृष्टि रचना में ईश्वर के अतिरिक्त जीव भी निमित्त कारण है क्योंकि—

ऐश्वरिसृष्टेरुत्पादकः परमेश्वरः न तु जैवसर्गस्य ॥६४॥

परमात्मा ऐश्वरी सृष्टि का कर्त्ता है, जैवी सृष्टि का नहीं।

सृष्टि की मूल कारण से उत्पत्ति करने, उसे धारण करने और यथासमय प्रलय करने तथा स्थिति काल में समस्त चराचर जगत् की समुचित व्यवस्था करने वाला परमेश्वर सृष्टि का मुख्य निमित्त कारण है। किन्तु उसकी बनाई सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेकविध कार्यान्तर कर अपने काम में लेना जीव का कर्त्तव्य है। 'अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम। दास मलूका कह गये सबके दाताराम' की रट लगाकर निष्क्रिय हो बैठना निरे आलसी लोगों का काम है। सृष्टि के आदि में वृक्ष, फल, औषधि, वनस्पति, अन्नादि ईश्वर ने उत्पन्न कर दिये। किन्तु कृषि कर्म के द्वारा इन पदार्थों को बनाये रखना तथा आवश्यकतानुसार उनका विकास और वृद्धि करते रहना मनुष्य का काम है। हाथ पर हाथ धरे न बैठकर परिश्रम द्वारा उन्हें अपने खाने योग्य बनाना भी उसी का काम है। सृष्टि के आदि में वेद का ज्ञान देना ईश्वरीय व्यवस्था थी। किन्तु गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा उसे अविच्छिन्न रखना मनुष्य का कर्त्तव्य है। ईश्वर सब कुछ नहीं करता—अपना काम करता है और जीव को समर्थ बनाकर उससे अपने कर्त्तव्य पालन की अपेक्षा रखता है।६४॥

विविध योनियां एक ही देह से प्रारम्भ होकर उसी के विभिन्न रूप हैं अथवा आदि काल से ही वे सब अपने वर्तमान रूप में चली आ रही हैं—

इस विषय में स्वमत का प्रतिपादन करते हैं—

स्वमूलोद्भूताः सर्वयोनयः ॥६५॥

सब योनियाँ अपने-अपने मूल से प्रादुर्भूत हैं।

परमेश्वर सृष्टि का रचयिता, नियामक तथा प्रेरक हैं। उसी ने विविध नामरूपयुक्त प्राणियों की सृष्टि की है। आज जो लाखों प्रकार के देहधारी प्राणी दिखाई पड़ते हैं—कृमि से लेकर हाथी और मनुष्य पर्यन्त सब सृष्टि के आदि काल से इसी रूप में चले आ रहे हैं। सभी की स्वतन्त्र सत्ता है। मूल में

किसी एक योनि की शाखा प्रशाखा नहीं हैं। यजुर्वेद (३१-८) में स्पष्ट लिखा है—

तस्मादश्वाऽजायत ये के चोभायदतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाताऽजावयः॥

अर्थात् घोड़े आदि दो जबाड़ों वाले, गौ आदि एक जबाड़े वाले, बकरी भेड़ आदि सब पशु उस परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। इससे पूर्व इसी अध्याय के छठे मन्त्र में 'पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्यांश्च ये' कहकर वायु में विचरण करने वाले तथा नगरों और वनों में रहने वाले पशुओं को उत्पन्न करने वाला भी परमेश्वर को बताया गया। आगे नवें मन्त्र में मनुष्यों (साध्याश्च ऋषयश्च) की उत्पत्ति भी ईश्वर द्वारा हुई कही गई। इस तरह प्रकारान्तर से सर्ग के आदि में अमैथुनी सृष्टि में ही विभिन्न योनियों में एक-दूसरे की अपेक्षा रहित प्राणिमात्र की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है।

इसके विपरीत आधुनिक विद्वानों के अनुसार सब प्रकार के जीवित प्राणी एक ही जाति के आद्य वंशजों से सन्तति उपसन्तति द्वारा उत्पन्न हैं। इसके वर्तमान रूप परिस्थितिजन्य हैं। इस मत के अनुसार सर्वप्रथम एककोश वाले प्राणी का प्रादुर्भाव हुआ। धीरे-धीरे उसी के विलक्षण विकास के परिणाम-स्वरूप अनेकानेक कोशयुक्त देहों का प्रादुर्भाव होता गया। सभी प्राणी अपने से पूर्व अवनत रूपों का उन्नत रूप अथवा संशोधित संस्करण हैं। जब जीवन की विकृत दशाओं के कारण किसी व्यक्ति का कोई अंग निकम्मा हो जाता है तो स्वाभाविक निर्वचन और निकम्मापन दोनों मिलकर उसके नष्ट होने अथवा चिन्हमात्र रह जाने का कारण बन जाते हैं। इसी प्रकार प्राणी की इच्छा और आवश्यकता ऐसी स्थितियाँ हैं जो उसके नये अंगों के विकास तथा परिवर्तन का कारण बनती हैं। भोजन के लिये प्रयास, शत्रुओं से रक्षा और प्रकृति के अनुकूल अपने आपको ढालने के प्रयत्न के परिणामस्वरूप शरीरों में परिवर्तन होता गया और इस प्रकार विभिन्न योनियों के रूप में प्राणी बंट गया। अभिप्राय यह है कि आधुनिक विकासवाद के अनुसार प्राणी के क्रमिक विकास में उसकी आवश्यकताजन्य इच्छा और उसको पूरा करने का चिरकालीन अभ्यास आकृति परिवर्तन का मूल कारण है।

किन्तु एक कोश वाले प्राणी का प्रादुर्भाव कैसे हुआ—इस समस्या का समाधान विज्ञान आज तक नहीं कर पाया। वस्तुतः सृष्टि के आदि में जिस प्रकार एक कोश के देह की रचना हो जाती है वैसे ही अनेक कोशयुक्त देहों की रचना भी सम्भव है। सभी विशिष्ट देहों की रचना अपनी नियत इकाइयों अर्थात् उपादान कारणों से स्वतन्त्र रूप में होती है। कार्यकारण भाव से अमीबा के एक कोश के देह से अनेक कोशयुक्त देह की रचना का कोई सम्बन्ध नहीं है। जैसे अमीबा का प्रादुर्भाव अमैथुनी सृष्टि है वैसे ही अनेक कोशयुक्त देहों के

प्राणियों की सृष्टि भी अमैथुनी है। आगे सजातीय प्रजनन के नियमों के अनुसार ही सृष्टि चलती है।

क्रमिक विकास में प्राणी की आवश्यकताजन्य इच्छा और उसकी पूर्त्यर्थ किये गये अभ्यास के कारण होने वाले आकृति परिवर्तन के सन्दर्भ में जिराफ़ का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। अफ्रीका में बहुत लम्बी गर्दन वाला जिराफ़ नामक एक पशु पाया जाता है। कहते हैं कि पहले उसकी गर्दन इतनी लम्बी नहीं होती थी। ऊँचे वृक्षों पर लगे पत्तों तक पहुंचने के लिये अपनी गर्दन को ऊँचा उठाते रहने के कारण कालान्तर में उसकी गर्दन लम्बी हो गई। दस-वीस या सौ-पचास वर्षों के अभ्यास से तो यह संभव नहीं। लाखों करोड़ों वर्ष लगने चाहियें। इतनी लम्बी अवधि में तो भौतिक परिस्थितियों में बहुत उलट-फेर हो जाता है। प्राणी की आवश्यकता और उसकी स्थिति भी लाखों वर्षों तक वैसी ही बनी रहे—यह भी संभव नहीं दीखता। फिर, वृक्षों पर लगे पत्तों को खाने वाले और भी प्राणी हैं। उन सबकी गर्दनें लम्बी क्यों नहीं हो गईं। हम देखते हैं कि बकरी पहले नीचे लगे पत्तों को चुगती है और फिर पेड़ के तनों व टहनियों पर अगले पैर टिकाकर जहाँ तक मुंह पहुंच जाता है वहां के पत्ते कुतर लेती है। इसी तरह वह लाखों करोड़ों वर्षों से अपना पेट भरती आ रही है। जहां तक वह चुग सकती है उसके ऊपर भी पत्ते रहते हैं। संभवतः वह उन्हें भी चुगना चाहती हो। पर न उसकी गर्दन बढ़ी, न उसका अगला भाग लम्बा हुआ और न उसके लिए चारे की कमी हुई, जबकि बकरियों की संख्या जिराफ़ की तुलना में कहीं अधिक है। अपनी आवश्यकता की पूर्त्यर्थ अभ्यास करना ही अभीष्ट था तो जिराफ़ ने बन्दर की तरह पेड़ पर चढ़ने का अभ्यास क्यों नहीं किया। यह अपेक्षाकृत आसान रास्ता था और बहुत जल्दी—दो चार वर्ष में ही काम बन जाता। फलतः जिराफ़ की गर्दन के लम्बा होने की कहानी कल्पना से अधिक कुछ नहीं।

यदि प्रकृति पूर्वकाल में एक व्यक्ति को विकृत करने योग्य थी तो उसने अब यह काम करना क्यों बन्द कर दिया? क्रमिक विकास का सिलसिला मनुष्य पर आकर क्यों ठहर गया और मनुष्य से आगे उसका और कुछ क्यों नहीं बना?

यदि यन्त्र के विकास जैसे सिद्धान्त पर प्राणियों का विकास हुआ तो जैसे निचले स्तर के घटिया यन्त्रों का निर्माण बन्द होकर (मोटर, साइकल आदि) केवल अन्तिम विकसित नमूने के ही बनाये जाते हैं वैसे ही विकास की अन्तिम सीढ़ी पर पहुंचे हुए केवल मनुष्य ही सृष्टि में रह जाने चाहिये थे।

जीवन सग्राम में यदि योग्यतम ही बचे रह जाते हैं तो क्या कारण है कि मछली से रूपान्तर होते-होते योग्यतम और श्रेष्ठतम प्राणी—मनुष्य के बन जाने पर भी जितने छोटे कीड़े हैं संख्या में अधिक हैं और योग्यतम माने जाने वाले

मनुष्य से तो प्रायः (शेर, हाथी जैसे कुछ प्राणियों को छोड़कर) सभी प्राणी अधिक हैं। निर्बल होने के कारण मनुष्य से नीचे की तो सभी जातियाँ कभी की स्वतः समाप्त हो जानी चाहिये थीं। मनुष्य को बल में हाथी, शेर और घोड़े ने परास्त कर दिया। आयु में कछुए और साँप ने पछाड़ दिया। कारीगरी, परिश्रम, संचय और बन्दोबस्त में शहद की मक्खी अपने से उत्तरोत्तर प्राणियों से कहीं श्रेष्ठ है। बौद्धिक स्तर पर विद्वानों की अपेक्षा मूर्खों की संख्या कहीं अधिक है।

आज भी मछली से मछली, बन्दर से बन्दर, चिड़िया से चिड़िया ही पैदा होती है। ये अपने पूर्वजों की भांति मनुष्य क्यों नहीं बन गये? न कभी बन्दर से मनुष्य का जन्म देखा सुना गया और न छिपकली के अण्डे से गिलहरी निकलती देखी गई। मनुष्य और बनमानुष के संयोग से भी मनुष्य पैदा न हो सका।

स्वाभाविक निर्वचन के अनुसार प्रत्येक प्राणी स्वभावतः अपने आपको योग्यतम बनाने का प्रयत्न करता रहता है। फिर क्यों माता-पिता अपनी संतान की तथा राजा अपनी प्रजा की शिक्षा दीक्षा की व्यवस्था करते हैं। पहाड़ों और जंगलों में रहने वाले लोग—यहां तक कि पढ़े-लिखे माता-पिता के बच्चे बिना स्कूल कालिज में गये विद्वान् क्यों नहीं बन जाते? सरकस में काम करने के लिये स्वयं सीखे-सिखाये पशु क्यों नहीं मिल जाते?

प्रत्यक्ष में जहां उन्नति का नियम काम करता है वहां साथ ही साथ अवनति का नियम भी काम करता है। मूर्खों की सन्तान विद्वान् और विद्वानों की सन्तान मूर्ख देखी जाती है। इसी प्रकार पापियों की सन्तान धर्मात्मा और धर्मात्माओं की सन्तान पापी देखी जाती है। यदि सन्तति अनुक्रम का सिद्धान्त ठीक होता तो उत्तरोत्तर अधिक बुद्धिमान् और धर्मात्मा ही बनते जाने चाहिये थे। जो जातियां कभी उन्नत और सभ्यता के शिखर पर थीं और संसार के विशाल भू-भाग पर शासन करती थीं वे आज अवनत और पद-दलित एवं परमुखापेक्षी हैं।

यदि योग्यतम की ही विजय होती है तो परिवार में सबसे निर्बल शिशु का पालन-पोषण क्यों किया जाता है? जीने में समर्थ होगा तो जी जायेगा—ऐसा सोचकर उसे अपने हाल पर क्यों नहीं छोड़ दिया जाता? पशु-पक्षी तक भी अपने बच्चों का पालन पोषण क्यों करते हैं?

यदि परिस्थिति के अनुरूप शरीर का निर्माण होता है तो एक ही परिस्थिति में जन्म लेने वाले भाई-बहन में बहन के मुंह पर दाढ़ी मूंछ क्यों नहीं होती? हाथी और हथिनी में हथिनी के मुंह में बाहर निकले दांत क्यों नहीं होते? मोर और मुर्गे की भांति मोरनी और मुर्गी के सुन्दर पर और कलगी क्यों नहीं होते जबकि वे मादा हैं जिनमें सौन्दर्य विशेष अपेक्षित है।

यदि यह माना जाये कि किन्हीं पशुओं में सींगों की उत्पत्ति इसलिये हुई

जिससे वे संघर्ष के समय बचाव के लिए हथियार की तरह उनका उपयोग कर सकें तो सभी पशुओं के सींग क्यों नहीं निकले ? मनुष्य के भी रहते तो अच्छा था। उसे अपने बचाव के लिये लाठी आदि की व्यवस्था न करनी पड़ती ? यदि रक्षार्थ सींगों का विकास हुआ तो हरिण, चीतल, नीलगाय आदि अनेक जंगली पशुओं में केवल नर ही के सींग क्यों हुए ? क्या मादा को अपना बचाव नहीं करना था ?

शीतप्रधान प्रदेशों में प्राणियों में रोम बढ़ना तथा उष्ण देशों में रोमों का न होना विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार आकृति परिवर्तन प्रसंग में प्राणियों की आवश्यकता के कारण है। परन्तु हम देखते हैं कि अनादि काल से उत्तरी ध्रुव और ग्रीनलैण्ड जैसे शीत प्रधान प्रदेशों में बसने वाले मनुष्य के शरीरों पर भी रीछ या भेड़ जैसे बाल उत्पन्न न हो सके। जैसे बाल राजस्थान की भेड़ के होते हैं लगभग वैसे ही हिमालय में रहने वाली भेड़ों के होते हैं। अफ्रीका के मरुस्थल में लम्बे बालों वाला रीछ और बिना बालों वाला गैण्डा एक साथ रहते हैं।

नाना स्थलों पर जन्तु विशेषों का पाया जाना भी जातियों की स्वतन्त्र उत्पत्ति को दर्शाता है। हाथी, सिंह व मोर भारत में होते हैं, इंग्लैण्ड में नहीं। जिराफ़ अफ्रीका में ही पाया जाता है। आस्ट्रेलिया का जलवायु अनुकूल होने पर भी पहले वहाँ ख़रगोश नहीं होते थे। जब यूरोप वाले ले गये तो होने लग गये। यदि अमीबा से ही सबकी उत्पत्ति होती तो सब स्थानों पर सब प्रकार के पशु-पक्षी हो जाने चाहिये थे।

मनुष्य को छोड़कर जितने प्राणी हैं उनमें किसी के भी बालों में जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। गाय, घोड़ा, हाथी आदि जिस रंग के पैदा होते हैं आजीवन उसी रंग के रहते हैं। मनुष्य के निकटतम पूर्वज माने जाने वाले बन्दर और बनमानुष भी सदा एक ही रंग के रहते है। परन्तु मनुष्य अपने जीवन काल में प्रायः ३-४ बार रंग बदलता है। किस परिस्थिति के कारण अथवा किस आवश्यकता की पूर्ति के लिए ऐसा होता है ? उसका बस चले तो कभी अपने बालों को श्वेत या पिंगल न होने दे।

घ्राण शक्ति कितने काम की है। प्राणिमात्र के लिये उसकी उपयोगिता है। घ्राण शक्ति की उपयोगिता के कारण मनुष्य अपनी सहायता के लिये कुत्तों पर आश्रित है। विकासक्रम में उसने अपनी इस शक्ति को क्यों गंवां दिया ?

राजस्थान में पीने के पानी की बड़ी विकट समस्या है। वहां रहने वाली भैंसों को तैरने का अभ्यास कराने के लिये नदी सरोवर कहां मिलेंगे। फिर भी वहां रहने वाली भैंस तैरना नहीं भूली। पानी में गिरते ही तैरने लगेगी।

चूहों की दुम काट २ कर बिना दुम के चूहे पैदा करने का प्रयत्न किया

गया। किन्तु अनेक पीढ़ियों तक परिश्रम करने पर भी सफलता नहीं मिली। हिन्दुओं में लाखों वर्षों से लड़के लड़कियों के नाक कान छिदते चले आ रहे हैं, यहूदियों और मुसलमानों में ३ हजार वर्ष से खतना कराते आ रहे हैं, और न जाने कबसे चीन की स्त्रियां अपने पांव छोटे करने लिये प्रयत्नशील रहीं। किन्तु न आज तक हिन्दुओं में कोई बालक छिदे छिदाये कानों के साथ पैदा हुआ, न मुसलमानों और यहूदियों में खतना के साथ और न चीन में कोई स्त्री छोटे पैरों वाली पैदा हुई।

यदि आवश्यकता के पूर्त्यर्थ ही प्राणी अपने अंगों का विकास करता तथा तदनुसार आकृति ग्रहण करता है तो नरों के स्तन क्यों हैं? क्या कभी वे भी गर्भ धारण करते तथा बच्चों को दूध पिलाते थे? इसी प्रकार अजा के गल स्तनों और मनुष्य की छटी उंगली का क्या प्रयोजन है? भेड़े के सींग क्यों आ जाते हैं? इन सब बातों से विकासवाद के विशिष्टावशिष्ट अंगों की कल्पना मिथ्या सिद्ध हो जाती है।

चींटी के प्रथम तो मस्तिष्क होता नहीं। होता भी होगा तो मनुष्य तो क्या अनेकानेक अन्य पशु पक्षियों की तुलना में कितना होगा? किन्तु विकास के अत्यधिक निम्नतर स्तर का प्राणी होने पर भी उसके बुद्धि कौशल और दूरदर्शिता को देख कर दांतों तले उंगली दबानी पड़ती है। चींटी को आसन्न भविष्य में होने वाली वर्षा का तथा कुत्ते को संभावित भूकम्प आदि का आभास कैसे हो जाता है?

यदि भिन्न २ जातियों के प्राणी एक दूसरे से समागम करके सन्तान उत्पन्न करते हैं तो वह संतान बांझ होती है। जैसे गधे और घोड़े के संयोग से उत्पन्न खच्चर। जिन दो भिन्न जातियों के मिश्रण से वंश चलता है वह दो जातियां न होकर एक ही जाति के विभक्त प्राणी होते हैं। व्याघ्र और सिंह के संयोग से सन्तति होती है क्योंकि उन दोनों का उद्गम स्थान एक ही है। किन्तु आगे चलकर यह मिश्र योनिज जाति मूल जाति के रूप की हो जाती है। अर्थात् धीरे २ वह व्याघ्र की अथवा सिंह की शक्ल की हो जाती है।

प्राणिजगत् के प्रादुर्भाव की विकासवादी कल्पना रोचक होते हुए भी उसकी प्रक्रिया मानव मस्तिष्क को संतुष्ट करने में समर्थ नहीं है। इस प्रक्रिया से अभिभूत होकर आधुनिक विद्वानों ने मत्स्यावतार, कूर्मावतार, वराहावतार, नरसिंहावतार आदि के रूप में पौराणिक अवतारवाद के माध्यम से अपनी कल्पना को संतुलित करने का प्रयास किया है। इस मान्यता के उत्तर में इतना कहना पर्याप्त होगा कि जिस काल में प्रथम मत्स्यावतार के अवतीर्ण होने की कल्पना की गई है उससे बहुत पहले से मानव की तथा अन्य प्राणियों की विद्यमानता सिद्ध है। अवतारवाद में प्राणिसृष्टि के क्रमिक विकास को नहीं ढूंढ़ा जा सकता। वस्तुत: जो योनियां इस समय जिस रूप में हैं सृष्टि के आदिकाल से वह उसी

रूप में चली आ रही हैं। आवश्यकता, तज्जन्य इच्छा, अभ्यास एवं परिस्थिति के कारण उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। प्रतिकूल स्थितियों में कोई जाति नष्ट भले ही हो जाये, पर उसमें ऐसा असाधारण परिवर्तन नहीं आ सकता जो उसकी नैसर्गिक जाति को बदल कर उसे कुछ का कुछ बना दे ॥९५॥

सर्गादौ प्राणिनां सृष्टिर्यौवनसंपन्ना ॥९६॥

सृष्टि के आदि में प्राणी युवावस्था में उत्पन्न हुए।

बालक उत्पन्न होते तो उनके पालन पोषण के लिये अन्य समर्थ प्राणियों की अपेक्षा होती। किन्तु अमैथुनी सृष्टि में सर्वप्रथम उत्पन्न होने के कारण उनसे पहले किसी अन्य के होने का प्रश्न ही नहीं उठता। दस मास माता के गर्भ में संवर्धित होकर जन्म लेने के बाद भी मानवशिशु इतना असहाय होता है कि वह स्वतः अपना पालन पोषण एवं संरक्षण करने में असमर्थ होता है। यह समस्या अन्य प्राणियों के लिये भी बहुत कुछ ऐसी ही है। यदि वृद्धावस्था में प्राणी का जन्म हो तो वह आगे मैथुनी सृष्टि में सजातीय प्रजनन में असमर्थ होगा। अतः आदि सृष्टि में प्राणी का प्रादुर्भाव देह की ऐसी स्थिति में संभव है जब वह अपने पोषण–संरक्षण के लिये परापेक्षी न हो तथा मैथुनी सृष्टि के नियमानुसार साजात्यप्रजनन में समर्थ हो। जहां तक मानव की उत्पत्ति का संबन्ध है यह अवस्था २०-२२ वर्ष की आयु के आस पास के समान होनी चाहिये। आज के वैज्ञानिक भी ऐसा ही मानते हैं। बोस्टन नगर के स्मिथसोनियन इंस्टीट्यूट के जीवविज्ञान विभाग के अध्यक्ष डा० क्लार्क के अनुसार पहले मनुष्य का प्रादुर्भाव ऐसी स्थिति में हुआ जब "Man appeared able to think, walk and defend himself" वह चल सकता था, सोच सकता था और अपनी रक्षा कर सकता था ॥९६॥

सब मनुष्य एक ही माता-पिता की संतान नहीं हैं क्योंकि—

सृष्ट्यादावनेकमानवोत्पत्तिः ॥९७॥

सृष्टि के आरम्भ में अनेक मनुष्य उत्पन्न हुए।

जिन जीवों के कर्म ऐश्वरी अमैथुनी सृष्टि में उत्पन्न होने के थे वे सभी सृष्टि के आदि में हुए। सृष्टि में देखने से भी यह निश्चय होता है कि मनुष्य अनेक मां बाप की सतान हैं। अन्य प्रणियों के सम्बन्ध में भी यही नियम है। मुण्डकोपनिषद् (२-१-७) में पाठ है—"तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्याः मनुष्या पशवो वयांसि।" अर्थात् परमात्मा ने बहुत से देव, ज्ञानी, साध्य, मनुष्य तथा पशु-पक्षी उत्पन्न किये। यजुर्वेद (३१-६,८,९) में भी इसी प्रकार का उल्लेख है। यहां सभी के साथ बहुवचन का प्रयोग होने से स्पष्ट है कि सभी प्राणियों के अनेक जोड़े सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न हुए। इसी कारण सृष्टि में इतना

वैंविध्य दीख पड़ता है। उपनिषद् के उपर्युक्त संदर्भ में पशु-पक्षियों के अतिरिक्त तीन कोटि के उच्च जीव अभिप्रेत हैं। जो पिछले जन्म में साधना कर चुकने के कारण दिव्य गुणों को पाकर उत्पन्न हुए वे 'देव' कहाये। जिन्होंने साधना द्वारा इस जन्म में दिव्य गुण प्राप्त किये वे 'साध्य' तथा जो साधारण गुणों वाले हैं वे 'मनुष्य' कहाये। ये मनुष्यों की ही तीन श्रेणियां हैं। निश्चय ही इनमें से प्रत्येक की पर्याप्त संख्या रही होगी ॥९७॥

वर्त्तमान सृष्टि का आदि भी है और एक दिन अन्त भी होगा क्योंकि—

नानादित्वं संयुक्तस्य ॥९८॥

संयोग से उत्पन्न होने वाला अनादि नहीं होता।

जो संयोग से बनता है, वह संयोग से पूर्व नहीं होता और वियोग के पश्चात् नहीं रहता। अतः जो संयोगज है वह अनादि और अनन्त नहीं हो सकता। संसार में पदार्थों का बनते बिगड़ते रहना प्रत्यक्ष हैं। कठोर से कठोर पाषाण, हीरा या फ़ौलाद को तोड़ने, गलाने या भस्म कर देखने से स्पष्ट हो जायेगा कि ये सब परमाणुओं के संयोग से बने हैं। जो संयुक्त हैं वे समय पाकर पृथक् २ भी अवश्य होंगे। जिन पृथ्वी आदि पदार्थों की रचना संयोग विशेष से हुई है वे अनादि कभी नहीं हो सकते और जो अनादि नहीं वे अनन्त भी नहीं हो सकते। अतः संयोगजन्य होने से इस सृष्टि का कभी न कभी बनना निश्चित है और समय आने पर इसका विनाश भी अवश्यम्भावी है ॥९८॥

किन्तु जैसे वर्त्तमान संसार सदा बना नहीं रह सकता वैसे ही सदा के लिये इसका उच्छेद भी नहीं हो सकता। सृष्टि का प्रवाह निरन्तर बना रहता है। क्योंकि—

सृष्ट्युत्पत्तिस्थितिसंहाराः प्रवाहेणानादयः ॥९९॥

सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय प्रवाह से अनादि हैं।

प्रकृति का विकार होने से संसार परिणामी है। इस कारण यह बनता भी है और बिगड़ता भी है। इस रूप में इसकी दो स्थितियां हैं—सर्ग और प्रलय। ये एक दूसरे के अनन्तर आवर्त्तमान रहती हैं। सत् से असत् और असत् से सत् नहीं होता। संसार का अस्तित्व प्रत्यक्ष है—वह सत् है तो 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' के सिद्धान्तानुसार वह पहले भी रहा होगा और आगे भी रहेगा। परन्तु उसका सदा अपने वर्त्तमान रूप में बना रहना आवश्यक नहीं। इस प्रकार सृष्टि प्रवाह से अनादि और अनन्त है। संसार का अत्यन्त उच्छेद हो जाय तो ईश्वर में सृष्टिकर्तृत्व आदि गुणों का अभाव हो जाये। इस प्रकार जैसे जगत् के तीन कारण—ईश्वर, जीव और प्रकृति स्वरूप से अनादि हैं और जैसे इनके अपने २ गुण-कर्म-स्वभाव (ईश्वर का सृष्टिकर्तृत्वादि, जीव का कर्म

फलभोक्तृत्वादि) अनादि हैं वैसे ही सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय प्रवाह से अनादि हैं ॥९९॥

सृष्टि और प्रलय के क्रम को एक उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं—

दिनक्षपयोराद्यन्ताविव प्रारम्भावसानौ सृष्टेः ॥१००॥

दिन और रात के आदि और अन्त के समान (सृष्टि का) प्रारम्भ और अन्त (सर्ग और प्रलय) होते हैं।

प्रत्येक दिन और रात्रि का आदि और अन्त देखने में आता है। किन्तु दिन के पूर्व रात और रात के पूर्व दिन तथा दिन के पीछे रात और रात के पीछे दिन निरन्तर चले आते हैं। इस क्रम का न तो आदि है और न अन्त। इसी प्रकार प्रत्येक सृष्टि और प्रलय का अन्त तो होता रहता है किन्तु सृष्टि के पूर्व प्रलय और प्रलय के पूर्व सृष्टि तथा सृष्टि के बाद प्रलय और प्रलय के बाद सृष्टि का चक्र अनवरत चला आता है। इस क्रम का न कभी आदि था और न अन्त होगा।

जैसे ईश्वर के गुण-कर्म-स्वभाव का कभी आरम्भ और अन्त नहीं वैसे ही उसके सृष्टिकर्तृत्वादि कर्त्तव्य-कर्मों का भी आरम्भ और अन्त नहीं ॥१००॥

जब-जब नई सृष्टि बनती है तब क्या उसमें कुछ विलक्षणता होती है—इसका समाधान करते हैं—

समानैव सृष्टिः प्रतिकल्पम् ॥१०१॥

प्रत्येक कल्प में एक जैसी सृष्टि होती है।

जैसी सृष्टि अब है वैसी ही पहले होती थी और वैसी ही आगे होगी। जो अल्पज्ञ है और इस कारण जिसके ज्ञान में न्यूनाधिक्य होता रहता है उसी के काम में भूल चूक होने से उसे उसमें संशोधन-परिवर्धन करना पड़ता है। परमेश्वर के निर्भ्रान्त तथा पूर्ण होने से उसके सभी कार्य पूर्ण तथा निर्दोष होते हैं। अतः वे सदा एक जैसे होते हैं।

ऋग्वेद (१०-१९०-३) में स्पष्ट लिखा है—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः॥

परमेश्वर ने जैसे सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, विद्युत्, अन्तरिक्ष आदि पूर्व कल्प में बनाये थे वैसे ही अब बनाये हैं और आगे भी बनायेगा। यजुर्वेद (४०-८) में भी ईश्वर द्वारा सृष्टि रचना के सन्दर्भ में कहा है कि वह 'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्' सब पदार्थों का ठीक-ठीक विधान करता है ॥१०१॥

अब कुछ ग्रहोपग्रहों की गत्यादि का विवरण देते हैं—

स्वस्वकक्षायां परिभ्रमन्ति लोकाः ॥१०२॥

सब लोक लोकान्तर अपनी-अपनी कक्षा में घूमते हैं ॥१०२॥

सूर्यं परितो भूमिः ॥१०३॥

पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूमती है ॥१०३॥

भूमिं परितश्चन्द्रलोकः ॥१०४॥

चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर घूमता है ॥१०४॥

सत्येनोत्तभिताः भूम्यादयः ॥१०५॥

पृथिव्यादि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को ईश्वर ने धारण कर रक्खा है।

वेदादि ग्रन्थों में अनेकत्र और अनेक प्रकार से पृथिव्यादि लोकों के धारक के रूप में परमेश्वर का उल्लेख है। 'स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्' (यजु. १३-४) 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वःस्तभितं येन नाकः' (यजु. ३२-६) 'उक्षा स द्यावापृथिवीं बिभर्ति' (ऋग्. १०-३१-८) 'अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्याम्' (अथर्व ४-११-१) जैसे अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं। यहाँ 'उक्षा' और 'अनड्वान्' पदों को देखकर मूर्खों ने बैल के कन्धों पर पृथिवी को बिठा दिया। वस्तुतः वर्षा द्वारा भूगोल का सेचन करने से यहां 'उक्षा' पद सूर्य का पर्याय है। सूर्य ने अपने आकर्षण से पृथिवी को धारण किया है और सूर्य को धारण करने वाला परमेश्वर है। इसी प्रकार 'शेषाधारा पृथिवी' में 'शेष' पद शेषनाग सर्प का वाचक न होकर ईश्वर का वाचक है। प्रलय काल में जब सब नष्ट (नाशं कारणलयः) हो जाता है तब भी बचे रह जाने से परमेश्वर ही 'शेष' कहाता है ॥१०५॥

क्या सूर्यादि नक्षत्रों में भी सृष्टि है ?

सूर्यचन्द्रादिष्वपि प्रजासद्भावः वसुत्त्वात्तेषाम् ॥१०६॥

सूर्य, चन्द्रमा आदि में भी प्राणी रहते हैं, उनके वसु होने से।

निवास करने के स्थान को 'वसु' कहते हैं। सूर्य, चन्द्रमा आदि 'वसु' हैं। अतः वहां मनुष्यादि की सृष्टि अवश्य होनी चाहिये ॥१०६॥

तो क्या वहां भी हमारे जैसे प्राणी होंगे ?—

आकृतिषु भेदः सम्भाव्यः ॥१०७॥

आकृति में भेद होना सम्भव है।

जैसे इस पृथिवी पर ही दूरस्थ देशों के मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के रूप

रंग में भेद पाया जाता है वैसे ही अन्य ग्रहोपग्रहों के प्राणियों के आकारादि की रचना भी भिन्न हो सकती है। परन्तु जिस जाति की जैसी सृष्टि इस लोक में है वैसी ही अन्य लोकों में भी होगी ॥१०७॥

विरोध का लक्षण कथन करते हैं—

एकस्मिन्नेव विषये भूयसां मिथोऽन्यथा कथनं विरोधः ॥१०८॥

एक ही विषय में अनेकों के परस्पर अन्यथा कथन को विरोध कहते हैं।

विभिन्न व्यक्तियों द्वारा भिन्न-भिन्न विषयों में कही हुई बातों को परस्पर विरोधी नहीं कहा जा सकता। यदि एक विषय के भिन्न-भिन्न अंगों को लेकर अनेक व्यक्ति उन पर चिन्तन करें तो वे एक-दूसरे के पूरक होंगे, विरोधी नहीं ॥१०८॥

इस आधार पर—

षड्दर्शनेषु मिथोऽविरोधः सृष्टिविद्यायाः पृथग्भूतावयवानां पृथक् पृथक् शास्त्रेषु प्रतिपादनात् ॥१०९॥

छह दर्शनों (सांख्य, वैशेषिक, योग, न्याय, वेदान्त व मीमांसा) में परस्पर विरोध नहीं है, क्योंकि सृष्टि विषयक भिन्न-भिन्न विषयों में से एक-एक विषय का एक एक दर्शन में प्रतिपादन किया गया है। प्रत्येक ने अपने-अपने विषय में अपनी-अपनी बात कही है। 'सांख्य' दर्शन में प्रकृति और पुरुष के विवेकपूर्वक जड़ और चेतन तत्त्वों का विवेचन किया है। 'वैशेषिक' में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य विशेष, समवाय और अभाव—इन पदार्थों का विचार प्रस्तुत किया है। 'योग' में अष्टाङ्गों के अनुष्ठान द्वारा सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभूति के सोपान तक पहुंचने की विधि वर्णित है। 'न्याय' में प्रमाण और प्रमेय के विवेचन द्वारा प्रमाण-मीमांसा और आत्मा, परमात्मा तथा प्रकृति की मीमांसा की गई है। 'मीमांसा' में ब्राह्मण ग्रन्थों पर आधारित वेदोक्त धर्म का विवेचन हुआ है। 'वेदान्त' अद्वितीय ब्रह्म का तार्किक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इस प्रकार इन दार्शनिक विचारकों ने अपनी-अपनी बात कही है। एक-दूसरे का खण्डन कहीं नहीं किया ॥१०९॥

इन दर्शनों में परस्पर विरोध न होने में एक अन्य युक्ति देते हैं—

श्रुतिप्रामाण्याच्च सर्वत्र ॥११०॥

सर्वत्र वेद का प्रामाण्य होने से।

वेद स्वतः प्रमाण हैं और वेदों का प्रामाण्य सभी दर्शनों को मान्य है। अतः सबके वेदमूलक होने से उनके परस्पर विरोधी होने का प्रश्न ही नहीं उठता ॥११०॥

इस पर शंका करते हुए कपिलाचार्य के नास्तिक होने में प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है—

ईश्वरासिद्धेः इत्यादिभिः कपिलस्यानीश्वरवादित्वमारोपितम् ॥१११॥

'ईश्वरासिद्धेः' इत्यादि सूत्रों से कपिल मुनि का अनीश्वरवादी होना कहा जाता है।

निर्विवाद रूप से महर्षि कपिल सांख्य के प्रवक्ता थे। उनके अनन्तर सांख्य परम्परा में अनेक विद्वान् हुए। उनमें से कुछ ने कपिल से अपना मतभेद भी व्यक्त किया है। उनमें मुख्य थे आचार्य वार्षगण्य। वह प्रकृति की प्रवृत्ति में चेतन प्रेरणा की अपेक्षा नहीं मानते। उनकी यह मान्यता जगत् से ईश्वर के नियन्त्रण को हटा देती है। भारतीय साहित्य पर सांख्य के प्रभाव का लाभ उठाने की भावना से अनीश्वरवादी बौद्धों ने सांख्य के नाम पर वार्षगण्य की इस मान्यता का प्रचार किया। कालान्तर में सांख्य के साथ सम्बद्ध होने के कारण यह मान्यता कपिल पर आरोपित हो गई। इसी मान्यता के कारण सांख्य के 'ईश्वरासिद्धेः' (१-५७) इस सूत्र का अनर्थ करके कपिल को अनीश्वरवादी मान लिया गया।

इस सूत्र का वास्तविक अभिप्राय अगले सूत्र द्वारा स्पष्ट किया है—

नेश्वरस्योत्पादनकारणत्वेन प्रत्यक्षत्वम् ॥११२॥

सृष्टि के उपादान कारण के रूप में ईश्वर का प्रत्यक्ष नहीं है, यही अर्थ है (ईश्वरासिद्धेः का)। पूर्वापर सन्दर्भ को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत सूत्र में, प्रकृति के अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व के जगत् का उपादान न होने के कारण, जगत् के उपादानभूत ईश्वर को असिद्ध बताया गया है। सर्वजगन्नियन्ता ईश्वर का निषेध नहीं किया गया ॥११२॥

इस पक्ष के समर्थन में सांख्य में ही स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं। वहीं कहा है —

स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता ॥११३॥

वह (ईश्वर) सर्वान्तर्यामी तथा सर्वस्रष्टा है।

सांख्य (३-५६) के अन्तर्गत इस सूत्र के अनुसार सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों तक में व्याप्त होकर समस्त जगत् की रचना करके उसका नियन्त्रण करने वाला परमेश्वर है। जगत् के उपादानभूत ईश्वर में विश्वास न करके उसके निमित्त कारण के रूप में जगत् के नियन्ता एवं अधिष्ठाता ईश्वर के अस्तित्व को कपिल आचार्य स्वीकार करते हुए कहते हैं—

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ॥११४॥

इस प्रकार के (जगत् के निमित्त कारण के रूप में) ईश्वर की सिद्धि निश्चित है ॥११४॥

सप्तम अध्याय

तीन अनादि

सदकारणवन्नित्यम् ॥१॥

कारण रहित भावरूप पदार्थ नित्य है ।

जो वस्तु विद्यमान है किन्तु अपनी सत्ता के लिए किसी दूसरे कारण की अपेक्षा नहीं रखती वह नित्य कहाती है । जो पदार्थ उत्पत्तिरहित, निरवयव तथा त्रिकालवर्ती हो वही नित्य होता है । लोकलोकान्तर में जितने पदार्थ दृष्टि-गोचर होते हैं वे विद्यमान तो हैं किन्तु सभी किसी का परिणाम हैं अर्थात् कभी न कभी, कहीं न नहीं, और किसी न किसी कारण से उत्पन्न हैं । जो वस्तु अपने अवयवों से मिलकर बनती है वह सावयव होने से विकारी एवं अनित्य होगी । इसलिए जिस भावरूप पदार्थ का कोई कारण नहीं, वही नित्य कहाता है ॥१॥

ऐसे नित्य पदार्थों का उल्लेख अगले सूत्र में किया है—

ईश्वरो जीवः प्रकृतिश्चैतत्त्रयमनादि स्वरूपतः ॥२॥

ईश्वर, जीव और प्रकृति–ये तीन तत्त्व स्वरूप से अनादि हैं ।

जो अनादि-अनुत्पन्न है वह अनिवार्यतः अनन्त भी है । और जो अनादि एवं अनन्त है वही नित्य है । नित्य होने से उसका कोई कारण नहीं होता ॥२॥

तीन का होना क्यों आवश्यक है–इसका विवेचन अगले सूत्र में किया गया है—

एकस्मिन्नसम्भवात् ॥३॥

एक में सम्भव न होने से ।

किसी भी कार्य के लिए तीन का होना आवश्यक है । 'भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' के अनुसार यह संसार भोग और अपवर्ग का साधन है । यदि भोग्य है तो उस का भोक्ता होना आवश्यक है । भोग्य और भोक्ता के होने पर भोग्य को प्रस्तुत करने तथा दोनों का नियमन करने वाला भी कोई अवश्य होना चाहिये । इस प्रकार ईश्वर की प्रेरणा से प्रकृति का परिणामरूप जगत्सर्ग जीवात्मा के भोग के लिए होता है । ऋग्वेद की एक ऋचा (१-१६४-२०) में इन तीनों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

चैतन्यादि गुणों में सदृश, व्याप्य-व्यापक भाव से संयुक्त, परस्पर सहयोगी दो सत्तायें, अनादि मूलरूप कारण और शाखा रूप कार्य वृक्ष अर्थात् प्रकृति से सम्बन्धित हैं। इनमें से एक अर्थात् जीव इस वृक्ष रूप संसार में पाप-पुण्य रूप फलों को अच्छी तरह भोगता है और दूसरा परमात्मा 'क्लेशकर्मविकाशयैरपरामृष्ट' होने से फलों को न भोगता हुआ सब ओर प्रकाशित हो रहा है।

परमात्मा प्रकृति का केवल नियन्ता और जीवात्मा उसका भोक्ता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् (१-१२) में यही बात 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च' कहकर स्पष्ट की गई है। ईश्वर के पूर्ण होने से सृष्टि में उपलब्ध पदार्थों का उपभोग करने के लिए उससे भिन्न कोई सत्ता अवश्य होनी चाहिये। अन्यथा सृष्टि रचना निष्प्रयोजन होगी। ईश्वर तो क्या, कोई सामान्य पुरुष भी विना प्रयोजन के किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता—'न हि प्रयोजनमनभिसन्धाय प्रेक्षावन्तः प्रवर्त्तन्ते'। खाने वाला कोई न हो तो कौन भोजन बनाने वैठेगा ? इस भोक्ता की संज्ञा 'जीव' है। चेतन तत्त्व किसी पदार्थ का उपादान कारण नहीं हो सकता। वह केवल उसका कर्त्ता, नियन्ता अथवा भोक्ता हो सकता है। उपादान कारण केवल जड़ हो सकता है। वही 'प्रकृति' है। कर्त्ता के विना क्रिया का होना असम्भव है। अचेतन तत्त्व स्वयं कार्यरूप में परिणत नहीं हो सकता। उसे गति देने तथा नियन्त्रित करने के लिए किसी सर्वज्ञ, सर्वव्यापक तथा सर्वशक्तिमान् पुरुष विशेष का होना नितान्त आवश्यक है। वही 'ईश्वर' कहाता है। इसी प्रकार ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान; पालक, पालित, पालनसाधन; अध्यापक, अध्येता, अध्ययन, व्याख्याता, व्याख्यान, श्रोता; क्रेता, विक्रेता, क्रययोग्य वस्तु आदि जब तक तीन तीन न हों तब तक सांसारिक व्यापार सम्भव नहीं। इस प्रकार सच्चिदानन्दस्वरूप ईश्वर से सच्चित्स्वरूप जीव तथा सत्स्वरूपा प्रकृति, जीव से ईश्वर तथा प्रकृति और प्रकृति से ईश्वर तथा जीव, सर्वथा भिन्न तथा अनाद्यनन्त होने से नित्य हैं।

नासदीय सूक्त (ऋ. १०-१२९) में सत् असत् आदि के निषेध-विशेषतः दूसरे मन्त्र के अन्तर्गत 'तस्माद्धान्यन्नपरः किं चनास' शब्दों से यह प्रतीत होता है कि यह सारा जगत् मात्र ईश्वर से उत्पन्न हुआ है क्योंकि सृष्टि से पूर्व और कुछ था ही नहीं। वस्तुतः यह विचारधारा शास्त्र के मर्म को न समझने के कारण उत्पन्न हुई है। इस सारे सूक्त में जगत् की उत्पत्ति में प्रधान कारणों में से परब्रह्मरूप निमित्त कारण की प्रधानता दर्शाई गई है। यह प्रधानता इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र में आये 'इयं विसृष्टिर्यत आबभूव' शब्दों से स्पष्ट है। मीमांसादर्शन (१-४-१२) के 'प्रशंसा' सूत्र में 'अयज्ञो वा एष असामा' 'अपशवो वा अन्ये गोऽश्वेभ्यः, पशवो गोऽश्वाः' आदि वाक्यों पर विचार करते हुए स्पष्ट कर दिया गया है कि विधेय सामयुक्त यज्ञ की प्रशंसा के लिए सामरहित यज्ञ की निन्दा—हीनता दर्शाई है। इसी प्रकार प्रकृत सूक्त में 'नासदासीन्नोसदासीत्'

इत्यादि में सत् असत् के अभाव का निर्देश परब्रह्म की जगद् उत्पादक शक्ति की प्रशंसा का प्रधानत्व द्योतन के लिये है, न कि सत् प्रकृति एवं अन्य अर्थ आदि के सर्वथा निषेध के लिये। मीमांसकों का न्याय है—'न हि निन्दा निन्दितुं प्रवर्त्तते-ऽपितु विधेयं स्तोतुम्'। इसी प्रकार यहां भी समझें—'न हि सदादिप्रतिषेधस्तान् प्रतिषेद्धुं प्रवृत्तः अपितु परब्रह्म प्रशंसयितुम्, तस्य प्रधानत्वं द्योतयितुं वा।'

सृष्टि की रचना में ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों कारण हैं। इनमें से किसी एक के न होने पर जगत्सर्ग सम्भव न होगा। इस सन्दर्भ में तीसरे मन्त्र के अन्तर्गत 'तपसस्तन्महिना जायतैकम्' शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। यदि ईश्वर न होता तो तपस् का प्रेरक कौन होता? तपस् के अभाव में प्रकृति अव्यक्त ही रहती। यदि प्रकृति न होती तो तपस् की क्रिया कहां होती? और यदि जीव न होता तो सृष्टि की रचना के निमित्त तपस् की क्रिया किसके लिए होती? ऋग्वेद में अन्यत्र (१०-१२१-१) 'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे' इत्यादि मन्त्र में आया 'हिरण्यगर्भ' शब्द बड़ा अर्थपूर्ण है। यह समस्त पद ईश्वर और प्रकृति दोनों के लिये संयुक्त शब्द है जिसका स्पष्ट अर्थ है कि 'हिरण्य (प्रकृति) को अपने गर्भ में धारण करने वाला ईश्वर पहले से विद्यमान था'। हां, व्यवहार न होने से, सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व प्रकृति अव्यक्त दशा में थी। इससे प्रकृति का निषेध न होकर उसका और ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित होता है ॥३॥

अब जीव के ईश्वर से भिन्न होने का प्रतिपादन करते हैं—

नित्यौ मिथो भिन्नौ ब्रह्मजीवौ ॥४॥

ब्रह्म तथा जीव दोनों नित्य तथा एक दूसरे से भिन्न हैं।

जीव एकदेशी तथा अल्पज्ञ और ब्रह्म सर्वव्यापक-सर्वज्ञ है। ब्रह्म नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव है और जीव शुद्ध चेतन-अपरिणामी रहता हुआ भी कभी बद्ध और कभी मुक्त रहता है। ब्रह्म के सर्वज्ञ-सर्वव्यापक होने से उसे भ्रम या अविद्या नहीं होती जबकि जीव कभी ज्ञानी तथा कभी अविद्याग्रस्त होता है। जीव कर्मफल भोगने के लिए बार-बार शरीर धारण करता है जबकि ब्रह्म जन्म-मरण के बन्धन में न आकर क्षुधा-तृषा-रोग-भय आदि से सदा मुक्त रहता है। इस प्रकार जीव और ब्रह्म स्वरूप और वैधर्म्य से सदा एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं ॥४॥

जीव और ब्रह्म के भिन्न होने में हेतु प्रस्तुत करते हैं—

सर्वज्ञत्वादेः ॥५॥

सर्वज्ञत्वादि गुणों के कारण।

परमात्मा सर्वज्ञ है तो कुछ ज्ञेय भी होगा ही। 'सर्व' न हो तो सर्वज्ञ कैसा? बिना व्याप्य के व्यापक, बिना उपासक के उपास्य, बिना प्रजा के प्रजापति,

बिना स्व के स्वामी आदि की कल्पना कैसे हो सकती है ? फिर, सर्वज्ञत्व आदि सापेक्ष गुण हैं। यदि कोई सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् तथा अनन्त है तो उससे भिन्न (क्योंकि परस्पर विरोधी गुण एकत्र नहीं रह सकते) कोई अल्पज्ञ, एकदेशी तथा अल्पशक्ति होना चाहिये। यदि वह सबसे बड़ा होने से 'ब्रह्म' है तो कोई उससे छोटा भी होना चाहिये। इस प्रकार ब्रह्म से भिन्न जीव तथा जगत् का होना स्वतः सिद्ध है ॥५॥

इसी विषय में अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

विधिनिषेधाभ्याञ्च ॥६॥

विधि-निषेध के कारण भी।

शास्त्रों में अनेकत्र विहित कर्मों के अनुष्ठान तथा निषिद्ध कर्मों के परित्याग का निर्देश किया गया है। 'सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमद, त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृधः, ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत्' आदि शब्दों का लक्ष्य क्या ब्रह्म हो सकता है ? क्या सर्वज्ञ ब्रह्म को 'किं कर्म किमकर्म' का निर्देश करना आवश्यक है ? क्या ब्रह्म जुआ खेलने बैठेगा जो उसे 'अक्षैर्मादीव्यः' का उपदेश दिया जाये ? ब्रह्म का अपने आप से 'मृत्योर्माऽमृतं गमय' की प्रार्थना करना क्या उपहासास्पद नहीं होगा ? स्पष्ट है इस प्रकार के विधिनिषेधात्मक वाक्य नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव ब्रह्म को लक्ष्य करके नहीं कहे जा सकते। निश्चय ही यह सब अल्पज्ञ जीव के लिये है जो ब्रह्म से सर्वथा भिन्न है ॥६॥

भिन्न प्रतीत होते हुए भी जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मात्र है—इसका खण्डन करते हुए कहा है—

न हि जीवो ब्रह्मणः प्रतिबिम्बं निराकारत्वात्तस्य ॥७॥

ब्रह्म के निराकार होने से जीव उसका प्रतिबिम्ब नहीं है।

प्रतिबिम्ब साकार का साकार में होता है। दर्पण और मुख दोनों आकार वाले हैं। इसलिये साकार दर्पण में साकार मुख का प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है। ब्रह्म आकार रहित है। अतः उसका प्रतिबिम्ब कभी नहीं हो सकता ॥७॥

स्वच्छ जल में निराकार आकाश का आभास होता है—इस भ्रान्ति का निवारण करते हुए कहते हैं—

न खलु निराकारस्य विभोर्नभसः प्रतिबिम्बम् ॥८॥

निश्चय ही निराकार तथा सर्वव्यापक आकाश का प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता।

सर्वव्यापक होने से आकाश निराकार है। इसलिये जल में उसके प्रतिबिम्ब

का प्रश्न ही नहीं उठता। फिर निराकार होने से आकाश दृश्य भी नहीं। इसलिये वह आंख से देखा भी नहीं जा सकता ॥८॥

जो नीला-नीला चन्दोआ सा ऊपर दिखाई देता है वह आकाश नहीं है। तो फिर वह क्या है—इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

पृथिव्यप्तेजसां त्रसरेणुमात्रमाकाशाख्यं नीलम् ॥९॥

पृथ्वी, जल और अग्नि के त्रसरेणु ही आकाश नाम से जाने जाते हैं।

सामान्य जन जिसे आकाश समझते हैं वह वास्तव में आकाश न होकर दूर तक फैले पृथ्वी, जल और अग्नि के त्रसरेणुओं का संघात मात्र है। जल में उसी की छाया पड़ती है, आकाश की नहीं ॥९॥

ब्रह्म का प्रतिविम्व न होने में एक और युक्ति देते हैं—

प्रतिबिम्बाधिष्ठानं पृथगेव ॥१०॥

प्रतिविम्ब का अधिष्ठान उससे भिन्न होता है।

अध्यस्त से अधिष्ठान सदा भिन्न होता है। यदि दो पदार्थों में दूरी न हो अर्थात् एक दूसरे से पृथक् न हों तो भी एक का दूसरे में प्रतिविम्ब नहीं पड़ सकता। जीव और ब्रह्म को एक मानने पर प्रतिविंबित पदार्थ ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं रहता। अतः अधिष्ठान के अभाव में प्रतिबिम्ब न हो सकने से ब्रह्म का प्रतिविम्वित होना सम्भव नहीं है ॥१०॥

वादी के प्रतिविम्व विषयक एक अन्य दृष्टान्त को सूचित किया है—

अन्तःकरणेषु चिदाभासाख्यो जीवो ब्रह्मणः आभासः जलकुण्डेषु मार्त्तण्डबिम्बस्येव ॥११॥

अन्तःकरणों में चिदाभास संज्ञक जीव ब्रह्म का आभास है, जलकुंडों में सूर्य के विम्व के समान।

सूर्य एक है। किन्तु जल से भरे सहस्र कुण्डों में उसका प्रतिविम्ब पड़ने पर सहस्र सूर्य दीख पड़ते हैं। कुण्डों के नष्ट हो जाने, जल के फैल जाने अथवा तरंगित होने पर भी सूर्य का कुछ नहीं विगड़ता। वैसे ही अन्तःकरणों में ब्रह्म का आभास होता है जिसे चिदाभास कहते हैं। जब तक अन्तःकरण हैं तभी तक जीव की प्रतीति है। ज्ञान द्वारा अन्तःकरण के नष्ट हो जाने पर वह ब्रह्म स्वरूप है ॥११॥

उक्त दृष्टान्त से सम्बन्धित तर्क का खण्डन करते हैं—

आभासो देशांतर एव स्वदेशे साक्षात् सत्त्वात् ॥१२॥

आभास देशान्तर में होता है, स्वस्थान में साक्षात् होने से।

जो पदार्थ जहाँ स्वयं उपस्थित है वहां उसका आभास नहीं हो सकता। आभास के लिए दूरी अपेक्षित है। 'ज्यों आँखन सब देखिहैं आंख न देखी जाय' आंख में दूरस्थ पदार्थों की छाया पड़ती है किन्तु अपनी नहीं क्योंकि वहां आंख स्वयं विद्यमान है। यदि आँख को देखना ही हो तो देशान्तर अर्थात् दर्पण अथवा जल में देखा जा सकता है। वृक्षादि का प्रतिविम्ब भी अपने से दूर जल में पड़ता है। इसी प्रकार—

सर्वव्यापित्वान्न तदाभासः ॥१३॥

सर्वव्यापक होने से उसका (ब्रह्म का) आभास नहीं हो सकता।

सूर्य जलकुण्डों से और जलकुण्ड सूर्य से दूर हैं। जहां एक है वहां दूसरा नहीं। अतः सूर्य का अपने से दूर देशान्तर में स्थित कुण्डों में आभास सम्भव है। परन्तु पूर्ण ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है। कोई भी स्थान ऐसा नहीं जहां वह स्वयं न हो। ब्रह्म में अन्तःकरण और अन्तःकरण में ब्रह्म है क्योंकि 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः'। अतः उसके लिए कहीं देशान्तर नहीं। देशान्तर न होने से, जलकुण्डों में सूर्य की भांति, उसका आभास सम्भव नहीं। फिर, सूर्य और जल कुण्ड दोनों आकार वाले है। यदि निराकर होते तो प्रतिबिम्ब कभी न पड़ता, क्योंकि बिना आकार के अभास नहीं होता। परमेश्वर के निराकार होने से उसका कहीं भी प्रतिविम्बित होना असम्भव है ॥१३॥

जैसे महदाकाश वास्तव में एक होने पर भी उपाधि भेद से घटाकाश, मठाकाश आदि के रूप में भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है वैसे ही अन्तकरणों की उपाधि से एक ही ब्रह्म पृथक्-पृथक् जीवों के रूप में प्रतीत होता है—इस शंका का समाधान अगले सूत्र में किया है—

न चान्तःकरणाऽकारं ब्रह्म घटाद्याकाशवत् ॥१४॥

घटाकाश आदि की भांति ब्रह्म अन्तःकरण का आकार धारण नहीं करता।

घटाकाश आदि के महदाकाश से अनन्यत्व का दृष्टान्त ईश्वर के सम्बन्ध में नहीं घट सकता। जैसे घट आदि के निमित्त से आकाश के भाग हो जाते हैं वैसे ब्रह्म के नहीं हो सकते। उपनिषदों में भी जहां आकाश से ब्रह्म की उपमा दी गई है वहां वह विभुत्व के सम्बन्ध में है, न कि उपाधि के प्रसंग में। दूसरी बात यह है कि आकाश जड़ है। घटाकाश को स्वयं यह ज्ञान नहीं कि मैं उपाधि के कारण अब तंग या तंग सा हो गया हूँ। केवल दूसरे लोग ऐसा समझ लेते हैं। परन्तु ब्रह्म तो चेतन तथा सर्वज्ञ है। उसे स्वयं यह अनुभव क्यों नहीं होता कि मैं विभु हूँ और अन्तःकरण के कारण परिच्छिन्न हो गया हूँ। तीसरे, घड़े की दीवारें अपने भीतर के आकाश के किसी गुण को तिरोहित नहीं कर पातीं। फिर अन्तःकरण की उपाधि ब्रह्म के स्वाभाविक गुणों—सर्वज्ञता,

पवित्रता, आनन्द आदि को कैसे तिरोहित कर देती हैं। चौथे, घड़े की दीवारें सच्ची होने पर भी आकाश के गुणों को दबाने में असमर्थ हैं तो अन्तःकरण की मायावी उपाधियां ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को कैसे दबा सकती हैं। जीव के अल्पज्ञ होने से उसका शरीर की सीमाओं से प्रभावित हो जाना तो समझ में आ सकता है किन्तु सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् ब्रह्म की विवशता समझ में नहीं आ सकती। वस्तुतः आकाश भी कभी छिन्न भिन्न नहीं होता। व्यवहार में भी हम 'घड़ा' तो कहते हैं किन्तु 'घड़े का आकाश' नहीं कहते। इसी प्रकार हम 'अन्तःकरण' और 'ब्रह्म' तो कहते हैं। किन्तु 'अन्तःकरण का ब्रह्म' कभी नहीं कहते। यदि घट, मठ, मेघ आदि की उपाधि से आकाश के भिन्न-भिन्न भासित होने की भांति अन्तःकरण भेद से ब्रह्म का भिन्न-भिन्न प्रतीत होना माना जाये तो भी जैसे घट आदि आकाश से और आकाश घट आदि से भिन्न हैं वैसे ही ब्रह्म को अन्तःकरणों से और अन्तःकरणों को ब्रह्म से भिन्न मानना पड़ेगा। इस प्रकार व्याप्य व्यापक सम्बन्ध से भी दो स्वतन्त्र सत्तायें माननी होंगी। जो व्याप्य है वही जीव कहाता है। इस प्रकार अन्तःकरणों में व्यापक होते हुए भी ब्रह्म अन्तःकरणाऽकार न होकर उनसे सर्वथा पृथक् है ॥१४॥

जैसे अग्नि से लोहा गरम हो जाता है वैसे ही सर्वव्यापक ब्रह्म की सत्ता से अन्तःकरण स्वयं जड़ होते हुए भी चेतन हो रहे हैं और इस प्रकार ब्रह्म में जीव की प्रतीति हो रही है। इस शंका का समाधान अगले सूत्र में मिलता है—

नाचेतनान्तःकरणेषु चैतन्यं परमात्मसत्तयातिप्रसक्तेः सर्वज्ञत्वादि गुणानां तत्राभावात् ॥१५॥

जड़ अन्तःकरणों में परमात्मा के व्याप्त होने से चैतन्य नहीं है, सर्वज्ञत्वादि गुणों के न पाये जाने से।

यदि सर्वव्यापी ब्रह्म अन्तःकरणों में प्रकाशमान होकर जीव बना होता तो परमेश्वर के समान प्रत्येक जीव में भी सर्वज्ञत्वादि गुण होते। किन्तु देखने में ऐसा नहीं आता। यदि कहा जाये कि अन्तःकरणों की भिन्नता के कारणों की भिन्नता के कारण सर्वज्ञता नहीं आती तो ब्रह्म भी भिन्न-भिन्न हो जायेगा। अन्तःकरण स्वयं जड़ हैं। उनमें ज्ञान नहीं हो सकता। यदि यह माना जाये कि केवल ब्रह्म को या केवल अन्तःकरण को ज्ञान नहीं होता अपितु अन्तःकरणस्थ चिदाभास को ज्ञान होता है तो भी अन्तःकरण के द्वारा चेतन ही को ज्ञान की प्राप्ति होगी। यदि यह कहा जाये कि आवरण के कारण सर्वज्ञता नहीं रहती तो आवरण के कारण ब्रह्म खण्डित हो जायेगा, क्योंकि आवरण सदा दो के बीच तीसरा होता है। इसलिये जब तक ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरा पदार्थ न माना जाये अथवा ब्रह्म के कम से कम दो भाग न किये जायें तब तक बीच में तीसरे अर्थात् आवरण के आने का प्रश्न ही नहीं उठता ॥१५॥ किन्तु—

अदितिर्ब्रह्म ॥१६॥

ब्रह्म अखण्ड है।

ब्रह्म एक सम्पूर्ण तत्त्व है। उसके सर्वव्यापक होने से कोई ऐसा स्थान नहीं जो उससे रिक्त हो। तब आवरण को स्थान कहाँ मिलेगा ? यदि ब्रह्म जीवरूप में परिणत होगा तो वह सावयव सिद्ध होगा। सावयव पदार्थ स्वयं विकारी होता है। तब वह न नित्य हो सकता है और न सर्वव्यापक। इस प्रकार ब्रह्म का ब्रह्मत्व ही नष्ट हो जायेगा। इसलिये ब्रह्म जीव और जीव ब्रह्म न कभी हुआ है और न होगा ॥१६॥

इस विषय में प्रचलित कतिपय अन्य दृष्टान्तों का उल्लेख कर उनकी समीक्षा करते हैं—

नेश्वरांशः जीवोऽग्नेर्विस्फुलिङ्गवत् ॥१७॥

अग्नि की चिनगारियों के समान जीव ईश्वर का अंश नहीं है।

यदि जीव ईश्वर का अंश होता तो उसमें अंशी के सभी गुण विद्यमान रहते। किन्तु जैसे ईश्वर सर्वज्ञत्वादि गुणों से युक्त है वैसा जीव देखने में नहीं आता। स्वयं शंकराचार्य लिखते हैं–'यथा जीवः संसारदुःखमनुभवति नैवं ईश्वरोऽनुभवति' (शा. भा. २-३-४६) अर्थात् जैसे जीव संसार के दुःख का अनुभव करता है वैसे ईश्वर नहीं करता। तब ईश्वर और जीव में अंशांशिभाव कहां रहा ? अंश सदा अवयवी का होता है। ईश्वर अखण्ड अर्थात् निरवयव है। इसलिये उसके टुकड़े नहीं हो सकते। दूसरी बात यह है कि अग्नि की चिनगारी अंगारे से छिटककर रिक्त स्थान में चली जाती है। परमेश्वर के विभु अर्थात् सर्वव्यापक होने से कोई स्थान उससे रिक्त नहीं। तब वह अंश (चिनगारी) जीव, अंशी ईश्वर से अलग होकर कहाँ जायेगा। हां, अंशतः समान होने से जीव को ईश्वर का अंश या उसकी छाया कह दिया जाये तो और बात है। किन्तु यह अंशत्व अथवा आभासत्व सर्वथा औपचारिक होगा, वास्तविक नहीं। इसलिये स्वामी शंकराचार्य ने भी 'अंश इवांशः'–अंश के समान अंश (शा. भा. २-३-४३) कहा है, वास्तविक अंश नहीं ॥१७॥

न बुद्बुदादिवत् ॥१८॥

बुलबुलों आदि की भांति नहीं।

जल में उठने वाली लहरें और बुलबुले जल में स्वतः उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं। भिन्न प्रतीत होने पर भी वास्तव में वह जल ही हैं। इसी प्रकार पृथक्-पृथक् प्रतीत होने वाले जीव वास्तव में ब्रह्म ही हैं। यह दृष्टान्त भी ठीक नहीं बैठता। यदि केवल जल होता तो लहरें या बुलबुले कभी न उठते। जल का यह विकार उससे भिन्न वायु आदि के कारण है। वायु आदि के प्रभाव से

ही जल में चंचलता आकर वह लहरों या बुलबुलों का रूप धारण करता है। किन्तु ब्रह्म तो 'तदेजति तन्नैजति' (यजु. ४०-५) दूसरों को गति देता है, स्वयं गति नहीं करता। वह 'अनेजत्' (यजु. ४०-४) बिल्कुल नहीं हिलता। हिले कैसे? हिलने के लिये रिक्त स्थान चाहिये। ईश्वर के सर्वव्यापक होने से कोई स्थान उससे खाली नहीं है। कोई वस्तु उस स्थान पर गति नहीं कर सकती जहां वह है और उस स्थान पर भी गति नहीं कर सकती जहां वह नहीं है। गति एक स्थान से (जहां कोई वस्तु है) दूसरे स्थान को (जहां वह वस्तु नहीं है) हो सकती है। यह एकदेशी के लिए सम्भव है, सर्वव्यापक के लिए नहीं। फिर, जिस प्रकार जल को गति देने के लिए वायु आदि आवश्यक है उसी प्रकार ब्रह्म को गति देने के लिए उससे भिन्न कोई दूसरी समर्थ सत्ता का होना आवश्यक है। ऐसी कोई सत्ता है नहीं। और दुर्जनतोषन्याय से यदि ऐसी सत्ता को मान लिया जाये तो इससे अद्वैत न रहकर द्वैत की ही सिद्धि होगी ॥१८॥

समस्त जीवों को एक ब्रह्म ही का रूप नहीं माना जा सकता—

एकदुःखसद्भावे सर्वत्रदुःखाभावात् ॥१९॥

एक के दुःखी होने पर सबके दुःखी न होने से।

यदि भिन्न-भिन्न प्रतीत होने पर भी सब जीव वास्तव में एक ही ब्रह्म हैं तो एक के दुःखी होने पर सबको दुःखी होना चाहिये। एक को भूख-प्यास लगने पर सबको भूख-प्यास से पीड़ित होना चाहिये और एक के भोजन करने पर सबका पेट भर जाना चाहिये। इतना ही नहीं, एक प्राणी के मरने पर ही सबको मर जाना चाहिये। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता। इससे सिद्ध है कि सब अन्तःकरणों में एक ही ब्रह्म जीव रूप में नहीं है अपितु समस्त जीवों की ब्रह्म से भिन्न अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। इसी कारण सब कर्म करने और फल भोगने में एक-दूसरे से पृथक् हैं॥१९॥

एकस्मिन्मुक्ते सर्वत्रमोक्षाभावाच्च ॥२०॥

एक की मुक्ति होने पर सबकी मुक्ति न होने से भी।

अविद्या का नाश ही मोक्ष है। ऐसी दशा में एक की मुक्ति होते ही अविद्या के नाश के कारण सबकी मुक्ति हो जायेगी। सबकी मुक्ति न होने से सिद्ध है कि अविद्या रहेगी। तब एक की भी मुक्ति न हो सकेगी। यदि जीवों में अलग-अलग अविद्या मानी जाये और यह कहा जाये कि जिसकी अविद्या नष्ट हो जायेगी वही मुक्त होगा तो जीव जीव में भेद मानना होगा। इस पर प्रश्न उपस्थित होगा कि यह भेद स्वाभाविक है या अविद्याकल्पित? स्वाभाविक माना जायेगा तो वह कभी नष्ट नहीं होगा और इस प्रकार जीव का नित्यत्व मानना होगा। यदि अविद्याकल्पित माना जायेगा तो प्रश्न होगा कि जीव के

भेद की कल्पना करने वाली अविद्या ब्रह्म की है या जीव की। यदि ब्रह्म की है तो ब्रह्म अविद्या का अधिष्ठान हो गया। यदि जीव की है तो अविद्या जीव के आश्रित हो गई जबकि स्वयं अविद्या की कल्पना ही जीव भेद दर्शन के लिए की गई थी। इससे अन्योन्याश्रय दोष आ जायेगा ॥२०॥

स्वरूपोच्छित्तिलक्षणो मोक्षः ॥२१॥

मोक्ष का लक्षण होगा स्वरूप का नाश।

तत्त्वज्ञान से मोक्ष होता है। जब तत्त्वज्ञान होने पर अविद्या का नाश हो जायेगा तो जीव का नाश होगा या नहीं? यदि नाश नहीं होगा तो जीव को अविद्याजन्य मानने पर भी अविद्या के नाश होने पर जीव का नाश न होने से 'कारणाऽभावात्कार्याभावः' अर्थात् कारण के न रहने पर कार्य भी नहीं रहता, इस सिद्धान्त की हानि होगी। यदि नाश हो जायेगा तो मोक्ष सुख कौन भोगेगा? इस प्रकार मोक्ष का अर्थ होगा—अपने स्वरूप का नाश। ऐसे मोक्ष की कामना करके आत्महत्या करना कौन चाहेगा ॥२१॥

अब अन्तःकरण की उपाधि के योग से ब्रह्म को जीव मानने में आपत्ति प्रस्तुत करते हैं —

अन्तःकरणोपाधियोगाद् ब्रह्मैव जीव इति चेत् सार्वत्रिकं ब्रह्म-दूषणम् ॥२२॥

अन्तःकरण की उपाधि के योग से ब्रह्म को जीव माना जायेगा तो सम्पूर्ण ब्रह्म दूषित हो जायेगा।

यदि ब्रह्म स्वरूप से अचल एवं अखण्ड है और अन्तःकरण परिच्छिन्न अर्थात् एकदेशी होने से चलायमान तथा खण्ड-खण्ड है तो जैसे छाता जहाँ-जहाँ जाता है वहां-वहां आवरण होने से छाया और जहाँ-जहां से हटता जाता है वहाँ-वहाँ आवरण हट जाने से धूप होती रहती है वैसे ही जहाँ-जहाँ अन्तःकरण जायेगा वहां-वहां ब्रह्म अज्ञानी और जिस-जिस देश को छोड़ता जायेगा वहां-वहां का ज्ञानी होता रहेगा। इस प्रकार सर्वव्यापक ब्रह्म को अन्तःकरण निरन्तर बिगाड़ते रहेंगे। अन्तःकरण की उपाधि के योग से ब्रह्म को जीव मानने पर नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव ब्रह्म दूषित हुए बिना न रहेगा ॥२२॥

इस विषय में दूसरी आपत्ति प्रस्तुत करते हैं—

प्रतिक्षणञ्च बन्धमोक्षौ ॥२३॥

प्रतिक्षण बन्ध और मोक्ष होंगे।

'ज्ञानान्मुक्तिः' (सांख्य ३-२३) तथा 'बन्धो विपर्ययात्' (सा. ३-२४) के अनुसार ज्ञान से मुक्ति और अज्ञान से बन्ध होता है। जब अन्तःकरणोपाधि के

कारण अपने स्वरूप को भूलकर ब्रह्म कभी ज्ञानी और कभी अज्ञानी होगा तो जहां-जहां का ब्रह्म ज्ञानी होता जायेगा वहां-वहां का मुक्त और जहां-जहां का अज्ञानी होता रहेगा वहां-वहां का बद्ध होता जायेगा। इस प्रकार क्षण-क्षण में ब्रह्म के ज्ञानी-अज्ञानी होते रहने से बन्ध और मोक्ष भी क्षणभंगुर तथा एकदेशी हुआ करेगा, और एक ही ब्रह्म में बन्ध और मोक्ष युगपत् होते रहेंगे, जो सर्वथा असम्भव है ॥२३॥

एक अन्य आपत्ति प्रस्तुत करते हैं—

न प्रत्यभिज्ञानम् ॥२४॥

न प्रत्यभिज्ञा होगी।

यदि अन्तःकरण की उपाधि के कारण ब्रह्म की स्थिति बदलती रहेगी, तो प्रत्यभिज्ञा अर्थात् पूर्वदृष्टश्रुत का ज्ञान किसी को न होगा। 'क्योंकि 'अन्यदृष्ट-मन्यो न स्मरति' के न्याय के अनुसार अन्य के देखे-सुने का अन्य को स्मरण नहीं होता। देश काल के अनुसार द्रष्टा बदलता रहेगा। जिस चिदाभास ने कल मथुरा में देखा-सुना था वह चिदाभास आज काशी में नहीं रहा और कल दिल्ली में नहीं रहेगा, क्योंकि जो मथुरास्थ अन्तःकरण का प्रकाशक था, वह काशीस्थ ब्रह्म नहीं है और जो काशीस्थ अन्तःकरण का प्रकाशक है वह दिल्ली का ब्रह्म नहीं होगा। यदि यह माना जाये कि ब्रह्म तो सर्वत्र एक है इसलिये उसे स्मरण रहता है, तो एकदेश में अज्ञान का दुःख होने पर सर्वत्र अज्ञान का दुःख होना चाहिये। परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता ॥२४॥

सर्वज्ञ ब्रह्म किसी भी अवस्था में अज्ञानी नहीं हो सकता क्योंकि—

नह्युपाधियोगादन्यवस्तुनोऽन्यादृशःस्वभावः ॥२५॥

उपाधि के कारण किसी वस्तु का स्वभाव अन्यथा नहीं हो सकता।

स्वभाव का कभी नाश नहीं होता। अग्नि को कभी ठण्डा नहीं किया जा सकता। हां, वायु को कभी ठण्डा, कभी गरम और कभी कम ठण्डा और कम गरम किया जा सकता है, क्योंकि शीतलता या उष्णता वायु का स्वाभाविक गुण नहीं है। इसी प्रकार अल्पज्ञता के कारण जीव में तो भ्रान्ति हो सकती है। परन्तु स्वभाव से सर्वज्ञ ज्ञानस्वरूप ब्रह्म में भ्रान्ति का होना ऐसा ही होगा जैसे सूर्य में अन्धकार का होना। यह असम्भव है ॥२५॥

इस प्रकार युक्तियों की एक श्रृंखला है जो ब्रह्म को जीव मानने में बाधक है। इस पर अद्वैतवादी कहता है कि यह तो जिज्ञासु को समस्त जगत् और उसके व्यवहार का बोध कराने के लिए अध्यारोप का आश्रय लिया गया है। वास्तव में तो सब ब्रह्म है। इसे स्पष्ट करने के लिपे अध्यास का लक्षण किया है—

वस्तुन्यवस्त्वारोपणमध्यासः रज्ज्वां सर्पस्येव ॥२६॥

वस्तु में अवस्तु का आरोप करना अध्यास है, रज्जु में सर्प की भांति ।

'परत्र परावभासः' अर्थात् जहां कोई वस्तु न हो वहां उसकी प्रतीति करना, अथवा 'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' अर्थात् किसी तत्त्व में वह धर्म बताना जो उसका न हो अध्यास कहाता है—जैसे रस्सी में सांप की, सीप में चांदी की अथवा बालू में जल की प्रतीति करना ॥२६॥

इस भ्रान्ति का निवारण अगले सूत्र में किया है—

न सर्पोऽपदार्थो देशान्तरे तस्य विद्यमानत्वात् ॥२७॥

सर्प अपदार्थ नहीं है, देशान्तर में उसका अस्तित्व होने से ।

भ्रम किसी को, किसी में, किसी का, किसी कारण से होता है । जैसे मोहन को, रस्सी में, सांप की, झुटपुटे में भ्रान्ति होती है । अद्वैतवादियों के मत में ब्रह्म के अतिरिक्त कोई और सत्ता है नहीं । इसलिये उनकी मान्यता के अनुसार तो ब्रह्म को, ब्रह्म में, ब्रह्म का भ्रम होगा । सर्वज्ञ ब्रह्म अपने आप को न पहचान पाये इस बात पर कौन विश्वास करेगा ? किन्तु और कुछ है नहीं जिसमें किसी का भ्रम हो सके । फिर, भ्रम न प्रकाश में हो सकता है जब सब कुछ ठीक-ठीक दीख पड़ता है और न अन्धकार में जब बिल्कुल दिखाई नहीं पड़ता । उसके लिए प्रकाश और अन्धकार का मेल अर्थात् झुटपुटा चाहिये । इसलिये स्वयं प्रकाशस्वरूप ब्रह्म भ्रम का आश्रय नहीं हो सकता । भ्रम न सर्वज्ञ को हो सकता है और न सर्वथा अज्ञ को । केवल अल्पज्ञ ही इसका शिकार हो सकता है ।

रस्सी में सांप का अभाव था । सांप मन में स्मृत था । परन्तु मन में तो सांप पैदा नहीं होते । फिर वहाँ कहाँ से आ गये ? बात यह है कि मन में सांप भले ही न हो परन्तु सांप का संस्कार रहता है । रस्सी को देखकर उसकी स्मृति आ गई । यदि किसी ने कभी वास्तविक सांप न देखा हो और न उसकी आकृति के संस्कार मन में हों तो कभी रस्सी को सांप न समझेगा । यदि अवस्तु की प्रतीति सम्भव होती तो रस्सी में सांप की ही प्रतीति क्यों होती, गाय-भैंस की क्यों नहीं ?

शंकराचार्य ने 'अध्यास' का लक्षण किया है "स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः" अध्यास के लिए तीन चीजें चाहियें—पूर्वदृष्ट, उसकी स्मृति और परत्र । हमने कभी वास्तविक सांप प्रत्यक्ष देखा यह हमारा पूर्वदृष्ट है । हमारे भीतर उसका संस्कार रहा जो समय पर स्मृति बन कर आ गया । वर्तमान में प्रत्यक्ष रस्सी परत्र है जिसमें पूर्वदृष्ट की स्मृति के कारण सांप का अध्यास हुआ । वर्तमान जगत् को मिथ्या सिद्ध करने के लिये आवश्यक है कि पहले कहीं न कहीं वास्तविक जगत् का अस्तित्व स्वीकार किया जाये जिसे कभी न कभी प्रत्यक्ष किया गया हो । फिर उसकी स्मृति रही हो और वर्तमान में उसका

परत्र भी हो। यदि कभी कहीं वास्तविक जगत् था ही नहीं तो न वह पूर्वदृष्ट रहा, न उसकी स्मृति और न स्मृति के अभाव में परत्र में पूर्वदृष्ट का आभास। इसलिये रस्सी में सांप का भ्रम तभी हो सकता है जब देखने वाले ने उस समय वहां न सही, कहीं न कहीं और कभी न कभी वास्तविक सांप देख रक्खा हो। तब सांप को अवस्तु नहीं कहा जा सकता।

सामान्यतया तो हम रस्सी को रस्सी, सांप को सांप, जल को जल और रेत को रेत ही के रूप में देखते हैं। जीवन में ऐसा अवसर तो कभी आता है, जब अपवादरूप में हमने रस्सी को सांप, सीप को चांदी अथवा रेत को जल समझा हो। चाहिये तो यह था कि हम अपवाद की व्याख्या उत्सर्ग की सहायता से करते। परन्तु हम तो उल्टा उत्सर्ग का कारण अपवाद में खोजने लगे और थोड़ी सी भ्रान्तियों के आधार पर समस्त जगत् को मिथ्या बताने लगे।

सूक्ष्मैक्षिका से देखने पर पता चलेगा कि जो प्रत्यक्ष देखा जाता है वह सदा सत्य होता है, उसके कारण किया गया अनुमान भले ही मिथ्या हो। जब कोई किंचित् अन्धकार में रस्सी को देखता है तो वह उसे सांप जान पड़ती है। यदि उस समय साथ ही एक सांप होता तो दोनों एक जैसे जान पड़ते। कारण? इस देखने में आधा प्रत्यक्ष है और आधा अनुमान। आंख ने तो केवल कुण्डलियां देखीं। कुण्डलियां रस्सी में भी होती हैं और सांप में भी। प्रत्यक्ष के द्वारा केवल आकार का ज्ञान हुआ। आकार ही सब कुछ होता तो दोनों रस्सी भी हो सकते थे और साँप भी। प्रत्यक्ष में कोई भूल नहीं। भूल तब होती है जब हम दोनों पदार्थों के केवल समान धर्मों का ग्रहण और विशेष धर्मों की उपेक्षा करके केवल आंशिक प्रत्यक्ष के आधार पर अनुमान द्वारा रस्सी को सांप या सांप को रस्सी समझ बैठते हैं। मिथ्या ज्ञान के लिये दो भिन्न पदार्थों और उनके समान धर्म का ज्ञान होना आवश्यक है। जब तक बाह्य रूप में किसी समान धर्म की सम्भावना न हो तब तक दो पदार्थों के विषय में मिथ्या ज्ञान नहीं हो सकता। रस्सी का आकार और उसकी कुण्डलियों का भाव अथवा सीप में चमक सत्य न हों तो उनमें सांप या चांदी का आभास या अध्यास न हो सके। वस्तुतः रस्सी और सीप भी सत्य हैं तथा सांप और चांदी भी सत्य हैं—एक प्रत्यक्ष में और दूसरे देशान्तर में। असत्य है केवल रज्जु में सर्प की और सीप में चांदी की प्रतीति, जो किंचित् साधर्म्य के कारण है। ब्रह्म भी सत्य है और जगत् तथा जीव भी सत्य। किंचित् साधर्म्य तथा अधिकांश वैधर्म्य के होते हुए भी ब्रह्म में जगत् और जीव का अथवा जगत् और जीव में ब्रह्म का अध्यारोप करना मिथ्या है ॥२७॥

पदार्थों का अस्तित्व न होने पर भी वे स्वप्न में प्रतीत होते हैं—इस शंका का समाधान करने के लिए कहा—

स्वप्नोपलब्धस्यापि बाह्यार्थप्रत्यक्षम् ॥२८॥

स्वप्न में देखे गये पदार्थों का भी बाहर प्रत्यक्ष होता है।

स्वप्न में जिन पदार्थों का भान होता है उनका देशान्तर और कालान्तर में अस्तित्व सिद्ध है। जागने पर स्वप्न में हुई प्रतीति का नाश होता है, प्रतीत होने वाले पदार्थों का नहीं। वे सब अपनी-अपनी जगह बने रहते हैं। निद्रादोष के कारण वे स्वप्नावस्था में अपने पास भासते हैं। 'परत्र परावभास': जो पदार्थ जहां नहीं है वहां प्रतीत होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह कहीं और कभी नहीं था। जाग्रत अवस्था में वे पदार्थ सदा सत्यरूप प्रतीत होते हैं। इसलिये स्वप्न में भी अवस्तु में वस्तु का आरोप सिद्ध नहीं होता ॥२८॥

अब स्वप्न का स्वरूप कथन करते हैं—

स्मृतिरूपं स्वप्नदर्शनम् ॥२९॥

स्वप्नदर्शन स्मृतिरूप है।

जगत् प्रत्ययों की स्मृति से ही स्वप्नों का निर्माण होता है। जाग्रत का चिन्तन और स्वप्न का ज्ञान दोनों स्मृतिरूप हैं। परन्तु जहां जाग्रतावस्था में स्मृति का ज्ञान रहता है वहाँ स्वप्नावस्था में स्मृत पदार्थ स्मृतिरूप में न आकर अनुभवरूप में भासते हैं। स्वप्न ज्ञान का यही मिथ्यात्व है कि स्मृति को उपलब्धि समझ लिया जाता है और पदार्थों के देश, काल, दशा आदि में उलट-फेर हो जाता है। शंकराचार्य का मत है 'स्मृतिरेषा यत् स्वप्नदर्शनम्, उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्' (शा० भा० २-२-२९) अर्थात् स्वप्न में पदार्थों की स्मृति होती है और जाग्रत में उनका प्रत्यक्ष होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रत्यक्ष के बाद ही स्मृति होती है। जाग्रत प्रत्ययों की स्मृति से उत्पन्न होने के कारण स्वप्न प्रत्यय उनके सदृश प्रतीत होते हैं। स्पष्ट है कि जाग्रत प्रत्यय मुख्य हैं, स्वप्न प्रत्यय गौण। क्योंकि उपमेय से उपमान बड़ा होता है। इसलिये जाग्रत प्रत्ययों को देखकर स्वप्न प्रत्ययों की परीक्षा करनी चाहिए, न कि स्वप्न प्रत्ययों को देखकर जाग्रत प्रत्ययों की। स्वप्न को तराजू मानकर जाग्रत प्रत्ययों को उसमें तोलना और इस प्रकार पदार्थमात्र को असत् मान लेना न युक्तियुक्त है और न न्याय्य।

कभी-कभी स्वप्न में बहुत समय पूर्व देखे, सुने या किये का साक्षात्कार होता है। तब स्मरण नहीं आता कि जो उस समय देखा, सुना या किया था वही इस समय दिखाई या सुनाई दे रहा है। किन्तु स्मरण न आने से उसका पूर्वदृष्ट, पूर्वश्रुत अथवा पूर्वकृत न होना सिद्ध नहीं होता ॥२९॥

यदि स्वप्न का मूल स्मृति है तो स्मृति का मूल क्या है?

न हि संस्कारं विना स्मृतिः ॥३०॥

संस्कार के बिना स्मृति नहीं होती।

स्वप्न में विषय की प्रतीति स्मृतिमात्र है। उसका निमित्त तीव्र संस्कार हैं। संस्कार के सिवा और किसी निमित्त की कल्पना नहीं की जा सकती। अनुभव से जो संस्कार आत्मा में बैठ जाते हैं स्वप्न दशा में मन के सहयोग से वही संस्कार स्मृति वन कर आ जाते हैं। स्वप्न दशा की परिस्थितियां जागरित पर निर्भर करती हैं। क्योंकि—

पूर्वानुभवजन्यः संस्कारः ॥३१॥

संस्कार पूर्व अनुभव जनित है।

जो कुछ हम देखते, सुनते या करते हैं उसकी जो छाप रह जाती है उसे 'संस्कार' कहते हैं। जिन संस्कारों से पूर्व अनुभव किये हुए पदार्थों के विषय में स्मृति, राग, द्वेष तथा सुख-दुःख उत्पन्न होते हैं उन्हें 'वासना' कहते हैं। स्मृति और संस्कार दोनों पहले अनुभव किये हुए पदार्थ के विषय में होते हैं। वह केवल जागरित दशा में ही सम्भव है। स्वप्न में किसी वस्तु की सृष्टि नहीं होती। बृहदारण्यक उपनिषद् (४-३-१४) में कहा है 'यानि ह्येव जाग्रत् पश्यति तानि सुप्तः' अर्थात् जाग्रत् अवस्था में जिन वस्तुओं को देखता है, सोता हुआ उन्हीं को देखता है। इसीलिये स्वप्न, जाग्रत अवस्था में देखे-सुने-किये की स्मृतिमात्र है। जाग्रत, अवस्था में अनुभव किया गया पदार्थ असत् नहीं हो सकता और न ही तद्विषयक प्रतीति को असद्विषयक प्रतीति कहा जासकता है।

'अतस्मिंस्तद्बुद्धिः' जो पदार्थ जैसा नहीं है उसे वैसा समझ लेना मिथ्या ज्ञान है। इस प्रकार मिथ्या की कसौटी सत्य है अर्थात् जब तक एक सत्य न हो तब तक दूसरे को मिथ्या नहीं कहा जा सकता। स्वप्न में देखे हाथी घोड़ों को तभी मिथ्या कहा जा सकता है जब जाग्रत में देखे हाथी घोड़ों को सत्य स्वीकार किया जाये। जाग्रत दशा का स्वतन्त्र अस्तित्व है जबकि स्वप्नावस्था जागरित के आश्रित है। इस पराश्रित के आधार पर वस्तुमात्र को मिथ्या घोषित नहीं किया जा सकता।

कभी-कभी स्वप्न में ऐसी अटपटी बातें भी देखने में आती हैं जो उस रूप में जाग्रत अवस्था में कभी नहीं घटतीं। यह सब पूर्वदृष्ट-श्रुत-कृत को उपादान रूप मान कर उसमें जोड़-तोड़ करके सम्भव होता है। यह भी हो सकता है कि संस्कारों अर्थात् वासना रूप ज्ञान के आत्मा में जन्मजन्मान्तर तक बने रहने से इस प्रकार के पदार्थ व घटनायें इस जन्म की न होकर किसी पूर्व जन्म में अनुभूत हों ॥३१॥

बिना देखे, सुने और अनुभव किये स्वप्न में देखना, सुनना और अनुभव करना असम्भव है-इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण है कि—

न जन्मान्धस्य स्वप्ने रूपदर्शनम् ॥३२॥

जन्मान्ध को स्वप्न में रूप का दर्शन नहीं होता।

स्वप्न में ही नहीं जाग्रत अवस्था में भी जन्मान्ध लाल-पीले का, सुन्दर-असुन्दर का अथवा गधे-घोड़े का चिन्तन नहीं कर सकता क्योंकि उसे पहले इनका अनुभव नहीं हुआ ॥३२॥

प्रश्न उपस्थित होता है कि रस्सी में सांप का आरोप करने तथा स्वप्न में तथाकथित अभाव पदार्थों का दर्शन करने की भांति ब्रह्म में जगत् की कल्पना करने वाला कौन है ? अद्वैतवादी इसका उत्तर देता है—

ब्रह्मणि जगत्प्रत्ययः अन्तःकरणावच्छिन्नचिदाभासस्य ॥३३॥

ब्रह्म में जगत् का आभास अन्तःकरणावच्छिन्न चिदाभास को होता है।

अद्वैतवादी के मत में ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं। अतः उक्त प्रश्न का दूसरा उत्तर सम्भव नहीं। अन्ततोगत्वा 'अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन' अथवा 'चिदाभास' नाम से अभिहित होने वाली सत्ता ब्रह्म ही ठहरती है। इस प्रकार ब्रह्म में जगत् का मिथ्या ज्ञान ब्रह्म ही को होता है। परन्तु—

न हि मिथ्याकल्पकं मृषाभिधायि च ब्रह्म ॥३४॥

निश्चय ही मिथ्या कल्पना करने वाला और मिथ्यावादी ब्रह्म नहीं हो सकता।

मिथ्या कल्पना करने वाला झूठा होता है। सत्यस्वरूप, सत्यकाम तथा सत्यसंकल्प परमात्मा ऐसा कभी नहीं कर सकता। 'विपर्ययो मिथ्याज्ञानम्'— जिसकी वस्तु के यथार्थरूप में स्थिति न हो ऐसे मिथ्याज्ञान का नाम 'विपर्यय' है। शास्त्रीय व्यवस्था के अनुसार 'बन्धो विपर्ययात्' (सा० ३-२४) 'विपर्यय' अर्थात् मिथ्याज्ञान बन्ध का हेतु है। इस प्रकार ब्रह्म में जगत् की मिथ्या कल्पना करके नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला परमात्मा स्वयं बन्धन में पड़ जायेगा। जब स्वयं ईश्वर ही बन्धन में आ गया तो और किसी की मुक्ति का तो प्रश्न ही नहीं उठता ॥३४॥

यदि दुर्जनतोषन्याय से स्वप्न-रज्जु-सर्पादिवत् जगत् को ब्रह्म की कल्पना ही मानें तो भी जगत् नित्य सिद्ध होता है। क्योंकि—

कल्पयितुर्नित्यत्वे तत्कल्पनाया अपि नित्यत्वम् ॥३५॥

कल्पना के नित्य होने से उसकी कल्पना भी नित्य होगी।

गुण-गुणी का समवाय सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता। कल्पना गुण है किसी का और वह ब्रह्म के सिवा दूसरा कोई नहीं है। गुणी

ब्रह्म नित्य है तो उसका गुण कल्पना भी नित्य होगी। इस प्रकार कल्पित होने पर भी जगत् नित्य सिद्ध होगा ॥३५॥

इस समस्त विवाद के मूल में ब्रह्म का अज्ञान है। अज्ञान के कारण ही वह अपने स्वरूप को भूलकर अपने में जीव और जगत् की कल्पना कर बैठता है। अतः ब्रह्म में अज्ञान कहां से आता है अथवा वह अपने को क्यों भूल जाता है— इसकी खोज करना आवश्यक है। अद्वैतवादी का उत्तर है—

ब्रह्मण्यज्ञानमविद्योपाधिना ॥३६॥

ब्रह्म में अज्ञान अविद्या की उपाधि के कारण है।

यह अविद्या का सिद्धान्त अनेक दोषों का घर है। सबसे पहले प्रश्न उत्पन्न होता है कि अविद्या द्रव्य है या गुण? यदि द्रव्य है तो द्वैत सिद्ध हो गया। यदि गुण है तो उसका अधिष्ठान कोई द्रव्य होना चाहिये। क्योंकि—

न गुणोत्पत्तिर्द्रव्यं विना आश्रयाश्रितभावात् ॥३७॥

द्रव्य के विना गुण की उत्पत्ति नहीं हो सकती, उनमें आश्रयाश्रित भाव होने से।

अविद्या गुण है, इसलिये वह किसी के आश्रित ही रह सकती है। ब्रह्म के अतिरिक्त, अद्वैतवादी के मत में, दूसरा कोई चेतन तत्त्व है नहीं—जीव के स्वयं अविद्याकल्पित होने से। तब केवल ब्रह्म ही अविद्या का अधिष्ठान ठहरता है। अब प्रश्न उठता है—अज्ञानी होने पर ब्रह्म उपाधिग्रस्त हुआ या उपाधिग्रस्त होने पर अज्ञानी, अर्थात् पहले अज्ञान हुआ या उपाधि? यदि ब्रह्म पहले अज्ञानी हुआ तो कहना होगा कि उपाधि के बिना ही अज्ञानी हो गया। यदि पहले उपाधिग्रस्त हुआ तो प्रश्न होगा कि जब उपाधिग्रस्त होने से पूर्व ब्रह्म पूर्णज्ञानी तथा सर्वशक्तिमान् था तो उपाधि के वश में कैसे आ गया? न उपाधि के वश में होता, न अज्ञानी होकर झंझट में पड़ता। यदि उपाधि चेतन है तो ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरा चेतन तत्त्व सिद्ध हो गया। यदि जड़ है तो आश्चर्य है कि सर्वशक्तिमान् चेतन ब्रह्म ने जड़ उपाधि के आगे हथियार डाल दिये।

फिर प्रश्न उपस्थित होता है कि ब्रह्म को उपाधि कब से लगी? यदि यह माना जाये कि ब्रह्म तो पहले से था, कालान्तर में किसी समय उपाधि लग गई—तो पहले वह कहां थी? होगी तो कहीं न कहीं अवश्य। न होती तो कहां से आती? क्योंकि अभाव से तो भाव की उत्पत्ति हो नहीं हो सकती— 'नासतो विद्यते भावः' (गीता)। जब वह पहले से थी तो किसके आश्रित थी? क्योंकि गुण होने से उसका अधिष्ठान द्रव्य कोई न कोई अवश्य रहा होगा। अद्वैतवादी ब्रह्म के अतिरिक्त कोई और द्रव्य मानते नहीं। स्पष्टतः उपाधि ब्रह्म के आश्रित थी। परिणामतः जब ब्रह्म अनादि है तो उसकी भी अनादि संज्ञा

हुई। अनादि होने से वह अनन्त भी हो गई और अनाद्यनन्त होने से वह नित्य हो गई। उपाधि के नित्य और ब्रह्माश्रित होने से ब्रह्म सदा उपाधिग्रस्त और परिणामतः अज्ञानी रहेगा। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' सदा अज्ञानी रहने से वह कभी मुक्त न होगा और अविद्या के कारण सदा जन्म-मरण के बन्धन में रहेगा। ऐसे ब्रह्म से तो जीव अच्छा जो कभी न कभी तो मुक्त होने की आशा कर सकता है।

एक ओर ब्रह्म को देश, काल आदि से परे नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव बताना और दूसरी ओर उस पर सब प्रकार के दोष लाद देना कहाँ का न्याय है? इसी प्रकार ब्रह्म को अभौतिक तथा अपरिणामी मानते हुए उसे सृष्टि का उपादान कारण बताने में कौन सी तुक है ॥३७॥

'अविद्या' वास्तव में जिसका गुण है उसका कथन करते हैं—

अविद्या गुणोऽल्पज्ञस्य ॥३८॥

'अविद्या' अल्पज्ञ का गुण है।

अविद्या न सर्वज्ञ परमात्मा का गुण है और न सर्वथा अज्ञ प्रकृति का। वह तो केवल जीव का गुण है जो ईश्वर के समान चेतन तो है किन्तु सर्वज्ञ नहीं। यहां 'अविद्या' शब्द विद्या के अभाव का द्योतक नहीं है। ऐसा होता तो जीव चेतन न रह कर प्रकृति के समान जड़ हो जाता। इसलिये यहां अविद्या से तात्पर्य है विपरीत ज्ञान। 'अविद्या' शब्द में दो समास हैं—नञ् तत्पुरुष और बहुव्रीहि। प्रस्तुत सन्दर्भ में बहुव्रीहि समास अभिप्रेत है। इसलिये अविद्या का अर्थ है— 'नास्ति विद्या-यथार्थज्ञानं यस्यां सा' अर्थात् जिसमें यथार्थ ज्ञान नहीं है वह। वैशेषिक दर्शन में 'इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या' (९-२-१०) कह कर 'तद्-दुष्टं ज्ञानम्' (९-२-११) के द्वारा 'अविद्या' का और 'अदुष्टं विद्या' (९-२-१२) के द्वारा विद्या का लक्षण कर दिया। अर्थात् विपरीत (दुष्ट) ज्ञान को अविद्या और यथार्थ (अदुष्ट) ज्ञान को विद्या कहते हैं। योगदर्शन (२-५) के निम्न सूत्र में भी 'अविद्या' के इसी अर्थ को ग्रहण किया है—

'अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।'

अर्थात् विपरीत ज्ञान—अनित्य में नित्य की, अपवित्र में पवित्र की, दुःख में सुख की और अनात्मा में आत्मा की बुद्धि करना—अविद्या है। यही अविद्या जीव के बन्ध का कारण है ॥३८॥

जीव की स्वतन्त्र सत्ता का कथन करते हैं—

नन्वल्पज्ञश्चेतनः ब्रह्मणः पृथगेव ॥३९॥

निश्चय ही अल्पज्ञ चेतन (जीव) ब्रह्म से पृथक् है।

ब्रह्म से पृथक् जीव की अपनी सत्ता है। न वह ब्रह्म से अविद्या से उत्पन्न है

और न उसका प्रतिविम्ब है। वह ब्रह्म से पृथक् और उसी के समान नित्य है। ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर भी उसकी सत्ता बनी रहती है ॥३९॥

किन्हीं की मान्यता है कि—

जीवो ब्रह्माऽभिन्नश्चेतनत्वात् ॥४०॥

चेतन होने से जीव ब्रह्म से अभिन्न है।

समान धर्मी (दोनों के चेतन होने से) ब्रह्म और जीव एक हैं। निश्चलदास ने 'वृत्तिप्रभाकर (२-९) में यह लिखकर अद्वैतवाद की स्थापना की। अगले सूत्र में इस युक्ति का खण्डन किया गया है—

न किंचित्साधर्म्येणैकात्म्यम् ॥४१॥

किंचित् साधर्म्य से ऐकात्म्य नहीं होता।

थोड़ी सी समानता पाये जाने से पदार्थों में अभिन्नता नहीं होती। पृथ्वी और जल दोनों जड़ भी हैं और दृश्य भी। इन दो गुणों की समानता होने पर भी वे एक नहीं माने जा सकते। मनुष्य और चींटी दोनों ही पैरों से चलते और मुंह से खाते हैं। फिर भी मनुष्य को चींटी और चींटी को मनुष्य नहीं कहा जा सकता। चीनी और नमक दोनों सफेद हैं। इतने से ही कोई दूध में चीनी के स्थान पर नमक डालने के लिये तैयार नहीं होगा। इसी प्रकार ब्रह्म और जीव के चेतन अथवा कुछ अन्य गुणों में समान होते हुए भी दोनों एक नहीं हो सकते ॥४१॥

क्योंकि—

वैधर्म्येण पार्थक्यम् ॥४२॥

वैधर्म्य से पृथकता होती है।

वैधर्म्य-भेदकारक अर्थात् विरुद्ध धर्मों का होना एकता में बाधक है।

पृथ्वी और जल में जड़त्व गुण समान होने पर भी पृथ्वी में कठिनत्व एवं गन्धवत्व तथा जल में द्रवत्व एवं रसवत्व आदि की भिन्नता के कारण वे एक नहीं माने जा सकते। मनुष्य और चींटी में पैरों से चलने और मुंह से खाने की समानता होने पर भी आकृति, आकार, पैरों की संख्या तथा देह, मुंह आदि के परिमाण आदि में भेद होने के कारण वे दोनों भिन्न ही माने जायेंगे। चीनी और नमक के रंग में समानता होने पर भी चीनी का मिठास और नमक का खारापन चीनी की जगह नमक से काम लिये जाने में बाधक होगा। इसी प्रकार दोनों के चेतन होने पर भी परमेश्वर के अनन्त, ज्ञान-बल-क्रिया-आनन्द, निर्भ्रान्तित्व तथा सर्वव्यापकता जीव से और जीव के अल्पज्ञान, अल्पबल, भ्रान्तित्व तथा परिच्छिन्नता आदि गुण परमेश्वर से भिन्न हैं। इसलिये किंचित् साधर्म्य होने पर भी वैधर्म्य के कारण जीव और ब्रह्म न कभी एक थे, न हैं और न होंगे ॥४२॥

अब साधर्म्य-वैधर्म्य से अन्वय- व्यतिरेक का विवेचन करते हैं—

अन्वयव्यतिरेकभावतो व्याप्यव्यापकयोर्भिन्नाभिन्नत्वम् ॥४३॥

अन्वय-व्यतिरेक भाव से व्याप्य-व्यापक में भिन्नता-अभिन्नता दोनों हैं। यदि दो पदार्थ वास्तव में एक हों तो उनमें परस्पर व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध नहीं घट सकता। अवकाश के बिना मूर्त्त द्रव्य नहीं रह सकता। घर बनने से पूर्व लकड़ी, लोहा, आदि भिन्न भिन्न देश में होते हुए भी आकाश में रहते हैं। घर बन जाने पर भी आकाश में स्थित होते हैं। कालान्तर में घर के नष्ट हो जाने पर भी ये सब पदार्थ आकाश में रहते हैं अर्थात् तीन काल में आकाश से बाहर नहीं होते। इस प्रकार अन्वय भाव से देखने पर आकाश और मूर्त्त द्रव्य एक हैं। परन्तु आकाश के विभु, सूक्ष्म, अरूप, अनन्त आदि गुण और मूर्त्त के परिच्छिन्न और दृश्यत्व आदि में वैधर्म्य होने अर्थात् स्वरूप से भिन्न होने से व्यतिरेक भाव से आकाश और मूर्त द्रव्य एक दूसरे से पृथक् हैं। इसी प्रकार ब्रह्म के आकाश-वत् निराकार तथा सर्वव्यापक होने से जीव और पृथ्वी आदि द्रव्य तीनों काल में उससे अभिन्न हैं। परन्तु स्वरूप से भिन्न होने के कारण एक नहीं हो सकते। अन्वय के साथ जब तक व्यतिरेक न रहे तब तक पदार्थों का यथार्थज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि संसार में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जिसमें सगुणनिर्गुणता, अन्वयव्यतिरेक, साधर्म्यवैधर्म्य तथा विशेष्यविशेषण भाव न हो ॥४३॥

ब्रह्म से अतिरिक्त जीव के होने में एक और हेतु देते हैं—

संहतपरार्थत्वात् ॥४४॥

संघात के परार्थ होने से।

प्रकृति के अवयवों के मेल से त्रिगुणात्मक जगत् की रचना होती है। संहत अर्थात् संघात के रूप में विद्यमान इस जगत् की प्रवृत्ति 'पर' के लिये है। 'भोगा-पवर्गार्थं दृश्यम्' (योग. २-१८) इस सृष्टि की रचना निष्प्रयोजन न होकर किसी के भोग और अपवर्ग के लिये की गई है। भोग्य स्वयं अपना भोक्ता नहीं हो सकता। जड़ होने से भी प्रकृति अपना उपभोग नहीं कर सकती। अचेतन भोग्य जगत् का भोक्ता कोई चेतन ही हो सकता है। अद्वैतवादियों के मत में एकमात्र चेतन सत्ता ब्रह्म है। उसके पूर्णकाम होने से उसके लिये भोग्य अनावश्यक है। नित्यमुक्त होने से उसके लिये अपवर्ग के साधन रूप में भी किसी की अपेक्षा नहीं। अतः इस संघात के भोक्ता के रूप में ब्रह्म से भिन्न जीव का अस्तित्व सिद्ध है ॥४४॥

इसी विषय में एक अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥४५॥

और मोक्ष के लिये प्रवृत्ति पाये जाने से।

त्रिविध दुःखों से छूट कर अनन्त सुख की प्राप्ति की इच्छा सर्वत्र व्याप्त है। समस्त शास्त्र ईश्वर प्रप्ति के द्वारा मोक्ष साधन के निमित्त आवश्यक विधि-निषेधात्मक वाक्यों से भरे पड़े हैं। जो वन्धन में है वही छूटने के लिये छटपटाता और उसके लिये प्रयत्न करता है। ब्रह्म तो स्वात्मस्वरूप एवं नित्यमुक्त है यदि सब ब्रह्म का ही रूप हैं तो पहले ही मुक्त हैं। फिर मुक्त होने की इच्छा कैसी? वेद के अनुसार 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' परमात्मा के जानने पर ही मोक्ष मिलता है। तो क्या ब्रह्म को स्वयं अपने को जानना पहचानना पड़ेगा? उपनिषद् के अनुसार ब्रह्म को स्वयं अपने को 'श्रोतव्य, मन्तव्य और निदिध्यासितव्य' के रूप में स्वीकारना होगा? यह सब असंगतियां तभी दूर हो सकती हैं जब नित्यमुक्त ब्रह्म से अतिरिक्त कभी वद्ध कभी मुक्त होने वाले जीव की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया जाये ॥४५॥

जीव की स्वतन्त्र सत्ता का विवेचन करने के बाद अव जगत् के मिथ्या होने की समीक्षा करते हैं—

न जगद्रूपं ब्रह्म ॥४६॥

जगत् के रूप में ब्रह्म नहीं है।

जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने पर तत्काल प्रश्न उपस्थित होता है कि पूरा ब्रह्म जगद्रूप हो गया या उसका कोई भाग? यदि सम्पूर्ण ब्रह्म जगद्रूप हो गया तो उसका ब्रह्मत्व ही जाता रहा। क्योंकि ऐसा होते ही उसकी सभी विलक्षणताओं का लोप हो जायेगा। यदि माना जाये कि उसका कुछ भाग ही जगद्रूप में परिणत हुआ तो परमात्मा की अखण्डता और सर्वव्यापकता संकट में पड़ जायेगी। एक के दो ब्रह्म हो जायेंगे—एक शुद्ध ब्रह्म और दूसरा जगज्जाल में परिणत ब्रह्म। प्रसिद्ध दार्शनिक डा० राधाकृष्णन के शब्दों में "यह ऐसा ही होगा जैसे कोई आधी मुर्गी को तो मार कर खाजाये और आधी को अण्डे देते रहने के लिये छोड़ दे" (हिन्दू व्यू आफ़ लाइफ)। जगद्रूप में परिणत होने वाला ब्रह्म कार्य होने से एकदेशी हो जायेगा। एकदेशी हो जाने पर सक्रिय होने से वह इधर उधर जाता रहेगा। तव वह 'अनेजत्' न हिलने वाला नहीं रहेगा। प्रकृति ब्रह्म के समान एकव्यक्तिरूप तत्त्व नहीं है। इसलिये जगत् को प्रकृति का परिणाम मानने पर यह दोष नहीं आता। जगत्सर्ग के लिये जिस रूप में जितने तत्त्व अपेक्षित होते हैं सर्वज्ञ ब्रह्म अपनी व्यवस्थानुसार उनको जगद्रूप में परिणत कर देता है ॥४६॥

जगत् का अस्तित्व न होने पर भी वह माया के कारण ऐसा दिखाई देता है-इस भ्रम का निवारण करते हैं—

न मायोपाधिना ॥४७॥

माया की उपाधि से (ब्रह्म जगद्रूप) नहीं।

मायावाद के प्रवर्त्तक अथवा सबसे महान् प्रचारक स्वामी शङ्कराचार्य एक ओर तो माया को अनिर्वचनीय (अवक्तव्य) मानते हैं और दूसरी ओर उसकी चर्चा करते नहीं अघाते यहां तक कि अपने अद्वैतवाद का सारा महल उसी की नींव पर खड़ा करते हैं। स्वयं स्पष्ट न होते हुए भी उसकी विस्तृत व्याख्या करते जाते हैं। डा० प्रभुदत्त शास्त्री कृत 'Doctrine of Maya' के अनुसार विभिन्न रूपों में 'माया' शब्द ऋग्वेद में ७० बार और अथर्ववेद में २७ बार आया है। यास्क, सायण और दयानन्द सभी इस विषय में एक मत हैं कि वेद में इस शब्द का प्रयोग सर्वत्र 'प्रज्ञा' अथवा 'ज्ञानविशेष' के अर्थ में हुआ है। उव्वट ने यजुर्वेद में इसका अर्थ 'प्राणसम्बन्धिनी प्रज्ञा' किया है। निघण्टु (३-९) में भी इसका अर्थ 'प्रज्ञा' अथवा 'ज्ञान' किया गया है। डा० राधाकृष्णन के अनुसार 'वेद में जगत् के मिथ्या होने का कहीं उल्लेख नहीं है। वहां माया शब्द "शक्ति' का वाचक है।" रामानुजाचार्य कहते हैं 'माया शब्दो ह्याश्चर्यवाची' अर्थात् 'माया' शब्द आश्चयवाची होने से स्वप्न की सृष्टि आश्चर्यमयी है। वेदान्त-दर्शन में केवल एक स्थान (३-२-३) पर 'माया' शब्द का प्रयोग हुआ है। शंकर-स्वामी ने 'मायैव सन्ध्ये सृष्टिः' कह कर यहां माया शब्द का प्रयोग 'काल्पनिक' के अर्थ में किया है। दोनों अर्थों में कोई विसंगति नहीं है। यहां स्वप्न का प्रसङ्ग है। इससे पहले एक सूत्र में पूर्वपक्ष उपस्थित करते हुए कहा गया था 'सन्ध्ये सृष्टिराह हि' (३-२-१) निश्चय ही सन्ध्य में सृष्टि कही जाती है। जागृत और सुषुप्ति की सन्धि होने से 'स्वप्न' की 'सन्ध्य' संज्ञा है। इसके उत्तर में सिद्धान्त पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा गया 'मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' अर्थात् स्वप्न में देखे जाने से वह विपरीत ज्ञान मात्र अथवा काल्पनिक सृष्टि है। कल्पना आश्चर्यमयी ही होती है। किन्तु जैसा हम इससे पूर्व अपने सूत्र २८ के अन्तर्गत स्पष्ट कर आये हैं, स्वप्न में जो कुछ देखा सुना जाता है वह वहां उस समय स्वप्नद्रष्टा के भीतर भले ही न हो परन्तु बाहर भी उसका अस्तित्व कहीं भी और कभी भी न रहा हो, ऐसा नहीं हो सकता। प्रस्तुत सूत्रान्तर्गत स्वप्न की सृष्टि को मायामात्र इसलिये बताया गया है कि वहां अर्थ की अभिव्यञ्जना पूर्णरूप से (कार्त्स्न्येन) नहीं हो पाती। 'कार्त्स्न्य' अथवा पूर्णरूप से न होने का तात्पर्य है किसी उचित देश और काल में उचित निमित्तों से न होना। स्वप्न में दीखने वाले पदार्थों में यही होता है कि वे उचित देश और काल में न देखे जाकर अन्यत्र देखे जाते हैं। इसी कारण वे मिथ्या होते हैं। उनका अत्यन्ताभाव कभी नहीं होता। जब मायावी ऐन्द्रजालिक किसी वस्तु का प्रदर्शन करता है तब भी उसका कोई न कोई आधार या निमित्त अवश्य रहता है। वह आधार या निमित्त अभावमात्र नहीं हो सकता। जब वह सर्प का प्रदर्शन करना चाहता है तो उसी के सदृश रस्सी, लकड़ी या अन्य किसी लचीली वस्तु को निमित्त बना कर प्रदर्शन करता है। दर्शकों को सर्प का आभास होता है।

वस्तुतः वह सर्प नहीं होता। अन्य वस्तु में सर्पत्व का यह मिथ्याज्ञान भी उन्हीं को होता है जिनको पहले से वास्तविक सर्प का ज्ञान होता है और वह भी सर्प-सदृश वस्तु को देख कर ही। इस प्रकार प्रदर्शित वस्तु का उभार अभाव से न होकर किसी वस्तु-तत्त्व से होता है। इसलिये वस्तुमात्र का अभाव में पर्यवसान नहीं माना जा सकता। इस सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ऐन्द्रजालिक प्रदर्शन में भी इन तीन का होना अनिवार्य है—मिथ्याज्ञान कराने वाला, मिथ्याज्ञान का आश्रय दर्शक तथा मिथ्याज्ञान के आधार और आधेय पदार्थ। ऐन्द्रजालिक दर्शकों को तो मिथ्याज्ञान कराता है परन्तु वह स्वयं मिथ्या ज्ञान से अभिभूत कभी नहीं होता। इसी का नाम माया है। अल्पज्ञ जीव को भ्रान्ति हो सकती है। परन्तु सर्वज्ञ ब्रह्म त्रिकाल में माया अर्थात् मिथ्या ज्ञान से अभिभूत नहीं हो सकता। न वह अभाव से भाव की उत्पत्ति कर सकता है और न ऐन्द्रजालिकों या मदारियों की भांति किसी को भ्रान्ति में डालने का काम कर सकता है। 'रसो वै सः' वह आनन्दस्वरूप है। अतः उसे अपना मनोरंजन करने के लिये भी इस प्रकार के खेल तमाशे करने की आवश्यकता नहीं है।

यदि अद्वैतवादियों में प्रचलित अर्थों में 'माया' पद का ग्रहण किया जाये तो एक साथ अनेक प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं। माया द्रव्य है या गुण? यदि द्रव्य है तो द्वैतवाद सिद्ध हो गया। यदि गुण है तो किसका? अद्वैतवादियों के अनुसार ब्रह्म के अतिरिक्त कोई दूसरा द्रव्य नहीं। अनिवार्यतः ब्रह्म को ही माया का अधिष्ठान मानना पड़ेगा। तब प्रश्न उठता है कि ब्रह्म और माया का यह समवाय सम्बन्ध है या संयोग सम्बन्ध? यदि समवाय सम्बन्ध है तो वह अनादि और अनन्त अर्थात् नित्य होगा। तब, यदि माया की उपाधि से ही जगत् का आविर्भाव माना जाये तो भी ब्रह्म और उसकी माया के नित्य होने से यह जगत् भी नित्य अथवा त्रिकाल में सत्य हो गया। ब्रह्म भी सदा के लिये मायोपाधि से ग्रस्त होकर दूषित हो गया और इस प्रकार उसका शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव भी जाता रहा। यदि संयोग सम्बन्ध माना जाये तो प्रश्न उठता है—क्यों और कब से? यदि ब्रह्म पहले शुद्ध था और कालान्तर में कभी माया के वशीभूत हो गया तो प्रश्न होगा कि यह माया पहले कहां और किसके आश्रित थी? कहीं न कहीं तो अवश्य होगी। न होती तो कहां से आती क्योंकि 'नावस्तुनो सिद्धिः'—अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। जब थी तो गुण होने से किसी न किसी द्रव्य के आश्रित होगी। द्रव्य ब्रह्म के सिवा दूसरा था नहीं। घूम फिर कर हम फिर वहीं आ गये। माया ब्रह्म के आश्रित अथवा उसका गुण हो गई। ब्रह्म अनादि है तो उसकी माया भी अनादि हो गई। एक और प्रश्न उपस्थित होता है—माया चेतन है या जड़? चेतन है तो अद्वैत-वाद को चुनौती देने वाला दूसरा चेतन तत्त्व हो गया। यदि जड़ है तो सर्वशक्तिमान् चेतन ब्रह्म के जड़ माया के वशीभूत हो जाने की बात समझ में नहीं आती।

वस्तुतः श्वेताश्वतरोपनिषद् (४-१०) में 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम्' कह कर माया को स्पष्ट रूप से प्रकृतिवाचक वता दिया। साथ ही यह भी कह दिया कि 'अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः' (४।९) इससे मायावी परमात्मा सृष्टि की रचना करता है जिसमें एक दूसरा (जीव) प्रकृति (सत्त्व, रजस् और तमस्) के चक्कर में फंसा पड़ा है। श्वेताश्वतरोपनिषद् का यह सारा प्रकरण त्रैतवाद की विस्तृत तथा काव्यात्मक व्याख्या है ।।४७।।

अगले सूत्रों में दृश्यमान जगत् के मिथ्या होने की समीक्षा की गई है—

न व्यवहारपरमार्थयोर्भेदान्मिथ्यात्वम् ।।४८।।

व्यवहार और परमार्थ के भेद से जगत् मिथ्या नहीं है।

वस्तुतः व्यवहार और परमार्थ दोनों ही सत्य हैं। व्याप्य-व्यापक भाव से ब्रह्म, जीव तथा प्रकृति की अपनी-अपनी सत्ता है। व्यवहार और परमार्थ के प्रत्ययों में इतना भेद है कि व्यवहार जगत् में हमारा अनुभव ज्ञानेन्द्रियों पर आश्रित है जबकि भौतिक वन्धन से मुक्त योगी अपनी चित् शक्ति से ही वहुत कुछ जान लेता है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि व्यवहार जगत् में प्राप्त तव तक के उसके समस्त अनुभव मिथ्या थे। बड़ा होने पर वालक खिलौने से खेलना छोड़ देता है किन्तु इससे खिलौनों का अस्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। वे तब भी अपनी जगह बने रहते हैं। इसी प्रकार यथार्थ ज्ञान के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने वाला आत्मा यद्यपि भौतिक पदार्थों को तुच्छ समझने लगता है तो भी वे पदार्थ नष्ट नहीं हो जाते। इसी प्रकार कारण तथा कार्य दोनों ही अपनी अपनी जगह सत्य हैं। सोना और उससे बने आभूषण दोनों ही देखने में आते हैं। कारण रूप होने से सोना सत्य और नामरूप पाने से उसका कार्य आभूषण मिथ्या नहीं हो जाता। सोने से आभूषण का मूल्य कुछ अधिक ही होता है। रुपान्तर होने से कोई अपना अस्तित्व नहीं खो बैठता। पानी भाप वन कर उड़ जाये तो भी वह जल रूप में मिथ्या था या उसका अव अभाव हो गया—ऐसा नहीं माना जा सकता। कार्य, कारण का रूपान्तर मात्र है। अतः वह उतना ही सत्य है जितना स्वयं कारण ।।४८।।

न ब्रह्मणस्सत्यत्वेन तत्कार्यस्यासत्यत्वम् ।।४९।।

ब्रह्म के सत्य होने से उसका कार्य असत्य नहीं हो सकता।

जो यथावत् उपलब्ध है उसका वर्तमान में अभाव नहीं हो सकता। अद्वैतवादियों के मतानुसार यदि एकमात्र ब्रह्म से ही जगत् की उत्पत्ति मानी जाये अर्थात् ब्रह्म को ही सृष्टि का उपादान कारण भी माना जाये तो भी जगत् मिथ्या

नहीं हो सकता। 'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः' अर्थात् तात्त्विक दृष्टि से कार्य में वही गुण होते हैं जो उसके कारण में। अतः यदि 'ब्रह्म सत्यम्' है अर्थात् जगत् का कारणरूप ब्रह्म सत्य है तो उसका कार्यरूप जगत् कभी मिथ्या नहीं हो सकता। अद्वैतवादियों के मतानुसार कारण का कार्य से अनन्यत्व है अर्थात् कार्य का व्यतिरेक से अभाव है तो कार्य को मिथ्या नहीं माना जा सकता। कारणरूप ब्रह्म का कार्यरूपजगत् से अनन्यत्व मानने पर यदि जगत् को मिथ्या कहा जायेगा तो स्वयं ब्रह्म ही मिथ्या हो जायेगा। उपनिषद् (छा. ६,१,२-६) में इस सन्दर्भ में 'नखकृन्तन' निहन्ने का दृष्टान्त दिया गया है। यदि निहन्ना मिथ्या है अर्थात् उसका अभाव है तो उसके उपादान लोहे का अभाव स्वतः सिद्ध है। जब उंगली में अंगूठी नहीं होगी तो वहां सोना कैसे होगा ? फिर सत्स्वरूप ब्रह्म असद्रूप जगत् का ऐन्द्रजालिक तमाशा क्यों और किसके लिये करेगा ? अद्वैतवाद में तो देख सकने वाले जीव की सत्ता का भी निषेध है ॥४९॥

अब ब्रह्म के जगत् का उपादान कारण न होने में युक्ति देते हैं—

नोपादानकारणं ब्रह्म सारूप्यादर्शनात् ॥५०॥

ब्रह्म जगत् का उपादान कारण नहीं, सारूप्य न देखे जाने से।

'कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः' वैशेषिक दर्शन (२-१-२४) के इस सूत्र में प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार उपादान कारण के गुण-कर्म-स्वभाव तत्त्वतः उसके कार्य में अवश्य होते हैं। हार आदि को मिट्टी का और घड़े आदि को सोने का विकार नहीं माना जा सकता, क्योंकि मिट्टी से बनी चीज मिट्टी जैसी और सोने से बनी चीज सोने जैसी होनी चाहिये। परस्पर विलक्षण वस्तुओं में कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं हो सकता। ब्रह्म का कार्यरूप माना जाने वाला जगत् ब्रह्म से और ब्रह्म दृश्यमान जगत् से विलक्षण दिखाई देता है। यदि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण होता अर्थात् ब्रह्म से ही जगत् बना होता तो उसकी भांति जगत् भी निराकार, अखण्ड, चेतन, अनुत्पन्न तथा सच्चिदानन्दस्वरूप होता। परन्तु इसके विपरीत जगत् दृश्य, खण्डरूप, अचेतन, उत्पन्न और आनन्द-रहित है। सुख-दुःख, मोह आदि से युक्त अचेतन जगत् नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव ब्रह्म का विवर्त्त कैसे हो सकता है ? यदि ब्रह्म और जगत् में उपादानत्व के आधार पर कार्य-कारण भाव होता तो या तो पृथिव्यादि को ब्रह्म की भांति चेतन होना चाहिये था या ब्रह्म को पृथिव्यादि की भांति जड़। अतः एकमात्र चेतन तत्त्व से जड़ जगत् की उत्पत्ति होना नितान्त असम्भव है। फलतः जगत् का उपादान कारण केवल जड़ तत्त्व होना चाहिये। वेद एवं वैदिक साहित्य में उसे त्रिधातु, स्वधा, अदिति, वृक्ष आदि पदों से तथा दर्शन एवं पुराण आदि में त्रिगुण, प्रधान, प्रकृति, प्रजा आदि पदों से प्रस्तुत किया गया है। जिन आचार्यों ने यह कहा है कि ब्रह्म से जगत् ऐसे ही उत्पन्न होता है जैसे मिट्टी से घड़ा

वे अपने इस विचार को सर्वात्मना निर्बाध रूप से स्पष्ट करने में असमर्थ रहे। तब उन्हें अपनी बात बनाये रखने के लिये जगत् के उपादानकारण रूप में माया की कल्पना करनी पड़ी जो त्रिकाल में ब्रह्म का स्वरूप नहीं है। फिर अपने इस आग्रह पर बने रहने के लिये 'विवर्त्त' की कल्पना की। इस पद तक का वेदान्त सूत्रों में सर्वथा अभाव है। और जैसा हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं, वेदान्त सूत्रों में केवल एक स्थान (३-२-३) पर आये 'माया' शब्द का प्रयोग स्वप्न में अनुभूत पदार्थों को मिथ्या सिद्ध करने के लिये किया गया है। जाग्रत के पदार्थों का कारण माया को कहीं कथन नहीं किया गया।

ब्रह्म को जगत् का उपादानकारण सिद्ध करने की धुन में प्रायः तैत्तिरीय उपनिषद् का यह मन्त्र प्रस्तुत किया जाता है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म ॥३-१॥

उनका कहना है कि 'जायते' क्रिया का योग होने पर जिस कारणभूत वस्तु में अपादान कारक अर्थात् पंचमी विभक्ति होती है वह उपादान कारण होता है। परन्तु सभी आचार्य इस विषय में एकमत नहीं है। उनके अनुसार कारणमात्र में पंचमी विभक्ति का प्रयोग होता है। वेद और लोक में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं। जैसे—'तस्मादश्वा अजायन्त', (यजु० २), 'आदित्याज्जायते वृष्टिः' (मनु० ३-७६), 'सुधनाज्जायते सुखम्' (मनु), 'पुत्रात् जायते प्रमोदः' इत्यादि प्रयोग प्रसिद्ध हैं। निश्चय ही यज्ञ को घोड़े आदि का, सूर्य को वर्षा का, धन को सुख का और पुत्र को हर्ष का उस रूप में उपादान नहीं कहा जा सकता जिस रूप में मिट्टी को घड़े को। पंचमी विभक्ति का प्रयोग होने पर भी ये केवल जायमान वस्तुओं के निमित्तमात्र हैं। अतः उपनिषद् के प्रस्तुत सन्दर्भ से ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण सिद्ध करने में सहायता नहीं मिलती ॥५०॥

इसी विषय में कुछ अन्य हेतु प्रस्तुत करते हैं—

नापरिणामित्वादीश्वरस्य ॥५१॥

ईश्वर के अपरिणामी होने से नहीं।

यदि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण होगा तो निश्चय ही वह परिणामी होगा। परिणाम और विकार के बिना उपादान हो ही नहीं सकता। अध्यास, विवर्त्त, अनिर्वचनीयख्याति सबका आश्रय लेकर भी उपादान के रूप में निरवयव ब्रह्म से सावयव जगत् की उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती। स्वामी शंकराचार्य भी ब्रह्म को स्वरूप से 'कूटस्थनित्य, सर्वविक्रियारहित, नित्यतृप्त तथा निरवयव' मानते हैं। ऐसा ब्रह्म जगत् का उपादान कैसे हो सकता है? नित्य शुद्ध-बुद्ध एवं आनन्दस्वरूप ब्रह्म अशुद्ध, अचेतन तथा सुख-दुःख—मय जगत् के रूप में परिणत होगा तो उसके स्वरूप की हानि होगी—वह ब्रह्म न रहेगा। जड़ प्रकृति

ही जगद्रूप में परिणत होती है। ब्रह्म तो निर्विकार रहकर उसका नियन्त्रण एवं संचालन करता है ॥५१॥

सर्वव्यापित्वात् ॥५२॥

सर्वव्यापक होने से।

किसी पदार्थ के उपादान तत्त्व उस पदार्थ के भीतर रहते हैं, बाहर नहीं। इसलिये कोई सर्वव्यापक तत्त्व किसी का उपादान नहीं हो सकता। 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः' (यजु. ४०-४)—परमात्मा अन्तर्यामी रूप से व्याप्त होकर प्रत्येक वस्तु के बाहर और अन्दर विद्यमान है। सारा जगत् उसके भीतर है—'पादोऽस्य विश्वा भूतानि'। किन्तु 'त्रिपादं अमृतं दिवि' जितना वह जगत् के भीतर है उससे कहीं अधिक उससे बाहर है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ के अन्दर और बाहर परब्रह्म की व्यापकता इस बात का प्रमाण है कि वह उन पदार्थों का उपादान कारण नहीं है ॥५२॥

अब एक ब्रह्म ही जगत् का निमित्त कारण भी है और उपादान कारण भी—इसकी समीक्षा करते हैं—

नाभिन्ननिमित्तोपादानकारणम् ॥५३॥

(ब्रह्म) अभिन्न निमित्तोपादान कारण नहीं है।

निमित्त और उपादान कारण का भिन्न-भिन्न न होना अभिन्ननिमित्तो-पादान कहाता है। निमित्त कारण स्वयं अविकारी रहते हुए उपादान कारण में विकृति उत्पन्न करके रचना करता है। अविकारी निमित्त तथा विकारी उपादान दोनों एक नहीं हो सकते। छान्दोग्य उपनिषद् (६-३-२) में कहा—'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता ··· नामरूपे व्याकरवाणि' उस महती देवता ने ईक्षण किया—इन तीन देवताओं (प्रकृतिरूप सत्त्व, रजस्, तमस्-त्रिगुणों) को नाम रूप करूँ। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी कुछ ऐसा ही कहा—'सोऽकामयत बहुस्याम प्रजायेय' (२-६) उसने कामना की, मैं बहुत हो जाऊं—प्रजाओं को उत्पन्न करूँ। इन प्रसंगों में सर्गरचना के पूर्व अभिध्यान-संकल्प का कामना व ईक्षण के रूप में उपदेश है। जब परमात्मा ईक्षण अर्थात् दर्शन, विचार, ज्ञान, ध्यान आदि में परमात्मा प्रसिद्ध और स्थूल पदार्थों में सह वर्तमान होता है। इस अभिध्या या इच्छा के लिए कर्त्ता और कर्म दोनों की अपेक्षा है। ये दोनों धर्म एक में नहीं रह सकते। एक ही तत्त्व कर्त्ता और कर्म दोनों नहीं हो सकता। अभिध्यान के लिए जिस प्रकार अभि-ध्याता अपेक्षित है उसी प्रकार अभिध्यातव्य भी अर्थात् जैसे कोई संकल्प करने वाला चाहिये वैसे संकल्प का कोई विषय भी होना चाहिये। उपनिषद् में अभिध्याता अर्थात् संकल्प करने वाला ब्रह्म स्पष्ट रूप में कथित है। कर्म अथवा

विषय को जानना शेष रह जाता है। स्वामी हरिप्रसाद ने वेदान्त सूत्र वैदिक वृत्ति में इस विषय का विवेचन करने के बाद कह दिया—'तत्र ब्रह्माभिध्यातृत्वान् निमित्तकारणं प्रकृतिश्चाभिध्यातव्यत्वादुपादानकारणम्' अर्थात् अभिध्याता होने से ब्रह्म निमित्तकारण तथा अभिध्यातव्य होने से प्रकृति उपादान कारण है। ब्रह्म को ही संकल्प का विषय मानने पर उसे स्वयं ही जगद्रूप में परिणत होना पड़ेगा। उस अवस्था में अपना स्वरूप खोकर वह ब्रह्म न रह सकेगा। अतः ईक्षिता द्वारा प्रकृति ही बहुरूप की जाती है। वह स्वयं अविकारी बना रहता है। छान्दोग्य (६-३-२) में तीन देवता के रूप में 'सत्त्व-रजस्-तमस्' का स्पष्ट निर्देश है जिनका उल्लेख इस सन्दर्भ में यथाक्रम 'अप्-तेज-अन्न' पदों द्वारा किया गया है। इस विस्तृत एवं विशद विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि एकमात्र ब्रह्म ही सृष्टि का निमित्त तथा उपादान कारण नहीं है अपितु अभिध्याता ब्रह्म निमित्त कारण तथा विविध नामरूप में परिणत होने वाली अभिध्यातव्य प्रकृति उसका उपादान कारण है ॥५३॥

ब्रह्म को जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण सिद्ध करने के लिए कतिपय लौकिक दृष्टान्तों का आश्रय लिया जाता है। अगले सूत्र के अन्तर्गत उनका विवेचन करके उन्हें असत्य सिद्ध किया गया है—

न लूतादिनिदर्शनात् ॥५४॥

लूता-मकड़ी आदि के दृष्टान्त से भी (ब्रह्म का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण होना) सिद्ध नहीं होता।

इस प्रसंग में मुण्डकोपनिषद् (१।१-७) का निम्न मन्त्र विवेच्य है—

"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्।"

अर्थात् जैसे मकड़ी तन्तुजाल का सर्जन करता और उसे समेट लेता है, जैसे पृथिवी में औषधियां उत्पन्न होती हैं और जैसे जीवित पुरुषः से केशलोम प्रकट होते हैं वैसे ही अक्षर (ब्रह्म) से यह विश्व प्रादुर्भूत होता है। यद्यपि देखने में तत्काल यह मन्त्र परमात्मा के अभिन्ननिमित्तोपादानत्व का प्रतिपादक मालूम होता है। परन्तु तनिक सा विचार करते ही स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः यहां इन दृष्टान्तों द्वारा जगत् के निमित्त तथा उपादान कारणों का पृथक्-पृथक् होना ही बताया गया है। इस मन्त्र में आये 'यथा' 'तथा' और सतः पुरुषात्' पदों पर ध्यान देने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है। मन्त्र में कहा गया है कि 'जैसे मकड़ी तन्तुजाल को बनाती और संहारती है 'वैसे ही' अक्षर ब्रह्म से जगत् का प्रादुर्भाव होता है'। मकड़ी से तन्तुजाल कैसे बनता है? यह सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं कि मकड़ी से तन्तुजाल तभी तक बनता है जब तक वह जीवित रहती है। न मृत शरीर से तन्तुजाल बनते देखा गया है और न शरीर

से निकलने के बाद शरीर रहित मकड़ी की आत्मा को कहीं जाल बनाते देखा गया है। स्पष्ट है कि मकड़ी की चेतना स्वयं तन्तुजाल में परिणत नहीं होती; चेतना के वहां रहते प्राकृत देह के अवयव ही तन्तुजाल में परिणत होते रहते हैं। इस प्रकार मकड़ी का जड़ रूप शरीर तन्तुजाल की उत्पत्ति में उपादान कारण तथा उसमें व्याप्त जीवात्मा निमित्त कारण है। वैसे ही व्यापक ब्रह्म अपने भीतर व्याप्त सूक्ष्मभूत प्रकृति और परमाणुओं से अपने ईक्षण द्वारा स्थूल रूप की सृष्टि की रचना करता है। यह परमात्मा की विशेषता है कि जहां अन्य निमित्त कारण (मनुष्यादि) रचना करके अपनी रचना से पृथक् रहते हैं वहां परमात्मा अपनी रचना में व्याप्य-व्यापक भाव से सदा वर्तमान रहता है। दूसरा दृष्टान्त पृथिवी से ओषधि आदि के उत्पन्न होने से सम्बन्धित है। यहां भी यह स्पष्ट है कि औषधि, वनस्पति आदि के उपादान तत्त्व उनके बीज होते हैं। पृथिवी का आश्रय पाकर ऊष्मा, जल आदि के निमित्त से ये बीज ही अंकुरित होते हैं। न बिना बीज के वनस्पति आदि की उत्पत्ति होती और न पृथिवी, जल आदि के बिना। तीसरा दृष्टान्त यह है—'यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि' जैसे पुरुष के रहते केशलोमादि प्रकट होते हैं। देहावयव ही केश, नख आदि के रूप में परिणत होने से ये सब देह के विकार हैं, देह में बैठे जीवात्मा के नहीं। 'सतः पुरुषात्' कहने से बिल्कुल स्पष्ट है कि देह से केशादि का प्रादुर्भाव तभी तक सम्भव है जब तक देह में जीवात्मा अधिष्ठित है। मृत देह से कुछ नहीं निकलता।

इस सन्दर्भ का प्रत्येक दृष्टान्त इस तथ्य की पुष्टि करता है कि न चेतन तत्त्व स्वतः किसी रूप में परिणत होता है और न चेतन तत्त्व की प्रेरणा के बिना जड़ प्रकृति ही कार्यरूप में परिणत होती है। हमारे इसी अर्थ का उपपादन इसी उपनिषद् के इससे पहले ही मन्त्र (१-१-६) में किया गया है। वहां कहा गया है—"यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।" ब्रह्मस्वरूप का वर्णन करने के लिये यहां जिन पदों का प्रयोग किया गया है उनसे स्पष्ट है कि ब्रह्म अव्यय अपरिणामी, सर्वगत-सर्वान्तर्यामी, नित्य तथा अदृश्य-इन्द्रियातीत होने से जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकता। उपादान कारण अव्यय-अपरिणामी नहीं होता। कार्यरूप में आते ही वह दृश्य आदि धर्म वाला हो जाता है। प्रकृति में ऐसा सम्भव होने से वही जगत् का उपादान कारण है। ब्रह्म ऐसा कभी नहीं हो सकता। अतः वह उपादान न होकर केवल निमित्त कारण है॥५४॥

उपनिषदों में उपलब्ध 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि तथाकथित महावाक्यों से प्रतीयमान जीव और ब्रह्म के एकत्व का खण्डन करने के लिए इन वाक्यों के वास्तविक अर्थ का कथन करते हैं—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसीति औपचारिकत्वेनोक्तम् ॥५५॥

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' आदि औपचारिक (आलंकारिक) रूप से कहे गये वाक्य हैं।

दर्शन में बुद्धितत्त्व प्रधान होता है, काव्य में रागात्मक तत्त्व। उपनिषदों में रागात्मक तत्त्व की प्रधानता होने से उनकी शैली में आलंकारिकता होने के कारण लक्षणा तथा व्यञ्जना का प्राचुर्य है। परिणामस्वरूप दर्शन और उपनिषदों में वस्तु का प्रस्तुतिकरण एक दूसरे से भिन्न है। जब विशुद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों को काव्य का रूप दिया जाता है तो अभिव्यक्ति भावप्रधान हो जाती है। तर्क वहां पर मौन नहीं तो गौण अवश्य हो जाता है। इसलिये एक समाधिस्थ योगी जब अपना चरम लक्ष्य-ब्रह्मानन्द प्राप्त कर लेता है तो उस अवस्था में उसका भावुक होजाना स्वाभाविक है। आनन्द की उस तीव्र अनुभूति में उसका अपना अस्तित्व खो सा जाता है। तब सब कुछ भूलकर वह कह उठता है—'लाली मेरे लाल की जित देखूं तित लाल'। परमात्मा के अतिरिक्त उसे कुछ सूझता ही नहीं। परमात्मा में वह इस प्रकार लीन हो जाता है कि तादात्म्य का अनुभव करते हुए वह कह जाता है कि वे दोनों एक हैं। भावात्मक एकता के उन क्षणों में यदि वह कह उठे कि वह ब्रह्म है तो उसे भावात्मक अभिव्यक्ति ही समझना चाहिये। ऐसे वाक्यों में शब्द के शरीर से अधिक उसकी आत्मा पर ध्यान देना चाहिये। लौकिक व्यवहार में हम आये दिन इस प्रकार के प्रयोग करते हैं। पति के मरने पर एक स्त्री जब 'हाय! मैं मर गई' कहकर विलाप करती है तो यह पति के साथ उसके तादात्म्य की भावात्मक अभिव्यक्ति ही है। विवाह संस्कार के अवसर पर पति-पत्नी दोनों कहते हैं—'यदेतद् हृदयं तव तदस्तु हृदयं मम यदेतद् हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव'। यहां भौतिक हृदयों के प्रत्यारोपण का प्रसंग नहीं है। यह दाम्पत्य सूत्र में बंधने वाले दो व्यक्तियों के परस्पर अत्यधिक प्रेम का परिचायक है। 'आत्मा वै जायते पुत्रः' में भी यही भाव हैं। उपनिषदों का अध्ययन भी अभिव्यक्ति की इस विशेषता को ध्यान में रखते हुए ही करना चाहिये; क्योंकि वहां इस प्रकार के वाक्य यत्र-तत्र भरे पड़े हैं। कहीं-कहीं तो बीच में पड़े एकाध शब्द से यह बात स्पष्ट भी हो जाती है। जैसे 'आत्मैवाभूद्विजानतः' (ईश. ७) में 'एव', 'एकत्वमनुपश्यतः' (ईश) में 'अनुपश्यतः', 'ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति' (मु. ३-३-९) में 'एव' जैसे पदों से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवात्मा 'ब्रह्म जैसा हो सकता है, 'ब्रह्म' नहीं। किन्तु अन्यत्र कई स्थल ऐसे भी हैं जहां पूर्वापर प्रसंग को भली प्रकार देखने पर ही यह स्पष्टीकरण हो पाता है। प्रस्तुत सूत्रान्तर्गत उपनिषदों के कुछ ऐसे ही वाक्य हैं जो 'महावाक्य' कहाते हैं और जिनके आधार पर जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया जाता है। वास्तव में वहां एकता का आभासमात्र है जैसा कि अगले सूत्रों को देखने से स्पष्ट हो जाता है ॥५५॥

सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति व्यापित्वद्योतनार्थम् ॥५६॥

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ईश्वर की व्यापकता को प्रकट करने के लिए कहा गया है। जिस प्रकार शरीर के अंग तभी तक सार्थक होते हैं जब तक वे शरीर के साथ जुड़े होते हैं उसी प्रकार प्रकरणस्थ वाक्य ही ठीक अर्थ देने में समर्थ होते हैं। प्रकरण से कट कर वे अनर्थ का कारण बन जाते हैं। अद्वैतवादी 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का अर्थ करते हैं कि यह सब जगत् ब्रह्म का ही रूप है। परन्तु प्रसंगानुकूल न होने से यह अर्थ सर्वथा अशुद्ध है। छान्दोग्योपनिषद् (३-१४-१) का यह प्रसंग निम्न प्रकार है–

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिंल्लोके भवति, प्रेत्य भवति। स क्रतुं कुर्वीत॥"

इसका सीधा अर्थ है–"यह सब ब्रह्म ही है (सर्वं खलु इदं ब्रह्म)। तज्ज+तल्ल+तदन् (तज्जलान् इति) अर्थात् उसी (ईश्वर) से सब उत्पन्न होता, उसी में लीन होता और उसी में प्राण धारण करता है। ऐसा जानकर (शान्त उपासीत) शान्त होकर उसी की उपासना करे। (अथ खलु) अब निश्चय (क्रतुमयः पुरुषः) मनुष्य वासनामय है अर्थात् जैसा वह विचार करता है वैसा ही बन जाता है (यथा क्रतुः अस्मिन् लोके पुरुषः भवति) जैसी वासना इस लोक में होती है (तथा इतः प्रेत्य भवति) वैसी ही यहां से मर कर (पश्चात् की योनि में) होती है। (सः क्रतुं कुर्वीत) इसलिये वह (उत्तम) कर्म करे।"

यहां स्पष्ट ही उपासना का प्रकरण है। किसी का स्वयं अपनी उपासना करना कितना अटपटा लगता है। उपास्य और उपासक एक नहीं हो सकते। उपासक जीव को उपास्य ब्रह्म की उपासना का उपदेश देते हुए जहां जीव को वासनामय बता कर शान्त भाव से ब्रह्म की उपासना करने के लिए कहा गया है वहां ब्रह्म को सर्वव्यापक बताते हुए उसे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का निमित्त कारण कहा गया है। तात्स्थ्योपाधि से 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का अर्थ है–यह सब जगत् 'ब्रह्म' अर्थात् 'ब्रह्मस्थ' है। साहचर्य तथा अगले पिछले प्रकरण और अभिप्राय को देखते हुए 'इदम्' शब्द का अन्वय 'सर्वम्' के साथ न होकर ब्रह्म के साथ ही हो सकता है। जैसे 'इदं सर्वं घृतम्' का अर्थ है–'यह सब घृत है अर्थात् इसमें किसी अन्य वस्तु का मिश्रण नहीं है' इसी प्रकार 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का अर्थ है कि 'निश्चय ही यह सब ब्रह्म–अर्थात् 'शुद्ध ब्रह्म' (शुद्धमपापविद्धम्) है। इस चेतन अखण्डैकरस ब्रह्म में माया, अविद्या आदि कुछ नहीं है। 'तज्जलान्' का सीधा अर्थ है कि वह ब्रह्म अपने भीतर सूक्ष्म रूप में स्थित कारण रूप प्रकृति से सर्ग काल में सृष्टि को उत्पन्न कर, स्थिति काल में उसे धारण करता तथा प्रलय काल में पूर्व की भांति समेट कर पुनः अपने भीतर धारण कर लेता है। उपास्य के रूप में ब्रह्म, उपासक के रूप में जीव (पुरुष) तथा कार्यरूप जगत् तीनों का एक साथ उल्लेख होने से यह मन्त्र स्पष्ट ही त्रैतवाद का प्रतिपादक है॥५६॥

तात्स्थ्योपाधित्वेनोक्तमहं ब्रह्मास्मीति ॥५७॥

तात्स्थ्योपाधि से 'अहं ब्रह्मास्मि' कहा गया है।

प्रायः सुना जाता है—'मञ्चाः क्रोशन्ति' अर्थात् मंच पुकारते हैं। मंच तो जड़ हैं। उनमें पुकारने का सामर्थ्य कहां ? इसलिए 'मञ्च' का अर्थ यहां 'मञ्च-स्थाः मनुष्याः' है। जीव का ब्रह्म से साहचर्य तथा संयोग सम्बन्ध है। जिस प्रकार प्रायः एक साथ रहने और सहयोग करने वाले दो व्यक्तियों को लोग 'दो शरीर और एक आत्मा' अथवा 'ये दोनों तो एक ही हैं' कह देते हैं उसी प्रकार जब जीव परमेश्वर के से गुण-कर्म-स्वभाव बनाकर समाधि दशा में उसका प्रत्यक्ष करते हुए आनन्द से आप्लावित होता है तो वह और ब्रह्म एक अर्थात् परस्पर अविरोधी हो जाते हैं। परन्तु इससे यह समझ लेना कि जीव और ब्रह्म वास्तव में एक हैं अथवा ब्रह्म से भिन्न जीव की अपनी कोई सत्ता नहीं है, युक्ति-युक्त नहीं होगा। इस प्रकार यह वाक्य जीव के ब्रह्म के साथ अत्यधिक सान्निध्य का ही द्योतक है ॥५७॥

अयमात्मा ब्रह्मेत्यपि तथैव ॥५८॥

'अयमात्मा ब्रह्म' भी उसी प्रकार (तात्स्थ्योपाधि से) कहा गया है।

समाधि दशा में जब योगी को ब्रह्म का साक्षात्कार होता है तो वह आत्म-विभोर होकर कह उठता है—'अयमात्मा ब्रह्म' अर्थात् जो मेरे भीतर व्यापक है वही ब्रह्म सर्वव्यापक है। आनन्दोल्लास के क्षणों में कहा गया यह वचन अपने उपास्य का प्रत्यक्षानुभवविधायक वाक्य है। "जैसे इस शरीर में व्यापक होने से मैं इसका आत्मा हूं वैसे ही मेरे अन्दर व्यापक होने से यह ब्रह्म मेरा भी आत्मा है"। जिस प्रकार 'ओं खं ब्रह्म, का अर्थ 'परमेश्वर आकाश है' न होकर परमेश्वर 'आकाशवत् व्यापक' है उसी प्रकार 'अयमात्मा ब्रह्म' का वास्तविक अर्थ 'यह आत्मा ब्रह्म है' न होकर 'यह ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है' है। इस प्रकार यह वाक्य भी 'तात्स्थ्योपाधि' वा 'तत्सहचरितोपाधि' से कहा गया भक्ति भाव के अतिरेक का द्योतक है ॥५८॥

तत्त्वमसीति तादात्म्यभावेन ॥५९॥

'तत्त्वमसि' तादात्म्य की भावना से कही हुई उक्ति है।

पूर्वापर प्रकरण को छोड़कर ही इस वाक्य को जीव और ब्रह्म की एकता की सिद्धि के लिये प्रस्तुत किया जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् (६-८-७) का यह प्रकरण निम्न प्रकार है—

'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदँसर्वं तत्सत्यँस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति।'

उद्दालक अपने पुत्र श्वेतकेतु को उपदेश देते हैं—जो यह अत्यन्त सूक्ष्म और

सब जगत् और जीवों का आत्मा है वही सत्यस्वरूप और अपना आत्मा आप ही है । हे श्वेतकेतो ! तदात्मकस्तदन्तर्यामी त्वमसि'–उसी अन्तर्यामी परमात्मा से तू युक्त है' ।

बृहदारण्यक के छटे प्रपाठक के निम्न मन्त्र से इसी अर्थ की पुष्टि होती है–'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।'

यहां बिल्कुल स्पष्ट कर दिया गया है कि जीवात्मा में रहता हुआ भी परमेश्वर उससे भिन्न है । जिस प्रकार स्थूल शरीर में जीवात्मा रहता है उसी प्रकार जीवरूपी शरीर में परमात्मा रहता है जैसे शरीर से जीव भिन्न है वैसे ही जीव से परमेश्वर भिन्न है । जिस प्रकार घर आकाश से भिन्न नहीं तथा आकाश घर से भिन्न नहीं तथापि आकाश और घर एक भी नहीं उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा व्याप्य-व्यापक भाव से अभिन्न होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न हैं ॥५६॥

अद्वैतवाद की सिद्धि में एक प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है—

एकमेवाद्वितीयमिति छान्दोग्ये ॥६०॥

एक ब्रह्म ही है, दूसरा कोई नहीं–ऐसा छान्दोग्य उपनिषद् में कहा है ।

सजातीय, विजातीय और स्वगत अवयवों के भेद न होने से एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता सिद्ध है । वह अद्वितीय है अर्थात् उसके अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है ॥६०॥

छान्दोग्य के इस वाक्य का वास्तविक अर्थ बताते हुए अद्वैतवाद की समीक्षा करते हैं—

अद्वितीयमिति ब्रह्मणो विशेषणम् ॥६१॥

'अद्वितीय' ब्रह्म का विशेषण है ।

वस्तुतः 'द्वैत' न हो तो अद्वैत की भी सिद्धि सम्भव न हो सके । 'अद्वैत' शब्द का अर्थ है–'द्वयोर्भावो द्विता, द्वितैव द्वैतम्, न विद्यते द्वैतं यस्मिंस्तद् अद्वैतम्' । 'द्वि' शब्द की प्रवृत्ति के कारण भाव का नाम है 'द्विता' अर्थात् 'द्वि' शब्द की प्रवृत्ति का कारण है–भेद । विना भेद के 'द्वि' शब्द की प्रवृत्ति नहीं हो सकती । अतः 'द्विता' का मुख्य अर्थ हुआ–भेद । 'द्विता' से स्वार्थ में 'अण्' होकर 'द्वैत' निष्पन्न होता है । इस प्रकार 'द्विता'=द्वैत=भेद नहीं है जिसमें वह 'अद्वैत' हुआ अर्थात् सजातीय विजातीय भेद शून्य ।

अब विचारणीय यहां यह है कि यदि अद्वैतवादियों के मत में ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरा कोई पदार्थ नहीं है तो द्विता या 'द्वैत' की सिद्धि कैसे होगी ? और उसके अभाव में 'अद्वैत' ब्रह्म का विशेषण कैसे बनेगा ? यदि मिथ्या प्रपञ्चरूप

जगत्स्थ पदार्थों की दृष्टि से द्वैत की सिद्धि मानी जायेगी तो मिथ्या की अपेक्षा से होने वाला द्वैत भी मिथ्या ही होगा। तब उसके अभाव को द्योतन करने वाला अद्वैत भी मिथ्या ही सिद्ध होगा। फिर वह मिथ्या विशेषण सद्ब्रह्म का कैसे हो सकता है? अतः 'अद्वैत' शब्द ही बता रहा है कि कहीं 'द्वैत'=भेद सत्यरूप से अवश्य विद्यमान है और उस सत्य द्वैत=भेद के अभाव का निर्देश ही 'अद्वैत' शब्द से होता है। इस प्रकार 'अद्वैत' शब्द ब्रह्म का विशेषण मात्र है। इससे जीव और प्रकृति का अथवा कार्यरूप जगत् का अभाव या निषेध नहीं होता ॥६१॥

इस सन्दर्भ में विशेषण का धर्म बताते हैं—

व्यावर्त्तकं प्रवर्त्तकञ्च विशेषणम् ॥६२॥

विशेषण व्यावर्त्तक और प्रवर्त्तक दोनों होता है।

यह ठीक है कि 'व्यावर्त्तकं विशेषणं भवतीति' विशेषण भेद कारक होता है परन्तु 'प्रवर्त्तकं प्रकाशकमपि विशेषणं भवतीति' विशेषण प्रवर्त्तक और प्रकाशक होता है—यह भी उतना ही सत्य है। 'अद्वैत' ब्रह्म का विशेषण है। व्यावर्त्तक धर्म के रूप में 'अद्वैत' ब्रह्म को जीवों तथा अन्य वस्तुओं से पृथक् करता है और प्रवर्त्तक एवं प्रकाशक धर्म के नाते वह ब्रह्म के एक होने की प्रवृत्ति करता है। यदि किसी के सम्बन्ध में यह कहा जाये कि वह अद्वितीय विद्वान् या योद्धा है तो इसका इतना ही अभिप्राय है कि उसके समान विद्वान् या योद्धा नहीं है, न कि यह कि उससे अतिरिक्त और कोई विद्वान् या योद्धा संसार में है ही नहीं। इसी प्रकार ब्रह्म को अद्वितीय कहने का यह अर्थ नहीं कि उससे भिन्न पृथ्वी आदि जड़ पदार्थों तथा मनुष्य, पश्वादि प्राणियों का अस्तित्व ही नहीं है। इसका अभिप्राय इतना ही है कि ब्रह्म के सदृश अन्य कुछ नहीं है और जहां जीव तथा प्रकृतिस्थ तत्त्व अनेक हैं वहां ब्रह्म सदा से एक है—न दो हैं, न तीन आदि २। इस प्रकार अद्वितीय शब्द से ब्रह्म का एकत्व तथा अन्य पदार्थों से विलक्षण होना सिद्ध है ॥६२॥

अब जीव और ब्रह्म की एकता का आभास कराने वाले कतिपय अन्य वाक्यों पर विचारार्थ पूर्वपक्ष उपस्थित करते हैं—

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति तैत्तिरीये अनेनात्मना जीवेनानुप्रविश्येति छान्दोग्ये ब्रह्मणः जीवत्वम् ॥६३॥

'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' से तैत्तिरीय उपनिषद् में तथा 'अनेनात्मना जीवेनानुप्रविश्य इत्यादि' से छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्म का जीव रूप होना कथन किया है।

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' (तै० उ० ब्रह्म वल्ली ६) अर्थात् जगत् को उत्पन्न

करके फिर, वही ब्रह्म प्रविष्ट हुआ और 'अनेनात्मना जीवेनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा. उ. ६-३-२) अर्थात् मैं जगत् और शरीर को रच कर उसमें जीवरूप में प्रविष्ट हो नामरूप की व्याख्या करता हूं—इत्यादि वचनों से उपनिषदों के अनुसार जीव तथा ब्रह्म की एकता प्रमाणित है ॥६३॥

इसका समाधान करने के लिए कहा—

प्रवेशानन्तरमनुप्रवेशः ॥६४॥

प्रवेश के पश्चात् अनुप्रवेश होता है।

उपनिषदों की इन उक्तियों में 'अनु' (पश्चात्) उपसर्ग पर ध्यान देने से सारी भ्रान्ति दूर हो जाती है। 'प्रवेश' के पश्चात् 'अनुप्रवेश' होने से स्पष्ट है कि पहले एक प्रविष्ट हुआ, तदनन्तर दूसरा। पहले और पीछे प्रविष्ट होने से उनका द्वैत स्वयंसिद्ध है। 'शरीरं प्रविष्टो जीवः, जीवमनुप्रविष्ट ईश्वरः' अर्थात् अपनी व्यवस्था के अनुसार शरीर में जीव को प्रविष्ट कराके परमेश्वर जीव के भीतर अनुप्रविष्ट होता है। सहार्थ में तृतीया विभक्ति है—'अनेन जीवात्मना शरीरं प्रविष्टेन सह तं जीवमनुप्रविश्याहमीश्वरो नामरूपे व्याकरवाणीत्यन्वयः'। इस प्रकार व्याप्य-व्यापक भाव से प्रवेश करने वाला तथा जिसमें वह प्रविष्ट होता है उन दोनों का अलग-अलग होना निश्चित है। यहां भी यह सब औपचारिक रूप में कथित है। अन्यथा सदा से सर्वव्यापक परमेश्वर के कहीं प्रवेश करने का प्रश्न ही नहीं उठता ॥६४॥

अद्वैतवादी का तर्क है कि तैत्तिरीय उपनिषद् (ब्रह्मा. वल्ली ७) के अन्तर्गत 'अथोदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति' जो जीव और ब्रह्म में थोड़ा भी भेद करता है उसे भय होता है। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् का भी वचन है—'द्वितीयाद् वै भयं भवति' (१-४-२) दूसरे से ही भय होता है। इस तर्क का उत्तर देते हुए कहा—

द्वितीयादिति विरोधाद् वै भयम् ॥६५॥

द्वितीय अर्थात् विरोधी से भय होता है।

वास्तव में यहाँ 'द्वितीय' का अर्थ अथवा अभिप्राय द्वितीय या विरोधबुद्धि है। विरोध के रहने से दुःख और न रहने से सुख होता है। एक से गुण-कर्म-स्वभाव वाले दो मनुष्य भी एक कहाते और मिलकर रहते हैं। जो जीव परमेश्वर को एक देशकाल में परिच्छिन्न मानकर उसकी आज्ञा का उल्लंघन करता है वह परमेश्वर का विरोधी होने से दुःख पाता है। अपने को परमेश्वर से अभिन्न मानकर भी पापी मनुष्य दण्ड से नहीं बच सकता ॥६५॥

नवीन वेदान्तियों द्वारा मान्य अनादि पदार्थों का उल्लेख करते हैं—

जीवेशब्रह्मचिद्भिभेदाविद्यातच्चित्तोर्योगश्चानादयः वेदान्ते ॥६६॥

जीव, ईश्वर, ब्रह्म, जीव-ईश्वर का विशेष भेद, अविद्या तथा अविद्या और चेतन का योग—वेदान्त में ये छः अनादि पदार्थ हैं। इनमें एक ब्रह्म अनादि-अनन्त और शेष पांच अनादि सान्त हैं। जब तक अज्ञान रहता है तब तक ये पांच रहते हैं। आदि विदित न होने से ये अनादि हैं और ज्ञान होने पर नष्ट हो जाने से सान्त हैं ॥६६॥

इन तथाकथित अनादि पदार्थों का विश्लेषण करके कहते हैं—

पदार्थद्वयमेव, ब्रह्मैकमपरा चाविद्येति ॥६७॥

(वस्तुतः) दो ही पदार्थ (अनादि) हैं—एक ब्रह्म और दूसरा अविद्या।

नवीन वेदान्तियों के छः अनादि पदार्थों का विवेचन करने पर दो ही रह जाते हैं। उनके मत में अविद्या की उपाधि से जीव और माया की उपाधि से ईश्वर बनता है। इसलिये किसी कारण से उत्पन्न होने से ये अनादि नहीं हो सकते। जब ईश्वर और जीव ही, अनादि नहीं तो उन दोनों का विशेष भेद और 'तच्चित्तोर्योगः' अर्थात् अविद्या और चेतन का योग कैसे अनादि होंगे? इस प्रकार शुद्ध ब्रह्म और अविद्या दो ही पदार्थ बचे रह जाते हैं। इनमें भी अविद्या की कल्पना अनेक दोषों का घर है जिसकी विस्तृत समीक्षा हम पहले कर आये हैं। इस प्रकार वेदान्त में एक ब्रह्म ही अनादि पदार्थ हैं। परन्तु अविद्या का साथ वे नहीं छोड़ पाते।

पांच पदार्थों को अनादि किन्तु सान्त मानना भी तर्कशास्त्र के विरुद्ध है। 'अन्तवत्त्वे सत्यादिमत्वप्रसंगः, आदिमत्वे सत्यन्तवत्वप्रसंगः'—जिसका अन्त होता हैं उसका आदि अवश्य होता है और जिसका आदि होता है उसका अन्त अवश्य होता है। इस न्याय के अनुसार जिसका आदि नहीं होता उसका अन्त भी नहीं होता। अतः वेदान्तियों के शेष पांच पदार्थ यदि अनादि हैं तो अनन्त और यदि सान्त हैं तो सादि अवश्य होने चाहियें।

आश्चर्य की बात तो यह है कि एक शुद्ध ब्रह्म को छोड़कर अन्य पांचों को नवीन वेदान्ती 'मायिक' अर्थात् मायाकृत मानते हैं। जैसे कायिक शब्द के अर्थ काया से उत्पन्न वस्तु के हैं वैसे ही व्याकरण की रीति से मायिक शब्द के अर्थ माया से उत्पन्न वस्तु के हैं। परन्तु ये लोग व्याकरण की उपेक्षा करके मनमाने अर्थ करते और वेदान्त के नाम पर वेदान्त सूत्रों के विपरीत कल्पना जगत् की सृष्टि करते हैं। तीन अनादियों को छोड़कर ब्रह्म और ईश्वर नाम से दो-दो ईश्वरों, अविद्या, अविद्या तथा चेतन का सम्बन्ध आदि के अनादित्व का नाम तक वेदान्त-सूत्रों में कहीं नहीं मिलता ॥६७॥

कार्योपाधि से ब्रह्म का जीवरूप होना तथा कारणोपाधि से उसका ईश्वर रूप होना भी युक्तियुक्त नहीं है—

न कार्यकारणोपाधिभ्यां जीवेश्वरौ सर्वगते ब्रह्मण्यज्ञाना-भावात् ॥६८॥

कार्यकारणोपाधि से भी जीव और ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि अनन्त नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव सर्वव्यापक ब्रह्म में अज्ञान का नितान्त अभाव है। किसी भी अवस्था में कार्यरूप होने पर ब्रह्म परिणामी तथा अज्ञानी हो जायेगा।

विपरीतज्ञानस्य च नित्यत्वशङ्कया ॥६९॥

यदि अज्ञान के कारण ब्रह्म परिणामी होगा तो ब्रह्म के साथ अज्ञान भी नित्य होगा क्योंकि गुण-गुणी का समवाय सम्बन्ध होने से वह ब्रह्म को और ब्रह्म उसको नहीं छोड़ सकेगा ॥६९॥

ब्रह्म और जीव की भिन्नता युक्तियों से सिद्ध करने के उपरान्त वेदादि शास्त्रों के प्रमाणों से इसकी पुष्टि करते हैं—

श्रुतिप्रामाण्यात् त्रैतसिद्धिः ॥७०॥

श्रुति-वेद के प्रमाणों से ब्रह्म, जीव और प्रकृति की भिन्नता सिद्ध है।

चारों संहिताओं में अनेक स्थलों पर ईश्वर, जीव और प्रकृति के सर्वथा भिन्न होने का उल्लेख मिलता है। यहां केवल उदाहरणार्थ कुछ मन्त्र प्रस्तुत किये जाते हैं—

१— **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।**
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

ऋ० १-१६४-२०

इस मन्त्र में स्पष्ट ही वृक्ष के रूप में प्रकृति का, पाप पुण्यरूप फलों का भोग करने वाले के रूप में जीव का और केवल द्रष्टा के रूप में ईश्वर का कथन करके जीव से ईश्वर का, ईश्वर से जीव का तथा इन दोनों से प्रकृति का भिन्न होना प्रतिपादित है।

सायणाचार्य के पूर्ववर्ती स्वामी आत्मानन्द इस मन्त्र का भाष्य करते हुए लिखते हैं–'द्वौ अभ्युदयनिःश्रेयसपक्षान् बिभ्रतौ जीवपरमात्मनौ ···तयोर्मध्ये (एकः) जीवः (पिप्पलं) बहुदोषयुक्तमपि कर्मफलं स्वादुकृत्वा (अत्ति) स्वादिति। (अन्यः) परः परमात्मा (अनश्नन्) अभुञ्जानोऽपि अभितः अत्यर्थं प्रकाशते ॥"

इस प्रकार स्वामी आत्मानन्द कृत भाष्य के अनुसार भी यह मन्त्र स्पष्टतः जीवेश्वर-प्रकृति-भेद का प्रतिपादक है।

२— **ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।**
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद् धनम्॥

यजु० ४०-१

इस मन्त्र में भी व्यापक 'ईश' और उसके व्याप्य अथवा वास्य 'जगत्' दोनों का उल्लेख है। साथ ही जिसे 'त्यक्तेन भुञ्जीथा' का उपदेश किया गया है उस 'भोक्ता' जीव का भी दोनों से पृथक अस्तित्व बताया गया है। न व्याप्य-व्यापक एक हो सकते हैं और न भोग्य-भोक्ता।

३— वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसस्परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते विद्यतेऽयनाय ॥
यजु० ३१-१८

इस मन्त्र में एक 'महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्' पुरुष है और दूसरा उसे जानने वाला और जानकर मोक्ष प्राप्त करने वाला है। ज्ञाता और ज्ञेय दोनों एक नहीं हो सकते।

४— ओ३म् क्रतोस्मर, क्लिवे स्मर, कृतँस्मर ॥ यजु ४०-१५

अर्थात् हे (क्रतो) कर्मशील जीव तू (ओ३म् स्मर) परमेश्वर का स्मरण कर.... (कृतं स्मर) किये हुए कर्मों का स्मरण कर।' यहाँ भी उपास्य ब्रह्म तथा उपासक एवं कर्मफल भोक्ता जीव का भेद स्पष्ट है।

५— न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति ॥
ऋ १०-८२-७

अर्थात् हे जीवों, तुम उस परमात्मा को नहीं जानते जिसने इन सब पदार्थों को उत्पन्न किया है। वह परमात्मा (युष्माकमन्तरं बभूव) तुम्हारे अन्दर है, फिर भी वह तुमसे (अन्यत्) भिन्न है। तुम 'नीहारेण प्रावृताः' अज्ञानान्धकार से आवृत होने के कारण उसे नहीं जानते।

अद्वैतवादी होते हुए भी सायण, महीधर और उव्वट को भी इस मन्त्र के भाष्य में जीवेश्वर भेद को स्वीकार करना पड़ा है। ऋग्वेद भाष्य तथा काण्व-संहिता भाष्य (यह मन्त्र यजुर्वेद १७-३१ में भी आया है) में सायणाचार्य लिखते हैं—"हे नराः तं विश्वकर्माणं न जानीथ य इमानि भूतानि उत्पादितवान् यूयं नीहारसदृशेनाज्ञानेनाच्छन्नाः अतो न जानीथ। ईदृशाज्ञानेन सर्वे जीवाः प्रावृताः। युष्माकमहं प्रत्ययगम्यानां जीवानामन्तरं अन्यत् अहं प्रत्ययगम्याति-रिक्तं सर्ववेदान्तवेद्यं ईश्वरतत्त्वं भवति विद्यते।"

वेद मन्त्र में आये 'अन्यद् युष्माकमन्तरं बभूव' तथा सायणभाष्य में 'जीवानां अन्तरं अन्यत् अतिरिक्तम्' इत्यादि शब्दों में जीव ब्रह्म का भेद स्पष्ट है। इस मन्त्र की व्याख्या में शतपथ ब्राह्मण (१४-६-७) में कहा गया है—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्।
य आत्मनि तिष्ठन्नन्तरो यमयत्येष स आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥

अर्थात् "जो आत्मा के अन्दर स्थित होता हुआ भी आत्मा से भिन्न है, जिसको अज्ञानी आत्मा नहीं जानता, आत्मा जिसके शरीर के समान है, आत्मा

के अन्दर स्थित होकर जो आत्मा का नियमन करता है वह तेरा अन्तर्यामी आत्मा परमेश्वर है।" इससे बढ़कर जीवेश्वर भेद का प्रतिपादन और क्या हो सकता है ?

६— इन्द्र क्रतुं न आभर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षा योऽस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥
साम० २५९

इन्द्र नाम से परमेश्वर को सम्बोधित करते हुए कहा है कि 'हे इन्द्र ! जिस प्रकार पिता पुत्र को देता है उसी प्रकार तू हमें ज्ञान दे...जिससे हम जीव ज्ञान ज्योति प्राप्त कर सकें।' इस मन्त्र में जीव की ब्रह्म से भिन्नता के साथ-साथ जीवों की अनेकता का भी कथन किया है। सायण और माधव ने भी इस मन्त्र का भाष्य करते हुए प्रार्थी जीवों को ईश्वर से भिन्न माना है।

ईश्वर और जीव में पिता-पुत्र के सम्बन्ध के द्योतक अनेक मन्त्र हैं। जैसे 'स नः पितेव सूनवे' (ऋ० १-१-९) 'स नः पिता' (ऋ० ८-५२-५), 'यो न पिता जनिता यो विधाता' (ऋ० १९-८२-३), 'त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ' (ऋ० ८-९८-११)।

पिता—पुत्र एक नहीं हो सकते। यह सम्बन्ध भेद में ही सम्भव है।

७— त्वं हि शाश्वतीनां पती राजा विशामसि। ऋ० ८-९५-३

यहां ईश्वर को नित्य सनातन प्रजाओं का पति बताकर जीव और ईश्वर में सेवक-स्वामी-सम्बन्ध स्थापित कर ईश्वर से जीवों की भिन्नता का प्रतिपादन किया गया है।

८— कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। यजु० ४०-८

अर्थात् परमेश्वर ने अपनी (शाश्वतीभ्यः समाभ्यः) जीवरूप सनातन प्रजाओं के लिये यथार्थ व सत्यरूप से पदार्थों को बनाया।

इस मन्त्र में जीव की ईश्वर से भिन्नता के साथ-साथ उसके अनादित्व का भी प्रतिपादन किया है। जगत् के मिथ्या न होकर यथार्थ (याथातथ्यतः) होने का भी उल्लेख स्पष्ट है। संसार के मिथ्या न होने की पुष्टि में कुछ और वेद मन्त्र प्रस्तुत किये जाते हैं—

९— प्र धान्वस्य महतो महानि सत्या सत्यस्य करवाणि।
ऋ० २-१५-१

अर्थात् इस महान् सत्यस्वरूप ईश्वर के कार्य भी महान् और सत्य हैं।

१०— सत्रा सोमा अभवन्नस्य विश्वे सत्रा मदासो बृहतो मदिष्ठाः।
ऋ० ४-१७-६

अर्थात् परमेश्वर के सब उत्पादित पदार्थ और ऐश्वर्य (सत्ता) सत्य-वास्तविक (सत्रा इति सत्यनाम-निघण्टु ३-१०) हैं।

११– यच्चिकेत सत्यमित् तन्न मोघं वसु स्पार्हमुत जेतोत दाता ।
ऋ० १०-५५-६

अर्थात् यह परमेश्वर जिस जगत् को जानता है वह (सत्यम् इत) सत्य ही है (न मोघम्) व्यर्थ वा असत्य नहीं है ।

१२– प्रासावीद देवः सविता जगत् पृथक् । साम० ११५८

अर्थात् सर्वप्रेरक परमेश्वर ने उस जगत् को उत्पन्न किया जो उससे पृथक् है ।

१३– बालादेकमणीयस्कमुतैकं नैव दृश्यते ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥ अथर्व० १०-८-२५

(एकं) एक जीवात्मा (बालादणीयस्कं) बाल से भी अतिसूक्ष्म है । (उत) और (एकं) एक प्रकृति मानो (नैव दृश्यते) दीखती ही नहीं । (ततः) उससे भी (परिष्वजीयसी) सूक्ष्म और व्यापक जो देवता है वही मुझे प्रिय है ।

प्रकृति परमाणु अतिसूक्ष्म हैं, जीवात्मा भी सूक्ष्म है, उनसे भी सूक्ष्म परमात्मा है । इस प्रकार इस मन्त्र में तीनों अनादि तत्त्वों का निर्देश है ।

१४– त्रयः केशिनः ऋतुथा विचक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम् । विश्वमेको अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम् ॥ ऋ० १-१६४-४४

(त्रयः) तीन (केशिन) प्रकाशमय पदार्थ (ऋतुथा) नियमानुसार (विचक्षते) विविध कार्य कर रहे हैं । (एषाम्) इनमें से (एकः) एक (संवत्सरे) सृष्टिकाल में अथवा वास योग्य संसार में (वपते) बीज डालता है । (एकः) एक (शचीभिः) शक्तियों से, कर्म से, बुद्धि से (विश्वं) विश्व को (अभिचष्टे) दोनों ओर से देखता है । (एकस्य) एक का (ध्राजि) वेग तो दीखता है (ददृशे) किन्तु (रूपं न) रूप नहीं दीखता ।

यहां जीवों को कर्मफल देने के लिए प्रकृति में बीज डालने अथवा कार्यरूप देने वाले के रूप में ईश्वर का, भले बुरे दोनों प्रकार के फल भोगने वाले के रूप में जीव का तथा कार्यरूप में दीखने पर भी सूक्ष्म होने से कारणरूप में न दीखने वाली प्रकृति का वर्णन किया गया है ।

१५– अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यशनः ।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥
ऋ० १-१६४-१

(तस्य) उस प्रभु को (मध्यमः भ्राता) गुणों में मध्यम भाई (अश्नः) खाने वाला--भोक्ता जीव है । (तृतीयः भ्राता) तीसरा भाई (घृतपृष्ठः) घृत--भोग्य पदार्थों (घृत भोग का उपलक्षण है) का पृष्ठ--आधारभूत प्रकृति है । यहां प्रकृति-प्रधान के सात पुत्र हैं--महत्तत्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्रायें ॥७०॥

उपनिषत्स्वप्युक्तत्वात् ॥७१॥

उपनिषदों में भी कहा गया होने से।

ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों के अनादि होने के प्रमाण उपनिषदों में भी अनेकत्र मिलते हैं। उदाहरणार्थ—

१-'द्वा सुपर्णा' इत्यादि ऋग्वेद (१-१६४-२०) का यह मन्त्र मुण्डकोपनिषद् (३-१-१) तथा श्वेताश्वतर उपनिषद (४-६) में ज्यों का त्यों उद्धृत करके वेदानुकूल ईश्वर, जीव, तथा प्रकृति के अनादित्व का प्रतिपादन किया गया है। मुण्डकोपनिषद् में इस मन्त्र का भाष्य करते हुए श्री शंकराचार्य 'सयुजौ सदैव सर्वदा युक्तौ (सखायौ) समानाख्यानौ आत्मेश्वरौ' लिखकर ईश्वर के समान ही जीव का भी अनादित्व स्वीकार करते हैं। आगे कहते हैं "तयोः परिष्वक्तयोः (अन्यः) एकः (पिप्पलं) कर्मनिष्पन्नं सुखदुखलक्षणं फलं (स्वाद्वत्ति स्वादु भक्षयति। (अन्यः) इतर ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सर्वज्ञः सर्वसत्वोपाधिः ईश्वरः (अनश्नन्) न अश्नाति। प्रेरयिता ह्यसौ उभयोर्भोज्य-भोक्त्रोर्नित्यसाक्षित्वसत्तामात्रेण स अनश्नन् (अभिचाकशीति) पश्यत्येव केवलम्।"

इस प्रकार इस मन्त्र के भाष्य में शंकराचार्य ने भोक्ता जीव, भोग्य प्रकृति ओर दोनों के द्रष्टा एवं प्रेरक ईश्वर तीनों की स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन किया है। 'आत्मेश्वरौ' इस समस्त पद में 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' का स्पष्ट निषेध है। स्वामी शंकराचार्य द्वारा यत्र तत्र प्रयुक्त 'लिंगोपाधि' 'मायोपाधि' शब्दों का मन्त्र में कहीं संकेत नहीं है।

मुण्डकोपनिषद् में उद्धृत इस वेदमन्त्र की व्याख्या के रूप में दिया निम्न मन्त्र भी समानरूप से महत्वपूर्ण है—

२— समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यति अन्यमीशं अस्य महिमानमितिवीतशोकः॥
मुण्डक ३-२

अर्थात् अनादि नित्य जीव प्रकृति रूपी वृक्ष के भोग में निमग्न मोह के कारण शोक करने लगता है। किन्तु जब वह उसी वृक्ष पर निर्लिप्त भाव से बैठे अपने से अन्य अर्थात् भिन्न आनन्दस्वरूप परमेश्वर को देखता और उसकी महिमा को अनुभव करता है तो शोकरहित हो जाता है।

यदि वास्तव में जीव ब्रह्म का ही रूप होता तो वह किसी भी अवस्था में मोह, अज्ञान, दुख आदि से ग्रस्त न होता। मन्त्र में 'मुह्यमानः पुरुषः' तथा 'अन्यमीशम्' पदों के रहते नवीन वेदान्तियों का जीवेश्वर का अभेद सिद्ध करने की चेष्टा करना व्यर्थ की खेंचातानी है।

३— अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥
श्वेत० ४-५

लाल, सफ़ेद और काले रंग की एक 'अजा' है जो अपने ही रंग रूप वाली अनेक अजाओं का सर्जन कर रही है। एक 'अज' है जो उस अजा से प्रीति करता और उसका उपभोग करता है। एक दूसरा 'अज' है जो उस भुक्तभोगा अजा को छोड़ देता है अर्थात् उसका भोग नहीं करता। 'अज' का अर्थ है अ+ज–जो पैदा न हो, अजन्मा-अनादि एवं नित्य हो। तीन 'अज' अर्थात् अनादि हैं–एक भोग्य-सत्त्व-रजस्-तमस् रूपी प्रकृति, दूसरा उसके भोगने वाला अज अर्थात् जीवात्मा और तीसरा न भोगने वाला अज अर्थात् परमात्मा। जीवात्मा प्रकृति में रम जाता है, परमात्मा नहीं रमता। ऋग्वेद (१-१६४-२०) के समान ही उपनिषद् के इस मन्त्र में ईश्वर-जीव-प्रकृति की भिन्नता का स्पष्ट वर्णन है।

श्री शंकराचार्य का कथन है कि मन्त्र में प्रकृति का स्पष्ट उल्लेख न होने से यहां 'अजा' पद प्रकृति का नहीं अपितु बकरी का वाचक है। किन्तु उनकी यह मान्यता युक्तियुक्त नहीं है। प्रथम तो प्रस्तुत प्रकरण में बकरी के लिए कोई स्थान नहीं है। फिर, ऐसा मानने पर 'अज' भुक्तभोगा, अनुशेते तथा जहात्येनाम्' आदि पदों की संगति नहीं लगेगी। 'अजा' के साथ विशेषण भी ऐसे और इतने हैं कि उनके रहते और कुछ अर्थ नहीं हो सकता।

४– नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥
कठ० ५-१३

इस मन्त्र में 'नित्यानां' बहुवचन पद से स्पष्ट है कि नित्य पदार्थ कम से कम तीन अवश्य हैं। ये ईश्वर-जीव-प्रकृति हैं। तीनों के नित्य होने पर भी प्रकृति के परिणामी होने तथा जीव के जन्म-मरण के बन्धन में होने कारण परमात्मा को 'नित्यो नित्यानाम्'–नित्यों में नित्य कहा गया है।

५ ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥
कठ १-३

इस सन्दर्भ में द्विवचनान्त पदों से जिन दो का वर्णन है वे जीवात्मा और परमात्मा हैं। दोनों ऋत का पान करने वाले हैं। 'ऋत' का अर्थ है सत्य अथवा नियत व्यवस्था। जीवात्मा व्यवस्थापूर्वक कृत कर्मों का फल भोगता और आगे कर्मानुष्ठान में लगा रहता है–यह उसका ऋतपान है। परमात्मा अपनी व्यवस्था के अनुसार विश्व की उत्पत्ति, पालन और लय आदि में संलग्न रहता है–यह परमात्मा का ऋतपान है। जीवात्मा का कार्यक्षेत्र देहमात्र है और ब्रह्म का समस्त विश्व। छाया और आतप अर्थात् अन्धकार और प्रकाश के

समान एक अल्पज्ञ और दूसरा सर्वज्ञ है। दोनों हृदय देश (उपनिषदों में अध्यात्म प्रकरणों में 'गुहा' पद सर्वत्र हृदय प्रदेश के लिए प्रयुक्त हुआ है) में प्रविष्ट हैं।

६— दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥ मुण्डक २-१-२

इस मन्त्र का अन्तिम वाक्य है—'अक्षरात् परतः परः'। इस वाक्य का शब्दार्थ है—'अक्षर' से 'पर' और 'उस पर' से भी पर। यहां अक्षर पद प्रकृति का वाचक है। 'अक्षर' का प्रकृतिवाचक होना पहले सन्दर्भ (२-१-१) में स्पष्ट है। वहां 'सरूपा' शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है। उस सन्दर्भ में 'अक्षर' का अर्थ ब्रह्म करने पर उसके कार्यजगत् की ब्रह्म के साथ समानरूपता माननी होगी जो यथार्थ के विपरीत होगा। कार्यजगत् के साथ प्रकृति की समानरूपता स्पष्ट है। प्रस्तुत मन्त्र में ब्रह्म को दिव्य, अमूर्त्त, शुभ्र आदि बताते हुए उसे 'अक्षरात्परतः परः' कहा है जिसका तात्पर्य है—अक्षर प्रकृति से पर जीवात्मा और उससे भी पर ब्रह्म है जिसका वर्णन यहाँ अभीष्ट है। इस प्रकार इस मन्त्र में प्रकृति, प्रकृति से भिन्न जीव और उससे भी उत्कृष्ट अथवा भिन्न ब्रह्म तीनों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

७— सर्वं खल्विदं तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमय पुरुषो यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ॥

छा० ३-१४-१

यह सब जगत ब्रह्म से उत्पन्न होता, उसी में लय होता और उसी के आधार पर प्राण धारण करता है। ऐसा समझकर शांत उपासक ब्रह्म की उपासना करे। कर्मशील पुरुष कर्म करे क्योंकि इस लोक में जैसा कर्म करता है वैसा ही आगे हो जाता है। इस सन्दर्भ में 'ब्रह्म' पद ब्रह्मांड परक हैं। मुण्डकोपनिषद् (१-१-६) में कहा है—

'तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपं जायते' अर्थात् उसी से बृहत् नामरूप वाला जगत् उत्पन्न होता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (१-१) में भी कहा—'किं कारणं ब्रह्म' अर्थात् सृष्टि का कारण क्या है? महर्षि दयानन्द ने भी ऋग्वेद (१-४०-५) का भाष्य करते हुए प्रकरणानुकूल ब्रह्म का अर्थ ब्रह्मांड किया। प्रस्तुत मन्त्र में इस ब्रह्मांड की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का निमित्त कारण ब्रह्म को बताते हुए जीवात्मा को उसकी उपासना करने तथा कर्म करने की प्रेरणा की गई है। इस प्रकार यहां उपासक जीवात्मा, उपास्य ब्रह्म और उसके द्वारा उत्पन्न जगत्—तीनों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

आचार्य शंकर ने इस सन्दर्भ के प्रथम वाक्य की योजना इस प्रकार की है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सब जगत् ब्रह्म है, ब्रह्म से उत्पन्न होता, ब्रह्म में लीन होता और ब्रह्म में अभिप्राणित रहता है; शान्त हुआ उपासना करे। पदों की

ऐसी योजना में तत्काल प्रश्न उठता है कि 'उपासीत' क्रिया का कर्म क्या है ? इसका कर्त्ता कौन है ? 'उपासना करे'—परन्तु कौन किसकी ? यदि यह सब जगत् भी ब्रह्म ही है तो जगत् की उपासना करने में क्या दोष है ? फिर, सब जगत् को ब्रह्म मानकर उससे जगत् की उत्पत्ति आदि की आवश्यकता क्या है ? जब ब्रह्म ही जगद्रूप है तो वह ब्रह्म के समान नित्य है। नित्य की उत्पत्ति कैसी ? जगत् की उत्पत्ति का अर्थ होगा ब्रह्म की उत्पत्ति। वस्तुतः 'उपासीत' क्रिया का कर्म 'ब्रह्म' है और कर्त्ता 'क्रतु पुरुष' अर्थात् जीवात्मा। 'सर्वं खल्विदं' का सम्बन्ध 'तज्जलान्' के साथ है। युक्तियुक्त पदयोजना होगी—'सर्वं खल्विदं तज्जलानिति मत्वा शान्तः सन्नुपासकः जीवात्मा ब्रह्म उपासीत।'

प्रत्येक मनुष्य संसार में लिप्त हुआ अपने सुख के साधन रूप संसार के पदार्थों को सर्वोपरि समझता और ब्रह्म की ओर से उदासीन हो उसे भूला रहता है। इसी भावना से उपनिषत्कार ने कहा कि जिस जगत् को तुम सब कुछ समझते हो वह सब ब्रह्म द्वारा उत्पन्न है और वही इसे धारण कर रहा है। इसलिये "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः योऽन्तरिक्षे रजसो विमानः" (यजु ३२-६) उसी सर्वोपरि ब्रह्म की उपासना करो। इसी आधार पर गीता (१८-५३) में कहा— विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्म भूयाय कल्प्यते'—काम क्रोध आदि का परित्याग कर ममताहीन हो उपासक ब्रह्म प्राप्ति के लिये समर्थ होता है। ७१॥

वेदान्त दर्शन को नवीन वेदान्त अथवा अद्वैतवाद का मूलाधार माना जाता है। सभी दर्शनों में वेद का प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है। साथ ही 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' का सिद्धान्त भी सभी मनीषियों को मान्य है। जब वेद को सामने रखकर बुद्धिपूर्वक वेदान्तसूत्रों पर विचार करते हैं तो उनमें भी ईश्वर, जीव और प्रकृति का अनादित्व ही प्रतिपादित है—इस निश्चय पर पहुंचते हैं। अगले सूत्र में इसी का विस्तार है—

ब्रह्मसूत्रेषूपपादनाच्च ॥७२॥

ब्रह्मसूत्रों से भी त्रैतवाद की पुष्टि होती है। यहां केवल उदाहरणार्थ कुछ सूत्रों पर विचार किया है—

१— अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ वे० १-१-१ ॥

वेदान्त दर्शन की रचना का आधार ही ब्रह्म को जानने की इच्छा है। इच्छा अप्राप्त वस्तु की होती है। ब्रह्म को जानने की इच्छा उसी को हो सकती है जो उसे नहीं जानता। सर्वज्ञ ब्रह्म स्वयं अपने को ही जानने की इच्छा करे—यह अपने आप में कितना उपहासास्पद है। जिज्ञासु और जिज्ञास्य एक नहीं हो सकते। स्पष्टतः ब्रह्म को जानने की इच्छा करने वाला ब्रह्म से भिन्न जीव ही है।

२— जन्माद्यस्य यतः ॥१-१-२॥

जिससे सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है वह ब्रह्म कहाता है। रचयिता और रचना एक नहीं हो सकते । अतः चराचर जगत् ब्रह्म से और ब्रह्म जगत् से भिन्न है ।

३— नेतरोऽनुपपत्तेः ॥१-१-१६ ॥

जीव में सृष्टि उत्पत्ति का सामर्थ्य सिद्ध नहीं होता । न ही संसार में जीवात्मा को दुखरहित होना सिद्ध होता है । अतः आनन्दमय ब्रह्म को ही सृष्टि का उत्पत्तिकर्त्ता वर्णन किया है । अल्प सामर्थ्य वाला जीव सृष्टिकर्त्ता ब्रह्म कदापि नहीं हो सकता ।

४— भेदव्यपदेशाच्च ॥१-१-१७ ॥

भेद का कथन होने से भी जीव और ब्रह्म भिन्न है । आनन्दमय अधिकरण में कहा है—'रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ।' वह आनन्दमय है । उस आनन्द रूप ब्रह्म को पाकर ही जीवात्मा आनन्दयुक्त होता है । लब्धा जीव और लब्धव्य ब्रह्म एक नहीं हो सकते । यदि जीवात्मा ब्रह्म के समान आनन्दमय होता तो उसे कहीं से आनन्द प्राप्त क्यों करना पड़ता ? इस प्रकार आनन्दमय के अधिकार में आनन्दमय ब्रह्म को रसरूप वर्णन करके उसमें तथा जीव में भेद होना कहा है ।

५— अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥१-१-१९ ॥

(अस्मिन्) इस आनन्दमय ब्रह्म में (अस्य) इस जीव के योग का उपदेश शास्त्र करता है । योग दो भिन्न पदार्थों का ही होता है । जीव व प्रधान-प्रकृति के लिए आनन्दमय शब्द भी नहीं है । जीव और ब्रह्म का योग होने के उपदेश में तैत्तिरीय उपनिषद् (२-७) का यह मन्त्रवाक्य प्रमाण है—

"यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सोऽभयंगतो भवति । यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति ।"

निश्चय ही जब यह जीवात्मा इस आनन्दमय, अदृश्य, अशरीर, अवर्णनीय निराधार ब्रह्म में भयरहित स्थिति को प्राप्त कर लेता है तब वह अभयरूप मुक्ति को प्राप्त होता है। परन्तु जब यह आत्मा के अज्ञान के कारण परमात्मा से दूर रहकर उससे भिन्न पदार्थों में चित्त लगाता है तब उसे भय होता है ।

ब्रह्म में जीवात्मा के योग का उल्लेख यजुर्वेद (३२-११) में भी उपलब्ध है—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥

समस्त भूत लोक-लोकान्तर दिशा-प्रदिशाओं की यथार्थता को जानकर परमात्मा की प्रथम वाणी वेद के आदेश के अनुसार आचरण करता हुआ आत्मज्ञानी अपने आपसे परमात्मा में प्रवेश कर जाता है, उसे प्राप्त कर लेता है।

६— अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥१-१-२० ॥

ब्रह्म के अन्तर्यामी आदि धर्म कथन किये गये हैं। 'य आत्मनि तिष्ठत्… यस्यात्मा शरीरम्'—जीव के भीतर ब्रह्म के रहने विषयक इस प्रकार के वचन शास्त्रों में भरे पड़े हैं। व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध भेद में ही घटित होता है। इसलिए आत्मा के भीतर परमात्मा के व्याप्त होने से दोनों का एक-दूसरे से भिन्न होना स्वतः सिद्ध है।

७— गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥१-२-११॥

गुहा-हृदय देश में दो आत्मा प्रविष्ट हैं। निश्चित रूप से उनका दर्शन वहां होता है। द्विवचनान्त आत्मा पद से जीवात्मा और परमात्मा ही अभिप्रेत है। 'स वा एष आत्मा हृदि' (छा० ८-३-३) 'हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (वृहद् ४-३-७) इत्यादि प्रमाणों से जीवात्मा का और 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' (गीता) इत्यादि प्रमाणों से परमात्मा का हृदयदेश में विद्यमान होना प्रसिद्ध है। दर्शन की क्रिया तभी संभव है जब द्रष्टा और दृश्य दोनों एकत्र हों। ब्रह्म सर्वव्यापक है किन्तु जीवात्मा एकदेशी है। हृदयदेश ही एकमात्र ऐसा स्थान है जहां दोनों विद्यमान हैं। इसलिए ब्रह्म के सर्वत्र विद्यमान रहने पर भी आत्मा द्वारा उसका साक्षात्कार हृदयदेश रूपी गुहा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं सम्भव नहीं। द्रष्टा और दृश्य एक नहीं हो सकते अर्थात् द्रष्टा स्वयं दृश्य नहीं हो सकता।

८— विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याञ्च नेतरौ ॥१-२-२२॥

विशेषण और भेद कथन किये जाने से दूसरे दोनों—जीवात्मा और प्रकृति ब्रह्म नहीं हैं। अक्षर नाम से ब्रह्म और प्रकृति दोनों का ग्रहण होता है। किन्तु प्रस्तुत सन्दर्भ में निर्दिष्ट दिव्य, अमूर्त्त अज, अप्राण, अमना, शुभ्र आदि विशेषण न जीवात्मा में सम्भव हैं और न प्रकृति में। अतः प्रकृति और जीवों से ब्रह्म का भेद प्रतिपादन करने वाले हेतुओं से ब्रह्म निश्चय ही प्रकृति और जीवों से भिन्न है।

९— भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥१-१-२१॥

भेद कथन से भी ब्रह्म अन्य अर्थात् जीव और प्रकृति से भिन्न है। वृहदारण्यक उपनिषद् (३·७) में इसका विशद रूप में वर्णन किया है। वहां कहा है कि पृथिवी, जल, अग्नि, अन्तरिक्ष वायु, द्यु, आदित्य, दिशाओं, चन्द्र-तारक, आकाश, तम, तेज, प्राण, वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वचा और विज्ञान (आत्मा) जिसके शरीर है और जो इन सबके भीतर रहता हुआ भी इन सबसे भिन्न है तथा सबका नियन्त्रण करता है वही ब्रह्म है। भेद का इतना विशद वर्णन होते हुए ब्रह्म को जगद्रूप कैसे माना जा सकता है? इस भेदव्यपदेश से ब्रह्म से जीव और जीव से ब्रह्म निश्चय ही अन्य-भिन्न हैं।

१०— अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥१-२-३॥

शरीरधारी जीव ब्रह्म नहीं हो सकता। क्योंकि ब्रह्म के गुण-कर्म-स्वभाव जीवात्मा में उपपन्न नहीं होते। सूत्र में 'शारीर' पद जीवात्मा के लिए प्रयुक्त हुआ है। वैदिक साहित्य में ब्रह्म के शरीर और शरीरांगों का जो वर्णन मिलता है, वह केवल औपचारिक है। शरीर द्वारा जो जन्म-मरण के बन्धन में आता है वास्तव में वही शारीर है और वह जीवात्मा ही है।

११– शारीरश्चोभयेऽपि भेदेनैनमधीयते ॥१-२-२०॥

देही जीवात्मा ब्रह्म की भाँति अन्तर्यामी नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों (काण्व व माध्यन्दिन) शाखा वालों ने जीवात्मा का उल्लेख ब्रह्म से भिन्न मानकर किया है तथा ब्रह्म को स्पष्ट रूप से जीवात्मा में अन्तर्यामी बताया है। काण्व शाखा के शतपथ ब्राह्मण तथा उसी के चतुर्दश काण्ड पर आधारित बृहदारण्यक उपनिषद् (३-७-२२) में कहा है—

"यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो य विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः।"

यहां 'विज्ञान' पद का प्रयोग शारीर जीवात्मा के लिये हुआ है। स्पष्ट ही यहां अन्तर्यामी आत्मा (ब्रह्म) से जीवात्मा को भिन्न बताया है और दोनों में व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध स्थिर किया है।

माध्यन्दिन शाखीय शतपथ ब्राह्मण (१४-६-७) के इस प्रसंग में 'विज्ञान' के स्थान पर 'आत्मा' पद का प्रयोग करके कहा है–'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद······।' अर्थात् जो आत्मा में स्थित हुआ आत्मा से भिन्न है। इस प्रकार दोनों शाखावालों के उक्त प्रकार भेद सहित कहने से शारीर जीवात्मा ब्रह्म की भांति अन्तर्यामी नहीं हो सकता।

१२– पत्यादिशब्देभ्यः ॥१-३-४॥

शास्त्रों में ब्रह्म के लिए 'पति' और उसके पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग होने से जीव ब्रह्म के भेद का निश्चय होता है। यदि ब्रह्म और जीव में अभेद होता तो ब्रह्म के समान जीवात्मा के लिये भी जगत्पति, भूताधिपति, प्रजापति, सर्वेश्वर, सर्वेशान जैसे विशेषणों का प्रयोग होता। ऐसा प्रयोग कहीं न देखे जाने से स्पष्ट है–जीव और ब्रह्म दोनों में तात्त्विक भेद है।

अष्टम अध्याय

उपासना

परानुरक्तिरीश्वरे भक्तिः ॥१॥

ईश्वर में परम-अनन्य अनुराग भक्ति है।

वृहदारण्यक (४-५-६) में लिखा—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य : श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' अर्थात् वह परमात्मा ही चित्तवृत्ति लगा कर ईक्षण करने योग्य है, वही श्रुतिवाक्यों से श्रवण, युक्तियों से मनन और चित्त को एकाग्र कर बार-बार ध्यान करने योग्य है।' सांसारिक सुखोपभोग से विरक्त हो जब मनुष्य इस प्रकार निश्चय कर 'सोऽन्वेष्टव्यः' (छा. ८-७-१) उसी को पाने में लग जाता है तब वह मानो परमेश्वर का प्रेमी बन जाता है। प्रेम की यह पराकाष्ठा ही भक्ति है ॥१॥

इस भक्ति का स्वरूप क्या है ?

सा चोपासनारूपा ॥२॥

और वह (भक्ति) उपासना रूप होती है।

'उपास्यतेऽनया इत्युपासना' अर्थात् जिससे परमात्मा के पास ठहरा जाये, उसे उपासना कहते हैं। तो क्या परमात्मा जीवात्मा से दूर है जो उसका सामीप्य पाने के लिये प्रयत्न अपेक्षित हो ? जिस परमेश्वर को वेदों में सबके बाहर-भीतर (तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः), उपनिषदों में प्राणिमात्र के आत्मा में विद्यमान (सर्वभूतान्तरात्मा, आत्मस्थ) और गीता में सबके हृदय में वास करने वाला (ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति) बताया गया हो वह कब किसी से दूर हो सकता है जो उसके पास जाने का प्रश्न उठे। इस सन्दर्भ में यजुर्वेद (४०-५) में आये 'तद्दूरे तद्वन्तिके' अर्थात् वह दूर भी है और पास भी—शब्द विचारणीय हैं। एक साथ दूर और पास दोनों कहने में विरोध का आभास है। वस्तुतः अज्ञान के कारण पास पड़ी वस्तु भी दूर हो जाती है। यही कारण है कि परमेश्वर को सर्वव्यापक एवं सर्वान्तर्यामी मानने वाले लोग उसे अपने भीतर न पाकर दूरस्थ नगरों, जंगलों और पहाड़ों में ढूढ़ते फिरते हैं। वहां पहुंचकर भी वे परमेश्वर से सीधा सम्पर्क नहीं कर पाते, अपितु पुजारियों के अनुग्रह से उन्हीं की भेंट पूजा कर नियत समय में ही अपने इष्ट-देव का समीप्य लाभ करने में सफल होते हैं। इस प्रकार ईश्वर अज्ञानियों से दूर और ज्ञानियों के समीप रहता है। इसी प्रकार जिससे हमारा अभी परिचय नहीं हुआ वह साथ में रहता हुआ भी हमसे दूर है।

उपनिषद् के शब्दों में 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' परमेश्वर उसी को मिलता है जिसका वह स्वयं वरण करता है। 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्' परमेश्वर उसी का वरण करता है जो उसका समानधर्मा होता है। अतः जिस अंश में किसी के गुण-कर्म-स्वभाव परमेश्वर के अनुरूप होते हैं उसी अंश में उसे उसका सामीप्य प्राप्त होता है।।२।।

क्रियाप्रधान होने से भक्ति या उपासना अनुष्ठानसाध्य है। अतः—

योगानुष्ठानादीश्वरार्थं सर्वभावार्पणमुपासनम् ।।३।।

योग के अनुष्ठान द्वारा ईश्वर में सर्वात्मना निमग्न होना उसकी उपासना है ।।३।।

अव योग का लक्षण करते हैं—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।।४।।

चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहते हैं।

वृत्तिनिरोध का अर्थ है किसी एक इच्छित विषय में चित्त को स्थिर रखना, अर्थात् अपनी इच्छा के अनुसार चित्त को एक स्थान पर केन्द्रित करना योग कहाता है। जब चित्त में स्थैर्यशक्ति उत्पन्न होती है तब किसी भी लक्ष्य में चित्त को स्थिर किया जा सकता है। स्थिरता की चरम सीमा का नाम समाधि है।

'चित्त' शब्द का अर्थ यहां अन्तःकरण है और वह सत्त्व-रजस्-तमस् रूप प्रकृति का परिणाम होने से त्रिगुणात्मक है। इसी के बाह्याभ्यन्तर व्यापार को वृत्ति कहते हैं। त्रिगुणात्मक अन्तःकरण का परिणाम होने से ये वृत्तियां तीन प्रकार की हैं। चित्त इनमें से किसी न किसी वृत्ति से व्याप्त रहता है। इन वृत्तियों के क्रम का निरोध होना 'योग' है। जिस अवस्था में राजस और तामस वृत्तियों का निरोध हो जाने पर चित्त इन्द्रियों के द्वारा वाह्य विषयों की ओर प्रवृत्त न होकर एकमात्र अध्यात्म के चिन्तन में निमग्न रहता है उस अवस्था का नाम एकाग्र्य है। इस अवस्था में पूर्वानुभूत विषयों के संस्कार अवश्य बने रहते हैं और वे कभी-कभी एकाग्र अवस्था में विघ्न भी उपस्थित कर देते हैं। जब चित्त संस्कारों के विद्यमान रहते हुए भी उनको उद्बुद्ध करने में असमर्थ हो जाता है और सात्त्विक वृत्ति का भी लोप हो जाने पर निराव-लम्ब हुआ क्लेशकर्मादि वासनाओं के सहित अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाता है और जीवात्मा अपने चैतन्यस्वरूप से परमात्मा के स्वरूप आनन्द को अनुभव करता है वह चित्त की निरुद्ध अवस्था कहाती है। आत्मबोध के अतिरिक्त इस अवस्था में अन्य किसी विषय का ज्ञान न रहने से योगियों के सम्प्रदाय में इसी अवस्था का नाम असम्प्रज्ञात समाधि है।।४।।

अब चित्तवृत्तियों के निरोध का उपाय बताते हैं—

वैराग्याभ्यासाभ्यां तन्निरोधः ॥५॥

वैराग्य और अभ्यास के द्वारा उन वृत्तियों का निरोध होता है।

चित्तवृत्तियों के निरोध करने में वैराग्य और अभ्यास दोनों का समुच्चय अर्थात् पारस्परिक सहयोग अपेक्षित है। एक दूसरे के पूरक होकर दोनों मिलकर निरोध का सम्पादन करते हैं। चित्त रूपी नदी दो धाराओं में प्रवाहित होती है। एक—जो पापवहा है यह विषयों के मार्ग से बहती हुई अज्ञानान्धकारमय संसारसागर में जा मिलती है। दूसरी—जो कल्याणवहा है वह विवेक मार्ग से बहती हुई आत्मसाक्षात्कार रूप कल्याणसागर में जा मिलती है। विषयों के स्रोत पर वैराग्य का बांध लगाकर पापवहा धारा को सुखा दिया जाता है। तदनन्तर विवेकदर्शन के अभ्यासरूपी फावड़े से अध्यात्म मार्ग को गहरा करके समस्त चित्तवृत्तियों के प्रवाह को उसमें डाल दिया जाता है और इस प्रकार कल्याणमार्ग का पथिक अपने अभीष्ट को प्राप्त कर लेता है।

किन्तु यह मार्ग है कण्टकाकीर्ण। मार्ग की दुर्गमता से त्रस्त एवं खिन्न होकर अर्जुन ने योगेश्वर कृष्ण से कहा था—

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥
गीता ६-३४

हे कृष्ण ! यह मन अत्यन्त चंचल, हठीला, बलवान् और दृढ़ है। वायु के समान इसे वश में करना अत्यन्त दुष्कर है।

श्रीकृष्ण ने जिज्ञासु के प्रतीक रूप अर्जन की मनःस्थिति को देख कर उसे ढाढ़स देते हुए समझाया—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥
गीता ६-३५

हे अर्जुन ! इसमें सन्देह नहीं कि मन अत्यन्त चंचल है और उसे वश में करना अति कठिन है। परन्तु अभ्यास और वैराग्य से उसे वश में किया जा सकता है। जो बात पहले कठिन देख पड़ती है बार-बार के अभ्यास से अन्त में वह सिद्ध हो जाती है ॥५॥

जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब आत्मा की कैसी स्थिति रहती है ? इसका उत्तर देते हैं—

तदा परमात्मनः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥६॥

तब (चित्तवृत्ति निरोध होने पर) परमात्मा के स्वरूप में स्थिति होती है।

जब चित्त की वृत्तियों का निरोध हो जाता है अर्थात् जब समस्त वृत्तियां बाह्य विषयों से हट कर अन्तर्मुखी हो जाती हैं तो चित्त अपने कारणरूप प्रकृति में लीन हो जाता है और जीवात्मा का प्रकृति और प्राकृत पदार्थों से सम्बन्ध नहीं रहता। उस अवस्था में वह अपने चेतन स्वरूप से परमेश्वर में स्थिर हो जाता है। जब उपासक योगज शक्ति द्वारा उस आनन्दसागर में प्रवेश कर जाता है तो उसे अन्य किसी वस्तु का भान नहीं होता। उस अवस्था में वह अपने आपको भी भूल जाता है और आनन्दातिरेक में काव्य की भाषा में कह उठता है—'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि'—तू मैं और मैं तू है। इस अवस्था को प्राप्त कर आत्मा समाधिलब्ध शक्ति द्वारा परमात्मा के आनन्दरूप में निमग्न हो जाता है। उस आनन्द का वह अनुभव करने लगता है। यही आत्मा के मोक्ष अथवा अपवर्ग का स्वरूप है ॥६॥

अब चित्तवृत्तिनिरोधरूप योग की विघ्न-बाधाओं का निरूपण करते हैं—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥७॥

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्त्व—ये (नौ) चित्त के विक्षेप हैं जो अन्तराय अर्थात् योग में बाधक हैं।

जैसे रोग आदि की स्थिति चित्त में विक्षेप, व्यथा, बेचैनी उत्पन्न कर देती है वैसे ही स्त्यानादि अन्तराय भी योग के विभिन्न स्तरों पर योगानुष्ठाता के सामने आते रहते हैं और चित्त को विक्षिप्त कर योगमार्ग से भ्रष्ट कर देते हैं। इसीलिए इन विक्षेपों को योग के मल, अन्तराय अथवा प्रतिपक्षी कहा जाता है। इनमें से प्रत्येक की व्याख्या इस प्रकार है—

व्याधिर्धातुरसकरणवैषम्यम् ॥८॥

धातु, रस और इन्द्रियों की विषमता को 'व्याधि' कहते हैं।

शरीर के रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र इन सात धातुओं तथा वात, पित्त और कफ़ इन तीन प्रकार के दोषों में विषमता-विकार आ जाने से जो ज्वरादि रोग उत्पन्न होते हैं वे व्याधि कहाते हैं। खाये-पिये अन्न जल आदि का परिपाक 'रस' कहाता है। नेत्र, श्रोत्र आदि इन्द्रियों की दुर्बलता आदि भी व्याधि में परिगणित हैं। देह तथा इन्द्रियों के रोग चित्त को व्याकुल करते रहने के कारण योगप्रवृत्ति में बाधक रहते हैं। रुग्ण शरीर द्वारा योग का प्रयत्न सम्यक् नहीं हो सकता। अतः महाभारत (शान्तिपर्व २७४-८) में योगाभ्यासी को 'उपद्रवांस्तथा रोगान् हितजीर्णमिताशनात्' हित, जीर्ण और मित आहार के द्वारा शरीर को रोगों और उपद्रवों से दूर रखने का निर्देश

किया गया है । व्याधि के नाश के लिए प्रकृष्ट उपाय है ॥८॥

स्त्यानमकर्मण्यता चित्तस्य ॥९॥

चित्त की अकर्मण्यता 'स्त्यान' है ।

कर्त्तव्यज्ञान रहने अथवा इच्छा एवं लाभ की सम्भावना का ज्ञान होने पर भी चंचलता के कारण अकर्मण्य बने रहने अर्थात् चित्त को कार्य में प्रवृत्त न करने या रुचि न लेने को 'स्त्यान' कहते हैं । अप्रीतिकर होने पर भी प्रयत्न करने रहने से स्त्यान हट जाता है ॥९॥

उभयकोटिस्पृग्विज्ञानं संशयः ॥१०॥

उभयदिक्स्पर्शी विज्ञानं 'संशय' कहाता है ।

'यह ऐसा है या ऐसा नहीं है'—इस प्रकार जिस पदार्थ का निश्चय करना चाहें उसका निश्चय न होना 'संशय' कहाता है । योगानुष्ठान व उसके फल के विषय में सन्दिग्ध रहना, यह अनिश्चितता या दोलायमान स्थिति योग में बाधक है । अत्यन्त दृढ़ता और वीर्यपूर्ण प्रयत्न के बिना योग की सिद्धि नहीं हो सकती । संशय के रहते ऐसा प्रयत्न सम्भव नहीं । श्रवण और मनन के द्वारा तथा आप्त पुरुषों के सहवास से संशय दूर होता है ॥१०॥

प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम् ॥११॥

समाधि के साधनों में भावना का अभाव 'प्रमाद' है ।

जानते हुए भी समाधि के साधक योगांगों के ग्रहण में प्रीति न करना तथा उनके अनुष्ठान में उपेक्षा करना 'प्रमाद' कहाता है । प्रमाद का प्रतिपक्ष स्मृति है । मुण्डकोपनिषद् (३-२-२) में कहा—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्'—प्रमादी को ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती । महात्मा बुद्ध ने भी 'धम्मपद' (अप्रमादवर्ग १) में कहा—'अप्रमाद अमृतपद और प्रमाद मृत्युपद है ॥११॥

कायचित्तयोर्गुरुत्वादप्रवृत्तिरालस्यम् ॥१२॥

शरीर तथा चित्त की गुरुतावश अप्रवृत्ति 'आलस्य' है ।

अनुष्ठान में रुचि और सामर्थ्य होने पर भी देहादि की क्रिया द्वारा उसमें न लगना अथवा मनोयोगपूर्वक कर्त्तव्य में प्रवृत्त न होना 'आलस्य' कहाता है । कफ़ आदि दोषों से देह का भारीपन तथा तमोगुण के प्राधान्य से चित्त का भारीपन ध्यान में बाधक बनते हैं ।

'स्त्यान' में चित्त अवश होकर इधर-उधर घूमता है । अतएव साधन कार्य में उसका प्रयोग नहीं हो पाता । भौतिक आलस्य में चित्त तमोगुण के प्राबल्य

से स्तब्धवत् रहता है। यही दोनों में भेद है। मिताहार तथा उद्योग के द्वारा आलस्य पराभूत होता है ॥१२॥

अविरतिश्चित्तस्य विषयसम्प्रयोगात्मा गर्द्धः ॥१३॥

विषय सेवन में तृष्णा का होना 'अविरति' है।

सांसारिक विषयों की ओर से विरक्ति का न होना अर्थात् रूप-रस आदि विषयों में तृष्णा का अनवरत बने रहना 'अविरति' कहाती है। इससे योग-साधनों में प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है। 'कामं संकल्पवर्जनात्' (शा. प. २७४-५)—वैषयिक संकल्प को त्यागने का अभ्यास करने से 'अविरति' नष्ट हो जाती है ॥१३॥

विपर्ययज्ञानं भ्रान्तिदर्शनम् ॥१४॥

विपरीत ज्ञान 'भ्रान्तिदर्शन' है।

जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा ही जानना यथार्थदर्शन है। इसके विपरीत जानना, जैसे जड़ में चेतन और चेतन में जड़ बुद्धि करना अथवा ईश्वर में अनीश्वर और अनीश्वर में ईश्वर की भावना करके उसकी पूजा करना आदि 'भ्रान्तिदर्शन' है। इसी प्रकार योग-विषयक यथार्थता को अन्यथा समझना, गुरू द्वारा बताये मार्ग को ठीक न मानना; अथवा योग की प्रारम्भिक सफलता में जो विविध दृश्य दिखाई देते हैं उन्हें पूरी सफलता समझ बैठना भी भ्रान्ति दर्शन है। कुछ लोग दूर-दर्शन, दूरश्रवण, भविष्य कथन, धरती के भीतर बन्द कोठरी में रहने आदि की सिद्धियाँ प्राप्त होने पर उन्हें प्रकृत योग समझ लेते हैं। आहार, निद्रा, भय, क्रोध आदि के वशीभूत होकर भी अपने को जीवन्मुक्त समझते हैं। ये सब भ्रान्तिदर्शन के ही विविधरूप हैं। ईश्वर और गुरू के प्रति भक्ति और श्रद्धा भाव रखते हुए योगशास्त्र के अध्ययन तथा उसके अनुसार अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति से भ्रान्तिदर्शन हट जाता है ॥१४॥

अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः ॥१५॥

समाधि भूमि का उपलब्ध न होना 'अलब्धभूमिकत्व' है।

योगी का परम लक्ष्य कैवल्य प्राप्ति है। इसकी प्राप्ति का मार्ग बहुत लम्बा है। इस मार्ग में चार मुख्य स्तर (पड़ाव) आते हैं। क्रमपूर्वक होने वाले योग की सफलता के ये स्तर योगभूमि—योग की अवस्था कहाते हैं। इनके नाम हैं—मधुमति, मधुप्रतीका, प्रज्ञाज्योति और अतिक्रान्तिभावनीय। योगानुष्ठान करते हुए उसकी सफलता के किसी स्तर—भूमि का प्राप्त न होना 'अलब्धभूमिकत्व' कहाता है। ऐसी अवस्था में अनुष्ठाता निराश होकर योगमार्ग को छोड़ देता है ॥१५॥

लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठानवस्थितत्त्वम् ।।१६।।

भूमि (योग की सफलता के किसी स्तर को) प्राप्त कर लेने पर भी चित्त का अवस्थित न होना 'अनवस्थितत्त्व' है ।

किसी समाधिभूमि की सफलता पर जब अनुष्ठाता को यह अनुभव होता है कि यहां पहुंचने पर भी चित्तवृत्तियों का निरोध नहीं हुआ है, वह समय-समय पर उभरती और व्यथित करती रहती हैं तो निराश होकर वह सोचने लगता है कि योग आदि सब मिथ्या है । योगविषयक सफलता मिलने पर भी जब वृत्तियां पराभूत न हो दुःखी कर रही हैं तो इसका क्या लाभ है ? वह आगे प्रयत्न छोड़ बैठता है । वास्तव में चित्तवृत्तियों का पूर्ण निरोध तभी होता है जब अनुष्ठाता समाधि की अन्तिम सीढ़ी पर पहुँच जाता है । प्रारम्भिक अथवा मध्यवर्ती सिद्धियां चित्तवृत्तियों का पूर्ण निरोध करने में समर्थ नहीं होतीं ।।१६।।

इन अन्तरायों—विक्षेपों के और भी अनेक साथी हैं जो अवसर पाकर इन्हें सहारा देते और योगानुष्ठान में बाधा डालने के लिये उठ खड़े होते हैं । वे हैं—

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाविक्षेपसहभुवः ।।१७।।

दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास—ये विक्षेपों के साथ-साथ उभरने वाले (विघ्न) हैं ।

अपने प्रतिकूल प्रतीति का नाम 'दुःख' है जिससे उद्विग्न होकर प्राणी उसकी निवृत्ति की चेष्टा करते रहते हैं । अध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक भेद से वह तीन प्रकार का प्रसिद्ध है । किसी भी प्रकार के दुःख से चित्त विचलित होकर योगानुष्ठान में सहयोगी नहीं रहता ।

इच्छा के अभिघात होने से चित्त का क्षोभ 'दौर्मनस्य' कहाता है । किसी भी कारण जब चित्त उद्विग्न तथा खिन्न हो जाता है तो वह योगानुष्ठान में प्रवृत्त नहीं हो पाता ।

देह के अंगों का हिलना डुलना 'अंगमेजयत्व' है । योगानुष्ठान के लिये आवश्यक है कि मनुष्य पर्याप्त समय तक निश्चेष्ट बैठा रह सके । रोग, चोट, मक्खी-मच्छर के आघात आदि के कारण शरीर या उसके अंगों का हिलना डुलना योगाभ्यास में बाधक होता है ।

साधक की इच्छा न होते हुए भी यदि परिस्थितिवश 'श्वास' (वायु को बाहर से भीतर लेना) लेना पड़े तो अभ्यासी के अनुकूल नहीं । यह रेचक प्राणायाम का प्रतिबन्धी है । प्रायः धूल, धुआँ, दुर्गन्ध, आदि के कारण ऐसा होता है । अतः योगाभ्यास के लिये ग्राम—नगर से दूर एकान्त स्थान ही उपयुक्त होता है—ऐसा स्थान जहां सर्वथा शुद्ध वायु हो ।

वायु को अन्दर से बाहर फेंकना 'प्रश्वास' कहाता है । इच्छा न होते हुए यदि ऐसा करना पड़े तो वह भी बाधक होता । कुम्भक प्राणायाम इसका प्रतिबन्धी है ।

ये दुःख आदि विघ्न उसी समय सताते हैं जब साधक पूर्वोक्त व्याधि आदि से अभिभूत होने से विक्षिप्तचित्त होता है। इसी कारण इन्हें 'विक्षेप सहभूः' कहते हैं ॥१७॥

अब इन समस्त अन्तरायों (विक्षेपों तथा उनके सहयोगियों) के नाश का उपाय कहते हैं—

उपासनायोगाङ्गानुष्ठानादन्तरायाभावः ॥१८॥

उपासनायोग के अंगों का अनुष्ठान करने से अन्तरायों का नाश हो जाता है।

योगांगानुष्ठान का अर्थ है—ज्ञानमूलक कर्म का आचरण। ज्ञानमूलक कर्म द्वारा अज्ञानमूलक कर्म और उसका संचित संस्कार नष्ट होता है। इस प्रकार योगांगों के अनुष्ठान से चित्त के अविद्या आदि क्लेशरूप मलों का नाश हो जाने से चित्त निर्मल हो जाता है। निर्मल चित्त व्यक्ति ही नित्यपवित्र परमेश्वर के अनुग्रह का पात्र होने से उसकी उपासना का अधिकारी है। जैसे-जैसे योग के अंगों पर योगी का आचरण बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उसके चित्तविक्षेप क्षीण होते जाते हैं ॥१८॥

अब योगाङ्गों का अवधारण करते हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टा-वङ्गानि ॥१९॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि-ये आठ योग के अंग हैं।

महाभारत (शा. प. ३१६-७) में भी कहा है—'वेदेषु चाष्टगुणिनं योगमाहुर्मनीषिण': अर्थात् मनीषी वेदों में (वेदानुकूल) योग को अष्टांग कहते हैं। चित्तवृत्तिरूप योग की सिद्धि के लिए वैराग्य और अभ्यास मुख्य साधन हैं। वैराग्य और अभ्यास का अनुष्ठान यमनियमादि के पालन से ही संभव है। इन आठ अंगों में अन्य सभी भाव तथा साधनों का अन्तर्भाव है।

'यम' पद 'यम् उपरमे' धातु से सिद्ध होता है। उपरम का अर्थ निवृत्ति है। इस प्रकार यम से तात्पर्य है वाह्य विषयों की ओर से अपने आपको निवृत्त करना अर्थात् अपने आपको संयत और नियन्त्रित करना। सामाजिक व्यवहार में व्यक्ति के लिये जिन निर्देशक सिद्धान्तों का पालन करना आवश्यक है वे 'यम' के अन्तर्गत हैं। जिन कार्यों व भावनाओं को केवल व्यक्तिगत जीवन में निभाना होता है वे नियमों में परिगणित हैं। आत्मा में योग बीज बोने के लिए यम-नियमों के द्वारा क्षेत्र का परिष्कार किया जाता है। यम-नियम का पूर्णतया पालन किये विना चरित्र निर्माण असम्भव है और चरित्र निर्माण के बिना योगाभ्यास व्यर्थ है। जिनके जीवन में यम-नियम का व्यवहार नहीं वे तथा-

कथित योगी केवल आत्मवंचक एवं जग वंचक ही हैं।

पूर्ण आस्था के साथ यमनियमों का पालन करने पर भी जब तक 'आसन' सिद्ध नहीं होता तब तक योग क्रियाओं व साधनों का सुविधापूर्वक अनुष्ठान नहीं हो पाता। अतः तीसरा अंग 'आसन' है। क्रियाओं के यथार्थ अनुष्ठान के लिये 'प्राण' का परिष्कार भी आवश्यक है जो प्राणायाम के द्वारा होता है देह और प्राण दोनों के परिष्कृत हो जाने पर बाह्य इन्द्रियाँ अपने ग्राह्य विषयों से असम्पृक्त रहकर चित्त के अनुरूप जैसी हो जाती हैं। योग का यह स्तर 'प्रत्याहार' (प्रत्येक इन्द्रिय का अपने विषय से आहरण) कहाता है इसके आगे चित्त का उपयोग यथाशक्ति उन क्रियाओं के अनुष्ठान के लिये होता है जो समाधि प्राप्ति का प्रारम्भिक स्तर है। यह 'धारणा' और उसी का परिष्कृत रूप 'ध्यान' है। ये दोनों 'समाधि' के ही आन्तर अंग हैं ॥१६॥

अब यथाक्रम आठों अंगों के स्वरूप आदि का निर्देश करते हैं। सबसे पहले यमों का निरूपण करते हैं।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥२०॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच 'यम' हैं ॥२०॥

इनमें से प्रत्येक का लक्षण और उसके अनुष्ठान से होने वाले फल का कथन करते हैं—

अहिंसा सर्वभूतानामनभिद्रोहः ॥२१॥

सब भूतों के प्रति अनभिद्रोह अहिंसा है।

सब प्रकार से सब काल में सब प्राणियों के साथ वैर छोड़कर प्रीतिपूर्वक वर्तना 'अहिंसा' है। मनसा, वाचा, कर्मणा किसी प्राणी को कष्ट पहुंचाना ही नहीं अपितु उसकी भावना का भी मन में न आनें देना अहिंसा है। इस प्रकार किसी के प्रति द्रोह, ईर्ष्या, असूया आदि की भावना का चित्त में उभरने देना भी हिंसा है।

सत्य आदि अन्य सभी यमनियम अहिंसामूलक हैं। अहिंसा सिद्धि के हेतु ही उनका प्रतिपादन किया गया है। अहिंसा को अधिकाधिक निर्मल करने में ही उनका साफल्य है। यमनियमों में अहिंसा के प्राधान्य का उल्लेख करने के लिए आचार्य पंचशिख ने कहा—"स खल्वयं ब्राह्मणो यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसादिनिदानेभ्यो निवर्त्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति"। अर्थात् ब्रह्मवित् जैसे-जैसे व्रतों का अनुष्ठान करते हैं वैसे वैसे (उन व्रतों द्वारा) प्रमादकृत हिंसामूलक कर्मों से हटते हुए अहिंसा को निर्मल कर देते हैं अर्थात् ब्रह्मवित् व्यक्ति के समस्त आचरण अहिंसा को निर्मल बना देते हैं ॥२१॥

अहिंसा धर्म का पालन करने वाले व्यक्ति को क्या पहचान है?

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥२२॥

अहिंसा व्रत में पूर्ण परिपाक हो जाने पर उसके सामीप्य में प्राणिमात्र वैर त्याग देते हैं। जिस प्रकार मैस्मेरिज्म द्वारा इच्छाशक्ति के सामान्य उत्कर्ष से मनुष्यों तथा पशुपक्षियों को वश में कर अपना अनुगामी बना लिया जाता है उसी प्रकार जिन योगियों की इच्छाशक्ति इतनी प्रबल हो चुकी होती है कि वे उसके द्वारा स्वप्रकृति से हिंसा को सर्वथा दूर कर चुके होते हैं उनकी सन्निधि में अन्य प्राणी उनके मनोभाव से भावित होकर हिंसा का परित्याग कर देते हैं। जब योगी अहिंसा धर्म में दृढ़ हो जाता है तो मन, वचन, कर्म द्वारा किसी भी रूप में उसके चित्त में हिंसा की भावना नहीं उभरती। उस अवस्था में उसकी संगति में, सामान्य विरोध की तो बात ही क्या, शाश्वत विरोधी प्राणी भी वैरभाव छोड़ देते हैं। यही कारण है कि योगसिद्धि ऋषि मुनियों के आश्रमों में सिंह और गाय एक साथ खाते, पीते व रहते तथा सांप नेवला एक साथ खेलते देखे सुने जाते हैं। २२॥

अब सत्य का लक्षण और उसकी सिद्धि का चिन्ह कथन करते हैं—

सत्यं यथार्थं वाङ्मनसी ॥२३॥

यथाभूत अर्थयुक्त वाक्य और मन ही सत्य हैं।

जो विषय प्रमित हुआ है चित्त तथा वाक्य को तदनुरूप करने की चेष्टा सत्यसाधन है। जैसा अपने ज्ञान में हो वैसा मानना, कहना और करना 'सत्य' कहाता है। छल प्रपंच या धोखा देने की भावना से कहा गया अर्धसत्य (नरो वा कुंजरो वा) भी हेय है। अर्थहीन वाक्य भी असत्य का ही रूप है। सत्य के भी अहिंसामूलक होने के कारण यह आवश्यक है कि कथित वचन प्राणियों के भले के लिये हो। सत्यसाधन में मितभाषी होना सहायक होता है। महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' में रघुकुल के लोगों के गुणों की चर्चा करते हुए लिखा— 'सत्याय मितभाषिणाम्'—सत्यनिष्ठ होने के लिये वे मितभाषी होते थे। अधिक बोलने में वाणी से अनेक असत्य वाक्य निकल जाते हैं। इसलिये मन को सत्य-प्रवण करने में काव्य, कहानी, उपन्यास आदि काल्पनिक विषयों से विरक्त होना पड़ता है ॥२३॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥२४॥

सत्य के प्रतिष्ठित होने पर (वाक्य) क्रियाफल के आश्रयत्व गुणों से युक्त होता है।

सत्यप्रतिष्ठाजनित फल भी इच्छाशक्ति द्वारा उत्पन्न होता है। जिसके वाक्य तथा मन सदा यथार्थविषयक होते हैं उसकी वाक्यवाहित इच्छाशक्ति अमोघ हो जाती है। जिस प्रकार मनोवैज्ञानिक आधार पर हिप्नाटिज्म

(कृत्रिम निद्रा) द्वारा वश्य व्यक्ति के मन में अचल विश्वास उत्पन्न होकर उसके रोग आदि दूर हो जाते हैं उसी प्रकार उत्कृष्ट इच्छाशक्ति योगी के मन में उत्पन्न हो सरल सत्य वाक्य द्वारा वाहित होकर श्रोता के हृदय पर आधिपत्य कर लेती है। इससे श्रोता के मन में उस वाक्य के अनुरूप भाव प्रवल हो जाते हैं। इस प्रक्रिया के अनुसार यदि योगी किसी पापी को कहदे–'तू धार्मिक हो जा' तो वह निश्चय ही धार्मिक हो जाता है अर्थात् अधर्म के मार्ग को छोड़कर धर्म में प्रवृत्त हो जाता है। वस्तुतः सत्यप्रतिष्ठ योगी उसी बात को कहता है जो यथार्थ में हो सकती है। सदा सत्य का उच्चारण करने की अभ्यस्त उसकी वाणी से अन्यथा वचन निकलता ही नहीं। इसलिये उसका कहा कभी व्यर्थ नहीं जाता। सत्यप्रतिष्ठ योगी अपनी क्षमता के बहिर्भूत अथवा असम्भव संकल्प नहीं करता 'जल, तू मिट्टी होजा' ऐसा वाक्य सत्य–प्रतिष्ठा द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता ॥२४॥

'अस्तेय' का लक्षण करके उससे प्राप्त होने वाली सिद्धि का निर्देश करते हैं—

परद्रव्येष्वस्पृहारूपमस्तेयम् ॥२५॥

पराये पदार्थों में इच्छा का न होना 'अस्तेय' है।

जो अदत्त या धर्मतः अप्राप्य है उसका ग्रहण अथवा जो निजस्व नहीं उसका उसके स्वामी की अनुमति के विना ग्रहण करना 'स्तेय' है। ऐसे पदार्थ के विषय में जो निस्पृह होने का भावविशेष है, वही अस्तेय है। अचानक मिल जाने अथवा भूगर्भस्थ पदार्थ के मिल जाने से भी वह ग्राह्य नहीं हो जाता क्योंकि निश्चय ही वह निजस्व न होकर परस्व है। श्रुति का स्पष्ट आदेश है–'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्' (यजु. ४०-१) अर्थात् जिस द्रव्य पर किसी दूसरे का अधिकार है उसे, ग्रहण करना तो दूर, ग्रहण करने की लालसा भी न कर। लालसा ही आगे चल कर स्तेय का रूप धारण कर लेती है। इस सबका पूर्ण त्याग ही अस्तेय है ॥२५॥

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥२६॥

अस्तेय की प्रतिष्ठा हो जाने से सव रत्न उपस्थित हो जाते हैं।

चोरी की भावना का परित्याग हो जाने पर वस्तुओं के लोभ और संग्रह की प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है। ऐसी अवस्था में योगी सबका विश्वासपात्र हो जाता है। तव जिस वस्तु को भी वह चाहता है, संकल्पमात्र से उसे प्राप्त हो जाती है। कहीं भी चला जाये उसे किसी वस्तु का अभाव नहीं होता। इस प्रकार दूसरों का स्वत्वाधिकार होने पर भी सब प्रकार की सम्पदाओं का यथेच्छ उपभोगाधिकार मिल जाने से सब कुछ उसी का हो जाता है। यही सिद्धास्तेय

योगी के पास सब रत्नों का उपस्थित होना है और यही उसकी सिद्धि का चिन्ह है ।।२६।।

अव क्रमप्राप्त ब्रह्मचर्य का लक्षण तथा फल बताते हैं—

जितेन्द्रियत्वं ब्रह्मचर्यम् ।।२७।।

इन्द्रियों का संयम ब्रह्मचर्य है ।

मात्र उपस्थसंयम ब्रह्मचर्य नहीं कहाता । पूर्णरूप से वीर्य रक्षा के साथ अन्य समस्त इन्द्रियों को संयत कर विषयों में निर्बाध रूप से प्रवृत्त होने से रोकना ब्रह्मचर्य है । यदि चक्षु आदि इन्द्रियों को खुला छोड़ दिया जाये तो ये सब मिलकर वीर्यनाश का कारण वन जाती हैं । अतः किसी भी इन्द्रिय की अपने विषय में आसक्ति को न उभरने देना ब्रह्मचर्य पालन के लिये अनिवार्य है । मुण्डकोपनिषद् (३-१-५) में कहा—'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्' । ब्रह्मचर्य का पालन न करने वाले को आत्मसाक्षात्कार कभी नहीं होता । यह पथ अत्यन्त दुर्गम है । पूर्ण संयमी पुरुष ही इसको पार करने में सफल हो पाता है । इस साधना में लगे व्यक्ति को सावधान करने के लिये मनुस्मृति (२-८८,९३) में लिखा है—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु ।
संयम्य यत्नमातिष्ठेद्विद्वान् यन्तेव वाजिनाम् ।।
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ।।

जैसे सारथी घोड़ों को नियम में रखता है वैसे ही विद्वान् मन और आत्मा को खोटे कामों में खींचने वाले विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों को यत्न पूर्वक नियन्त्रण में रक्खे । क्योंकि इन्द्रियों के वश में होके जीवात्मा बड़े-बड़े दोषों को प्राप्त होता है और जब इन्द्रियों को अपने वश में कर लेता है तो सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ।

ऐसा अवसर ही न आने पाये—इसलिये मुमुक्षु को चाहिये कि—

स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
संकल्पो ऽ ध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ।।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः ।।

ब्रह्मचर्य साधन में रत व्यक्ति को आठों प्रकार के मैथुन से बचना चाहिये ।

स्त्री (पुरुष) का एकान्त दर्शन, स्पर्शन, सेवन, विषयकथा, भाषण, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान और संग—ये आठ प्रकार का मैथुन है ।

इस सन्दर्भ में गीता (६-१६,१७) के ये श्लोक द्रष्टव्य हैं—

नात्यश्नतस्तु योगो ऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।

न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

अतिशय खाने वाले या विल्कुल न खाने वाले और खूब सोने वाले या जागरण करने वाले को योग सिद्ध नहीं होता । जिसका आहार विहार नियमित है, कर्मों का आचरण नपा तुला है और सोना जागना परिमित है उसी को यह योग दुःखनाशक अर्थात् सुखावह होता है ॥२७॥

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥२८॥

ब्रह्मचर्य के प्रतिष्ठित होने पर वीर्य—दैहिक आत्मिक शक्ति का लाभ होता है।

जीवन का उद्देश्य है—अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि । एतदर्थ सर्वोत्तम साधन है—निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन । ब्रह्मचर्य का सीधा अर्थ है—चित्त में कामवासनाओं को न उभरने देना । न चाहते हुए भी जिस चीज़ से वलपूर्वक प्रेरित होकर मनुष्य पाप कर डालता है वह काम का उद्दाम वेग है । 'कामात् क्रोधोऽभिजायते'—कामान्ध व्यक्ति की कामवासना पूरी होने में वाधा आ जाने पर, रजोगुण की प्रबलता होने से, वही काम क्रोध में परिणत हो जाता है । फिर—

क्रोधात्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥—गीता २-६३॥

इस प्रकार कभी तृप्त न होने वाला यह कामानल मनुष्य को भस्म कर डालता है । ऐसे दुर्दान्त शत्रु-काम का समूल उन्मूलन निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्यपालन से ही संभव है । इतिहास साक्षी है कि साधकों को योगभ्रष्ट करने में सवसे बड़ा हाथ इसी का रहा है । अतः योगमार्ग को निष्कण्टक वनाने के लिये ब्रह्मचर्य पालन ही सर्वोत्तम उपाय है ॥२८॥

अन्त में अपरिग्रह का स्वरूप प्रस्तुत कर उसके अनुष्ठान से होने वाले फल का निर्देश करते हैं—

देहरक्षातिरिक्तभोगसाधनास्वीकारोऽपरिग्रहः ॥२९॥

देह रक्षा के लिये आवश्यक भोग्य पदार्थों के अतिरिक्त वस्तुओं का संग्रह न करना 'अपरिग्रह' है ।

विषय के अर्जन, रक्षण, क्षय, संग और हिंसा से दुःख होता है । इन सव दुःखों को देख समझ कर दुःखों से मुक्ति चाहने वाले विषयों को ग्रहण नहीं करते और 'त्यागेनैके ऽमृतत्वमानशुः' (तै. आरण्यक १०-१०) त्याग के द्वारा मुक्ति का आनन्द भोगते हैं । प्राणधारण के लिये भोजन, शरीर ढांपने के लिये वस्त्र, सर्दी, गर्मी और वर्षा से बचने के लिये मकान आवश्यक हैं । परन्तु इन

आवश्यकताओं की पूर्ति सादे भोजन, सादे वस्त्रों और सादे ढंग से बने छोटे मकान से हो जाती है। असाधारण भोजन, वहुमूल्य वस्त्र और आलीशान वंगले 'परिग्रह' की कोटि में आ जाते है। योगी के लिये अपरिग्रह पर इतना वल इसलिये दिया गया है कि यदि वह अनावश्यक संग्रह में लगा रहा तो उसकी वृत्तियां तो वहुर्मुखी होंगी ही, उसका सारा जीवन भी इसी में पूरा हो जायेगा। योगसाधना के लिये फिर अवसर कहां ?

अपरिग्रह का एक सामाजिक पक्ष भी है। इस दृष्टि से अपरिग्रह का आंशिक पालन सद्गृहस्थों द्वारा किया जाना वांछनीय है। इसके अभाव में उपभोग्य सामग्री का कुछेक स्थानों पर जमा होना संभव है। परिणामतः साधारण जनता के लिये खुले व्यवहार में कमी हो जाना अवश्यम्भावी है। इससे समाज में विषमता एवं तज्जन्य असन्तोष का कारण विशृंखलता फैलना स्वाभाविक है। सामाजिक दृष्टि से तो—

यावद् भ्रियते जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनः।
अधिकं यो ऽभिमन्येत स स्तेनः दण्डमर्हति॥

आवश्यकता से अधिक वस्तु रखना समाज के प्रति अन्याय एवं दण्डनीय अपराध है। ऐसे व्यक्तियों में परदुःखकातरता एवं सहानुभूति का अभाव होता है। वहुत द्रव्य का स्वामी होकर उसे परार्थ में न लगाना स्वार्थपरता हैं। 'त्यागाय संभृतार्थानाम्' (रघुवंश)-रघुवंशी त्याग के लिये ही संग्रह करते थे। 'आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव'—वादलों की भांति उनका लेना भी देने के लिये होता था। इन गुणों के कारण वे 'योगेनान्ते तनूत्यजाम्' अन्त में योगावस्था में ही प्राणों का विसर्जन करते थे। योगी का लक्ष्य निःस्वार्थपरता की चरम सीमा है। अतः जीवन यापन के लिये नितान्त आवश्यक भोग्य वस्तुओं के अतिरिक्त कुछ भी परिग्रह करना उसकी योगसिद्धि में वाधक है॥२६॥

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः॥३०॥

अपरिग्रह सिद्ध हो जाने पर जन्म के कथं भाव का ज्ञान होता है।

भोग्य पदार्थों का आवश्यकता से अधिक संचय करना 'परिग्रह' है। परिग्रह स्वयं में दुःख का कारण है।

क्योंकि—

अर्थानामर्जनं दुःखमर्जितानाञ्च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् कष्टसंश्रयान्॥

धन के अर्जन में दुःख, अर्जित सम्पत्ति की रक्षा करने में दुःख, आय में दुःख, व्यय में दुःख। जिस अर्थ के कारण पग-पग पर कष्ट पहुंचे, उसे धिक्कार है। जव ऐश्वर्य उपलब्ध होता है तो स्वभावतः उसके भोग में प्रवृत्ति होती है। तव इन्द्रियां विषयों की ओर भागती हैं। और—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ।। मनु० २-९४

काम के उपभोग से काम शान्त नहीं होता । अपितु जैसे घी डालने से अग्नि बढ़ती है वैसे ही इच्छाओं की पूर्ति होने पर उनमें वृद्धि होती जाती है।

अन्यत्र कहा है–'भोगाभ्यासमनुविवर्द्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणाम्' । इतना ही नहीं, 'नानुपहत्य भूतानि उपभोगः सम्भवति'–भोगों में प्रवृत्त होने पर हिंसा की भावना भड़कती है।

कालान्तर में अपरिग्रह के अभ्यास से, भोग्य विषय में तुच्छताज्ञान होने पर, शरीर भी परिग्रह स्वरूप है, ऐसा जान पड़ता है । देह को स्वच्छ, स्वस्थ तथा नीरोग रखने के लिए अपेक्षित दिनचर्या की उपेक्षा करके जब मनुष्य उसके वाह्यरूप को सजाने संवारने में लग जाता है तब वह देहविषयक परिग्रह का दोषी होता है । जब विषय और शरीर से मन का अलगाव होता है और मनुष्य विषयासक्ति को छोड़ जितेन्द्रिय होता है तब उसे जन्मकथन्ता सम्बोध अर्थात् जन्मविषयक ज्ञान होता है । विषय तथा शरीर का घनिष्टताजनित मोह ही पूर्वापर ज्ञान का प्रतिबन्धक है । शरीर को सम्यक् स्थिर तथा निश्चेष्ट करने पर जिस प्रकार दूरदर्शनादि ज्ञान होते हैं उसी प्रकार भोग्यविषय के साथ शरीर भी 'परिग्रह' है–ऐसी ख्याति होने पर आत्मा के पृथक्त्व का बोध तथा शरीर मोह से ऊपर उठ जाने के कारण मनुष्य सोचने लगता है–'जीवन क्या है ? मैं कौन हूँ ? मैं कहां से आया हूँ और क्यों आया हूँ ? पूर्वजन्म में क्या था ? आगे क्या होगा ? क्या करने से मेरा कल्याण होगा ?' इत्यादि । इस प्रकार भौतिक पदार्थों के प्रति 'श्वोभाव' उत्पन्न होने से परिग्रह से निवृत्ति होकर अपरिग्रह के स्थिर होने पर जन्मविषयक समस्याओं तथा उनके समाधान का साक्षात्कार होता है ।।३०।।

अगला सूत्र अहिंसा आदि यमों का महत्व बताने के लिये कहा है—

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।।३१।।

ये यम जाति, देश, काल और समय की सीमा से रहित सार्वभौम महाव्रत हैं।

अहिंसा आदि यमों का सदा सर्वत्र यावज्जीवन पालन किया जाना चाहिये। किसी भी अवस्था में अपवादस्वरूप इनके अनुष्ठान में शैथिल्य अथवा स्थगन अपेक्षित या वांछनीय नहीं है । परन्तु सामान्यजन समाज, वातावरण तथा अन्य बाधाओं से अभिभूत होकर आवश्यकतानुसार उन्हें जाति, देश, काल, शपथ व प्रतिज्ञा तथा सुनिर्धारित नियम आदि से सीमित कर लेते हैं।

मछियारे द्वारा मछली मारने तक अपनी हिंसा को सीमित कर अन्य जाति (प्राणी) की हिंसा न करना जात्यवच्छिन्न अहिंसा है । तीर्थस्थान में हिंसा न

करना देशावच्छिन्न (देशविशेष में सीमित) अहिंसा है। पूर्णमासी या एकादशी के दिन हिंसा न करना कालावच्छिन्न अहिंसा है। किसी प्रयोजन विशेष विषयक प्रतिज्ञा या शपथ को छोड़ अन्यत्र अहिंसक रहना समयावच्छिन्न अहिंसा है। इसके विपरीत कभी, कहीं, किसी भी कारण से, किसी की भी हिंसा न करना जातिदेशकालसमयानवच्छिन्न अहिंसा है। इसी प्रकार केवल गौ ब्राह्मणों की रक्षार्थ असत्यभाषण को छोड़ अन्यथा असत्याचरण न करना जात्यवच्छिन्न सत्य, अन्यत्र असत्यभाषण करते रहने पर भी धर्मस्थान में असत्य न बोलना देशावच्छिन्न सत्य, अमावस्या चतुर्दशी आदि के दिन सत्य बोलना कालावच्छिन्न सत्य तथा प्रयोजन विशेष के निमित्त ही असत्याचरण करना, अन्यथा नहीं, समयावच्छिन्न सत्य है। इसके विपरीत कभी, कहीं, किसी कारण, किसी के भी निमित्त असत्याचरण न करना जातिदेशकालसमयानवच्छिन्न सत्य है। इसी प्रकार शेष यमों के विषय में भी अवच्छेद तथा अनवच्छेद का भेद जानना चाहिये।

यद्यपि यमों का पालन करना मनुष्यमात्र के लिये श्रेयस्कर है, योगमार्ग पर चलने वाले के लिये उनका अनुष्ठान अनिवार्य है। साधारण गृहस्थों के लिए विशेष परिस्थितियों में आंशिक छूट मिल भी जाये तो भी संन्यासी, यती अथवा योगपथ के पथिक के लिये ये सार्वभौम महाव्रत हैं। अतः उनके लिये उनका पालन करना सर्वथा अनिवार्य ॥३१॥

'यम' के निरूपण के अनन्तर योग के द्वितीय अङ्ग 'नियम' का उल्लेख करते हैं—

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥३२॥

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान—ये पांच नियम हैं ॥३२॥

अब क्रमशः प्रत्येक नियम का लक्षण और उसके अनुष्ठान से प्राप्त होने वाले फल या सिद्धि का निर्देश करते हैं—

बाह्याभ्यन्तरपावित्र्यं शौचम् ॥३३॥

बाह्य तथा आभ्यन्तर पवित्रता का नाम शौच है।

'शौच' पद का अर्थ शुद्धि या पवित्रता है। इसके दो भेद हैं—बाह्य और आभ्यन्तर अथवा शारीरिक और मानसिक। इसमें मनुस्मृति (५-१०९) का प्रमाण है—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

जल से शरीर के बाहर के अवयव, सत्याचरण से मन, विद्या और तप अर्थात् कष्ट सहकर भी धर्मानुष्ठान से आत्मा तथा ज्ञान अर्थात् पृथ्वी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के विवेक से बुद्धि शुद्ध होती है।

जल आदि से शरीर, वस्त्र तथा आवास को शुद्ध रखना बाह्य शौच है।

मद, मान, मात्सर्य, असूया, राग, द्वेष, आदि चित्तमलों का प्रक्षालन करके मन को स्वच्छ करना आभ्यन्तर शौच है। अशुचि व्यक्ति का चित्त मलिन तथा शरीर योगाभ्यास में अपेक्षित कर्मण्यता से शून्य होता है। अतः दोनों प्रकार का शौच समान रूप से आवश्यक है।

शरीर और मन दोनों की शुद्धि में आहार का महत्वपूर्ण स्थान है। अमेध्य आहार द्वारा शरीर में अशुचि जाने से शरीर ही दूषित नहीं होता, मन में मलिन भाव भी उभरते हैं। सड़े-गले, दुर्गन्धित, मादक तथा अस्वाभाविक रूप से शरीर यन्त्र के लिये उत्तेजक पदार्थ अमेध्य कहे जाते हैं। मादक द्रव्य के सेवन से चित्त में स्थिरता कदापि नहीं आ सकती। ऐसे द्रव्य उसके वशीकरण में बाधक होने से योग के शत्रु हैं। चरक (चिकित्सास्थान २४-५२, ५३) में ठीक ही कहा है—

प्रेत्य चेह च यच्छ्रेयस्तथा मोक्षे च यत्परम्।
मनः समाधौ तत्सर्वमायत्तं सर्वदेहिनाम्॥
मद्येन मनश्चायं संक्षोभः क्रियते महान्।
श्रेयोभिर्विप्रयुज्यन्ते मदान्धाः मद्यलालसाः॥

अर्थात् परलोक और इहलोक में जो हितकर तथा परम श्रेयः है वह सब देही को मन की समाधि द्वारा ही प्राप्त होता है। परन्तु मद्य से मन में अत्यन्त क्षोभ हो जाता है। अतः मद्य से जो अन्धा है तथा मद्य में जिसकी लालसा है उसे मोक्ष कभी नहीं मिलता॥३३॥

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः॥३४॥

शौच से अपने शरीर में जुगुप्सा—घृणा का भाव तथा पर के साथ संसर्ग से विरक्ति होती है।

जल, मिट्टी तथा विशिष्ट यौगिक क्रियाओं द्वारा शरीर की शुद्धि का निरंतर प्रयत्न करते रहने पर भी जब योगाभ्यासी शरीर को अशुद्ध ही पाता है तो स्वभावतः उसमें अनासक्ति एवं उपेक्षा के भाव उदय होते हैं। ऐसे काय-दोषदर्शी की शरीरमात्र में प्रीति न रहने से अन्य व्यक्तियों के साथ संसर्ग की भी इच्छा नहीं रहती। जब वह शरीर और अंगों की रचना के विषय में चिन्तन करता है तो श्री शंकराचार्य के शब्दों में उसे 'त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंकुलं' तथा 'मूत्रपुरीषाभ्यां' पूर्ण पाता है और अन्त में निश्चय कर डालता है—'रजस्वलमनित्यं च भूतवासमिमं त्यजेत्'॥३४॥

अगले सूत्र द्वारा शौचस्थैर्य का एक और लाभ बताते हैं—

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वसिद्धिश्च ॥३५॥

सत्त्वशुद्धि, सौमनस्य, एकाग्रता, इन्द्रिय विजय तथा आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त होती है।

कायिक शुद्धि मानसिक शुद्धि की पूरक है। अन्यों के साथ संसर्ग न रहने से संसर्गजनित अनेक दोष दूर हो जाते हैं। तब चित्त की शुद्धि की ओर अग्रसर होने पर राग, द्वेष, क्रोध, असूया आदि मलों के प्रक्षालन से सत्त्वशुद्धि अर्थात् मन की निर्मलता होती है। अन्तःकरण की निर्मलता अर्थात् सत्त्वशुद्धि से सौमनस्य अर्थात् मानसिक प्रीति का लाभ होता है। सौमनस्य से प्रणवादि के जप तथा ध्यान में एकाग्रता आती है। एकाग्रता के कारण विषयों में इतस्ततः विचरण करने वाली इन्द्रियाँ बँध सी जाती हैं। इन्द्रियों के विषय से विरत हो जाने पर आत्मदर्शन सुलभ हो जाता है ॥३५॥

सन्निहितसाधनादधिकस्यानुपादित्सा सन्तोषः ॥३६॥

सन्निहित साधन से अधिक साधन के ग्रहणों में इच्छा न होना सन्तोष है।

जीवन निर्वाह के लिए अपेक्षित जो साधन धर्मपूर्वक पुरुषार्थ से प्राप्त हों उनमें प्रसन्न रहना 'सन्तोष' कहाता है। "अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम। दास मलूका कह गये सबके दाताराम'—ऐसा सोच कर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना सन्तोष नहीं, अकर्मण्यता है। तृष्णा के वशीभूत होकर आवश्यकता से अधिक अर्थ संचय में प्रवृत्त होना निन्दा है। तृष्णा के जाल में फंसा व्यक्ति फिर उससे निकल नहीं सकता। भर्तृहरि के शब्दों में 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः', मनुष्य का अन्त हो जाने पर भी उसकी तृष्णा बनी रह जाती है। उसका कभी अन्त नहीं होता।

क्योंकि—

> **निःस्वो वष्टि शतं शती दशशतं लक्षं सहस्राधिपः,**
> **लक्षेशः क्षितिपालतां क्षितिपतिश्चक्रेश्वरत्वं पुनः।**
> **चक्रेशः पुनरिन्द्रतां सुरपतिर्ब्रह्मास्पदं वाञ्छति,**
> **ब्रह्मा विष्णुपदं पुनः पुनरहो आशावधिं को गतः॥**

जिसके पास कुछ नहीं वह सौ रुपये लेकर प्रसन्न हो जाता है, किन्तु फिर एक हज़ार चाहने लगता है, एक हज़ार हो जाने पर लखपति बनना चाहता है, लखपति बन जाने पर राजा बनना चाहता है, राजा हो जाने पर चक्रवर्ती सम्राट् बनने की इच्छा करता है, चक्रवर्ती सम्राट् इन्द्र बनने की, इन्द्र ब्रह्मा बनने की और ब्रह्मा विष्णु बनने की अभिलाषा करता है। इस प्रकार आशा-आकांक्षाओं का अन्त कभी नहीं होता। महात्मा बुद्ध ने, इसी कारण, तृष्णा को ही समस्त दुःखों का मूल कहा है ॥३६॥

सन्तोषात्परमं सुखम् ॥३७॥

संतोष से परम सुख मिलता है ।

समस्त दुःख और विविध प्रकार के क्लेश तृष्णामूलक होते हैं । अपनी अपेक्षित और मर्यादित उपलब्धि में सन्तुष्ट रहने वाले व्यक्ति को तृष्णाजन्य दुःख पीड़ित नहीं करते । ऐसे ही एक प्रसंग में ययाति ने अपने पुत्र पुरू को कहा था—

या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यताम् ।
तां तृष्णां संत्यजन् प्राज्ञः सुखेनैवाभिपूर्यते ॥

दुर्मति व्यक्तियों के द्वारा जो छोड़ी नहीं जा सकती, व्यक्ति के बूढ़ा हो जाने परे भी जिसे बुढ़ापा नहीं आता, प्रत्युत अग्नि में घी डाल देने पर अग्नि के समान बढ़ती ही जाती है–ऐसी तृष्णा को छोड़ता हुआ बुद्धिमान् व्यक्ति अनुपम सुख से भर जाता है । अन्यत्र कहा है—

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥

जो सुख संतोष रूपी अमृत का पान करने वाले शान्तचित मनुष्यों को प्राप्त है, वह धन के लिये इधर उधर भटकने वालों को कैसे मिल सकता है ? वस्तुतः "सर्वत्र सम्पदस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम् । उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मास्तृतैव भूः"–जैसे पैर में जूता पहन लेने वाले के लिये मानों सारी धरती चमड़े से ढक जाती जाती है, वैसे ही सन्तुष्ट मन व्यक्ति के लिये सब कहीं की सम्पदा मानों अपनी हो जाती है ।

स्वामी शंकराचार्य ने कहा–'तृष्णाक्षयः स्वर्गपदं किमस्ति' अर्थात् जिसकी तृष्णा का अन्त हो गया उसे स्वर्ग अर्थात् सुखों का घर मिल मया । महाभारत (शा. प.१७४-४६) में तो यहां तक कह दिया—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥

इहलोक में काम्य वस्तु का जो उपभोगजनित सुख है अथवा स्वर्ग का जो महान् सुख है वह तृष्णाक्षयजनित सुख के सोलहवें अंश के वरावर भी नहीं है।

संतोष नियम की स्थिरता होने पर योगाभ्यासी आत्मज्ञान के लिये निर्बाध प्रयत्नशील बना रहता है ॥३७॥

धर्मानुष्ठाने द्वन्द्वसहनं तपः ॥३८॥

धर्मानुष्ठान में (सुख-दुःखादि) द्वन्द्वों का सहना 'तप' है ।

अल्पमात्र दुःख से जो घबराते हैं उनके द्वारा योग सिद्धि की आशा नहीं । शरीर के कष्टसहिष्णु होने एवं शारीरिक सुख के अभाव में मन विकृत न होने पर ही योगसिद्धि संभव है । इस प्रकार कष्ट से अप्रभावित होना ही तपस्वी होना

हैं। तप दो प्रकार का होता है—दैहिक और मानसिक। सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, चलना-ठहरना, बोलना-मौन रहना आदि द्वन्द्वों का प्रसन्नतापूर्वक सहन करना दैहिक अथवा शारीरिक तप है। सुख-दुःख हानि-लाभ, जय-पराजय, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों को सहन करना मानसिक तप है।

यह द्वन्द्व सहन तप तभी कहा जायेगा जब वह किसी शुभकार्य के लिये किया जाये। निष्प्रयोजन एक टांग पर खड़े रहना, निरन्तर उठाये रख कर हाथ को सुखा देना, चिरकाल तक धूप में या जल में खड़े रहना आदि तप नहीं कहाता। धर्मानुष्ठान में वाधा डालने वाले द्वन्द्वों का सहना ही वास्तविक तप है, व्यर्थ कष्ट सहन करना नहीं।

केवल काम्यविषय के लिये तपस्या करना योगांग नहीं कहाता। शतपथ ब्राह्मण (१०-५-४-१५) में कहा है—'न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः'। विषय सुख के त्याग अर्थात् कष्ट सहन के साथ जिन कर्मों से आपाततः सुख होता है उन कर्मों के निरोध की चेष्टा करना तप है। ऐसी तपस्या ही योग के अनुकूल होती है जिसके द्वारा शरीर धातु की विषमता न होती हो एवं जिसके फलस्वरूप रागद्वेषादिमूलक सहज कर्मों का निरोध हो जाता हो।

कायिक, वाचिक और मानस तप के सन्दर्भ में गीता (१७,१४-१६) के ये श्लोक द्रष्टव्य हैं—

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥
श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥
मूढग्राहेणात्मनो यत् पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥

देवता, वेदज्ञ ब्राह्मण, गुरु एवं माता पिता आदि की पूजा, स्वच्छता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा का पालन करना शारीरिक तप कहाता है।

किसी के मन में बेचैनी पैदा न करने वाला, सत्य-प्रिय-हितकर वचन, आध्यात्मिक ग्रन्थों का अध्ययन (तथा तदनुकूल आचरण) और कर्तव्य कर्मों का अनुष्ठान वाचिक तप कहाता है।

मन को सदा प्रसन्न रखना, किसी भी अवस्था में मन को क्षुब्ध न होने

देना, अधिक न बोलना, मन को संयत रखना और समस्त कार्य शुद्ध भावना से करना मानस तप कहाता है।

वाचिक तप के सन्दर्भ में सत्य, प्रिय और हितकर–तीनों शब्दों का एक साथ प्रयोग मनु के इस वचन को लक्ष्य कर किया गया प्रतीत होता है–"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं चैव एषः धर्मः सनातनः" (मनु-४-३८) महाभारत (सभापर्व ६३-१७) में विदुर ने दुर्योधन से कहा है--'अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः'। 'किरातार्जुनीय' में इस भाव को 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' कह कर प्रकट किया गया है। फिर भी बुद्धिमान व्यक्ति को 'तस्मात् सत्यं वदेत्प्राज्ञो यत्प्रीतिकारणम्' सत्य, प्रिय तथा हितकर वचन बोलने की ही पूरी चेष्टा करनी चाहिए।

इन तीनों प्रकार के तपों को यदि मनुष्य परम श्रद्धा के साथ फल की आकांक्षा को छोड़ कर करता है तो वे सात्त्विक कहाते हैं।

जो तप अपने सत्कार, यश और पूजा के लिये अथवा दम्भ से किया जाता है वह राजस कहाता है। और जो मूढ़ आग्रह से, स्वयं कष्ट उठा कर दूसरों को पीड़ा देने के भाव से किया जाता है वह तामस तप कहाता है ॥३८॥

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥३९॥

तप के अनुष्ठान द्वारा अशुद्धि का क्षय होने से शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है।

शरीर के सर्वथा स्वस्थ हो जाने का नाम 'कायसिद्धि' और दूरवर्ती तथा निकटवर्ती शब्दादि विषयों के यथार्थ ग्रहण करने की शक्ति का नाम 'इन्द्रिय-सिद्धि' है। योगानुष्ठान के लिये स्वस्थ, स्वच्छ और नीरोग शरीर का होना नितान्त आवश्यक है। तप के द्वारा अशुद्धि का क्षय हो जाने पर शरीर और इन्द्रियां इस प्रकार सध जाते हैं कि उनके द्वारा योगाभ्यास में किसी प्रकार की बाधा के उपस्थित होने की आशंका नहीं रहती। तपोऽनुष्ठान से शरीर हलका स्फूर्तिमान् तथा निरालस बना रहने से योगाभ्यास में अधिक समय तक आसीन रहने के लिये अनुकूल रहता है। अपेक्षित विषयों की ओर आकृष्ट न रहना इन्द्रियों की अशुद्धि का क्षय है। विषयों से विरत होने पर इन्द्रियों की दिव्य शक्ति उभरने लगती है। तब इन्द्रियों की शक्ति विस्तार की ओर बढ़ने लगती है और उन्हें दूर का विषय भी दिखाई देने लगता है ॥३९॥

शास्त्राणामध्ययनं प्रणवजपो वा स्वाध्यायः ॥४०॥

शास्त्रों (मोक्षविधायक वेदादि ग्रन्थों) का अध्ययन और ओङ्कार का जप 'स्वाध्याय' है।

योगाभ्यास (प्राणायामादि) से अतिरिक्त समय को इधर उधर व्यर्थ न

गवां कर उस समय में अध्यात्म ग्रन्थों के अध्ययन में लगाना और नियत समय पर ईश्वर के वाचक ओंकार का जप करना स्वाध्याय कहाता है।

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥

स्वाध्याय से योगाभ्यास के लिये प्रेरणा मिलती है और दोनों के संयोग से योगी के हृदय में परमात्मा का प्रकाश होता है ॥४०॥

स्वाध्यायादीश्वरसम्प्रयोगः ॥४१॥

स्वाध्याय से परमात्मा के साथ सम्प्रयोग (मिलन या साझा) होता है।

परमात्मा में मन का स्थित होना स्वाध्यायसिद्धि का चिह्न है। स्वाध्यायस्थैर्य होने पर बहुत समय तक मन्त्र तथा मन्त्रार्थभावना अविच्छिन्न रहती है। परिणामतः अनेक बार आकस्मिक रूप से स्वाध्यायी के मस्तिष्क में अभिलषित अर्थ मानों अवतरित हो जाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई दिव्यात्मा आकर उस अर्थ को बता गया हो। स्वाध्यायशील व्यक्ति का दिव्य पुरुष-परमात्मा से संबन्ध होने से ही ऐसा होता है। इस प्रकार परमेश्वर के अनुग्रह के साहाय्य, अपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण, पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से योगी मुक्ति लाभ करता है ॥४१॥

परमात्मन्यात्मनः समर्पणमीश्वरप्रणिधानम् ॥४२॥

आत्मा का परमात्मा में समर्पण कर देना ईश्वरप्रणिधान है।

तादात्म्यभाव से अपने आप को सर्वात्मना परमात्मा में अर्पण कर प्रणवजप आदि का निरंतर अनुष्ठान करना ईश्वर प्रणिधान कहाता है। बाह्य व्यवहारों से चित्त को हटा कर उठते--बैठते,चलने-फिरते, सोते--जागते, खाते--पीते निज की ईश्वर में तथा ईश्वर की निज में भावना कर योगी अपने समस्त कर्मों को ईश्वर में अर्पण कर देता है। ईश्वरेच्छा में अपनी इच्छा मानकर कर्म के फल की आकांक्षा को त्यागना ही ईश्वरार्थ सर्वकर्मार्पण है। ईश्वर को विस्मृत कर किया गया कर्म सर्वथा अभिमानपूर्वक होता है। अतः उसका समर्पण ईश्वर में नहीं होता। निज को ईश्वरस्थ जान कर ही भगवान् के प्रति भक्ति का उद्रेक जागृत होता है। यही भावना द्वारा ईश्वर में निमग्न होना है ॥४२॥

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥४३॥

ईश्वर प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है।

ईश्वर में सर्वभावार्पित योगी को समाधिसिद्धि होती है जिसके माध्यम से वह सभी अभिलषित विषयों को--जो देहान्तर, देशान्तर या कालान्तर में हो चुके हैं या हो रहे हैं--यथार्थरूप से जान लेता है। अन्यान्य यमनियम दूसरे

प्रकार से समाधिसिद्धि में सहायक होते हैं। पर ईश्वरप्रणिधान समाधि का साक्षात् सहायक है, क्योंकि वह समाधि के अनुकूल भावनास्वरूप है। यही भावना शरीर को निश्चल (आसनस्थ) और इन्द्रियों को विषयविरत (प्रत्याहृत) करती है और धारणा तथा ध्यान के रूप में परिपक्व होकर अन्त में समाधि में परिणत हो जाती है।

किन्तु यदि ईश्वरप्रणिधान ही समाधिसिद्धि का हेतु है तो अन्य योगाङ्गों की क्या आवश्यकता है? वस्तुतः असंयत अनियमित होकर दौड़ने-फिरने से या विषयजनित विक्षेप काल में समाधि नहीं हो सकती। समाधि का अर्थ ही ध्यान की प्रगाढ़ अवस्था है और ध्यान है धारणा की एकतानता। अतः समाधिसिद्धि कहने से समस्त योगाङ्ग स्वतः कथित हो जाते हैं ॥४३॥

यमनियमों में से किसी एक के नष्ट हो जाने पर सभी व्रत नष्ट हो जाते हैं। अतः—

यमनियमानुष्ठानमशेषतः ॥४४॥

सम्पूर्ण यम-नियमों का अनुष्ठान (करना चाहिये)।

यम-नियमों में से एक की भी अवहेलना या उपेक्षा योगी को करना उचित नहीं। सभी का समान महत्व है। कूर्मपुराण (२-११-६९,७०) में लिखा है—

ब्रह्मचर्यमहिंसा च क्षमा शौचं दमो तप.।
सन्तोषः सत्यमास्तिक्यं व्रताङ्गानि विशेषतः।
एकेनाप्यथ हीनेन व्रतमस्य तु लुप्यते ॥

ब्रह्मचर्यादि में से किसी एक का अनुष्ठान न करने पर शेष सभी व्रतों का लोप हो जायेगा। इस सन्दर्भ में महर्षि मनु का निम्न कथन भी द्रष्टव्य है—

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलं बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥

मनु० ४-२०४

यमों की उपेक्षा करके केवल नियमों का सेवन न करे। जो ऐसा करता है वह अधोगति को प्राप्त होता है ॥४४॥

यम-नियमों के अनुष्ठान और उससे प्राप्त होने वाली सिद्धियों का क्रमशः निरूपण करने के पश्चात् योग के तीसरे अंग 'आसन' का निर्देश करते हैं—

स्थिरसुखमासनम् ॥४५॥

निश्चल और सुखावह (उपवेशन) आसन है।

स्थिरता का अर्थ है—देह में कहीं चंचलता का न उभरना और सुख का तात्पर्य है—अभिमत आसन पर पर्याप्त समय तक बैठे रहने पर किसी अंग में पीड़ा का अनुभव न होना। जिसमें किसी प्रकार भी व्यथा या कष्ट अनुभव

हो या शरीर के अस्थैर्य की संभावना रहे वह योगांगभूत आसन नहीं है। आसन से बैठने का स्थान भी ऊँचा-नीचा या ऊबड़-खावड़ न होकर समतल होना चाहिये। बिछाने का आसन भी उपयुक्त होना चाहिये—न इतना गदीला कि आलस्य बढ़कर निद्रा चित्त को अभिभूत करले और न इतना खुरदरा कि उसके स्पर्श से अंग में चुभन या दुखन हो। जिस व्यक्ति को जो आसन अनुकूल हो उसी का निरन्तर अभ्यास करते हुए स्थिरता प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये। किन्तु प्रत्येक स्थिति में 'त्रिरुन्नतं स्थाप्य समे शरीरम्' (श्वेत. २-८) वक्ष, ग्रीवा और सिर को उन्नत करते हुए मेरुदण्ड या रीढ़ को सीधा रखना चाहिये। आसन की स्थिरतासिद्धि के लिये युक्ताहारविहार नितान्त आवश्यक है। अस्वस्थ व्यक्ति के लिये आसनसिद्धि अत्यन्त दुष्कर है ॥४५॥

आसनसिद्धि का फल बताते हैं—

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥४६॥

उससे (आसनसिद्धि होने से) द्वंद्वों द्वारा अभिभूत नहीं होता।

सुख-दुःख, भूख-प्यास, गरमी-सरदी आदि के कारण मनुष्य को पीड़ा होती है। पीड़ा मूलतः एक प्रकार की चंचलता है। स्थिरता द्वारा चंचलता अभिभूत होती है। आसन-स्थैर्य के कारण शरीर शून्यवत् होने से उसकी सहिष्णुता बढ़ती है। सहनशक्ति का विकास होने पर सुख-दुःख आदि द्वन्द्व योगी को पीड़ित नहीं करते। आसनजयी की यह स्थिति योगाभ्यास के नैरन्तर्य में बड़ी सहायक होती है ॥४६।

अगले कुछ सूत्रों में योग के चौथे अंग 'प्राणायाम' के स्वरूप, भेद तथा उसकी सिद्धि से प्राप्त होने वाले फल का निरूपण करते हैं—

श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥४७॥

श्वास-प्रश्वास की गति को रोक देना प्राणायाम है।

बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः'—बाह्यवायु का आचमन करना अर्थात् भीतर लेना 'श्वास' और 'कौष्ठ्यस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासः'—अन्दर कोठे के वायु को बाहर निकालना 'प्रश्वास' है। इन दोनों की स्वाभाविक गति में विच्छेद—रुकावट डाल देना 'प्राणायाम' कहाता है।

श्वास-प्रश्वास नियमित रूप में बिना व्यवधान के सदा चलते रहते हैं। प्राण अर्थात् श्वास-प्रश्वास की क्रिया की समाप्ति तो जीवन की समाप्ति है। अतः श्वास-प्रश्वास की गति को सर्वथा रोका नहीं जा सकता, उसमें अन्तर डाला जा सकता है। इस प्रक्रिया से श्वास-प्रश्वास रूप प्राण बन्द न होकर उसका आयाम-विस्तार होता है। उसमें श्वास-प्रश्वास की अवधि बढ़ जाती है। अनेक श्वास-प्रश्वास का एक प्रश्वास बन जाता है। अभ्यास करते-करते

सौ सांसों की जगह एक ही सांस लेकर काम चल जाता है। गीता में योग की एक परिभाषा 'योगः कर्मसु कौशलम्' की है। एकाग्रता के बिना कुशलता नहीं आ सकती—यह हमारे दैनिक व्यवहार में स्वतः सिद्ध है। जब हम किसी गहरे विचार में निमग्न होते हैं अथवा किसी विषय में तन्मय होकर देखते-सुनते हैं तो हमारी श्वास-प्रश्वास क्रिया अनायास निरुद्ध हो जाती है। यही चित्त की एकाग्रता है जिसे प्राप्त करने का सर्वोत्तम साधन प्राणायाम है।

आसन योग का साक्षात् अंग नहीं है। परन्तु आसन सिद्ध किये बिना प्राणायाम का सुविधापूर्वक किया जाना संभव न होने से योग में उसका उपयोग प्राणायाम द्वारा अपेक्षित है। इसी कारण उसका योगांगों में समावेश है। योग के आठ अंगों में पहले पाँच बहिरङ्ग और अन्तिम तीन अन्तरंग बताये गये हैं। प्राणायाम को उन तीन अन्तरंग अंगों के अनुष्ठान में एक प्रकार की आधार शिला समझना चाहिये। अतः जिस प्राणरोध के साथ चित्त को भी रुद्ध या एकाग्र किया जाता है वास्तव में वही योगाङ्ग प्राणायाम है। प्राणायामगत चित्तस्थैर्य ही धारावाही क्रम से परिवर्धित होकर अन्त में समाधि के रूप में परिणत होता है। चित्तबन्धन की चेष्टा न करके केवल श्वास-प्रश्वास का अभ्यास करने से चित्त स्थैर्य को प्राप्त नहीं करता। फलतः चित्त की स्थिरता तथा निर्विषयता का उत्कर्ष न होने पर वह योगाङ्गभूत प्राणायाम न होकर केवल तमाशा है। मृत्तिका के अन्दर प्रोथित रहकर लोगों को तमाशा दिखाकर पैसा कमाने वाले योगी नहीं होते। न उनकी तथाकथित समाधि योग समाधि होती है। प्राणरोध समाधि का बाह्य लक्षण है, आभ्यन्तरिक लक्षण नहीं ॥४७॥

रेचकपूरकसहशुद्धकुम्भकभेदाच्चतुर्विधः प्राणायामः ॥४८॥

रेचक, पूरक, सहकुम्भक तथा शुद्धकुम्भक भेद से प्राणायाम चार प्रकार का है।

रेचक, पूरक और कुम्भक ही क्रमशः बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति तथा स्तम्भ वृत्ति कहलाते हैं। जब प्राण का व्यापार बाहर की ओर हो अर्थात् वायु का बाहर की ओर रेचन (निकालना) किया जाये तो वह 'रेचक' अथवा 'बाह्य-वृत्ति' प्राणायाम कहाता है। जब प्राण का व्यापार भीतर की ओर हो अर्थात् वायु बाहर से भीतर को भरा जाये तो वह 'पूरक' अथवा 'आभ्यन्तरवृत्ति' प्राणायाम कहाता है। जब इन दोनों का अभाव हो अर्थात् वायु को जहां का तहां रोक रक्खा जाये तो वह 'कुम्भक' अथवा 'स्तम्भवृत्ति' प्राणायाम होता है। कुम्भक में रेचक और पूरक दोनों के अनन्तर प्राण को वहीं रोके रहना होता है। इस प्रकार एक प्राणायाम—एक रेचक, एक पूरक और दो कुम्भक प्राणा-यामों से मिलकर बनता है अर्थात् रेचक और पूरक दोनों के अन्त में होने से कुम्भक का एक ही प्राणायाम में दो बार प्रयोग होता है।

रेचक के बाद कुम्भक और पूरक के बाद कुम्भक–ये दोनों यथाक्रम बाह्य और आभ्यन्तर प्राणवायु की अपेक्षा रखते हैं। सापेक्ष अर्थात् रेचक और पूरक की अपेक्षा रखने से ये 'सहकुम्भक' कहाते हैं।

जब रेचक-पूरक के बिना कुम्भक किया जाये अर्थात् स्वाभाविक रूप में प्राणवायु जहां चल रहा है, वहीं रोक दिया जाये तो वह 'शुद्धकुम्भक' अथवा 'बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी' प्राणायाम कहाता है। यह प्राणायाम रेचक-पूरक की उपेक्षा कर किया जाता है। दूसरों की अपेक्षा यह दुःसाध्य है किन्तु निरन्तर अभ्यास से रेचक-पूरक के बिना ही प्राण को जहां का तहां रोकने में कोई असुविधा नहीं होती।

प्राणायाम एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इस विषय के विशेषज्ञ के मार्गदर्शन में ही इसका प्रशिक्षण लेना तथा अभ्यास करना उचित है। प्राणायाम करते समय प्रारम्भ में व्याहृतियुक्त गायत्री मन्त्र का, तदनन्तर व्याहृतियों का और अन्त में केवल ओङ्कार का जप अवश्य करना चाहिये ॥४८॥

ततः विशुद्धिर्मलानां ज्ञानस्य दीप्तिश्च ॥४९॥

उससे मलसमूह की विशुद्धि तथा ज्ञान की दीप्ति होती है।

अनुभवी मनीषियों ने कहा है–'तपो न परं प्राणायामात्' अर्थात् प्राणायाम से बढ़कर अन्य कोई तप नहीं। यह एक ऐसा अनुष्ठान है जिसके द्वारा शरीर और मन दोनों के मल एक साथ दूर होते हैं। शरीर स्वस्थ, स्वच्छ और नीरोग होता है। आत्मा के ऊपर अज्ञानमूलक कर्म का आवरण है। इस आवरण के रहते उपासना अथवा अध्यात्म की ओर किसी की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। और अविद्यारूप यह अज्ञान और तत्प्रेरित कर्म एवं उनका संस्कार प्राणायाम द्वारा ही शिथिल होता है। इस प्रकार प्राणायाम द्वारा शरीर तथा मानस मल दूर होकर ज्ञान का आलोक होता है।

शारीर मलों के दूर होने के सन्दर्भ में महर्षि मनु का कथन है—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ मनु ६-७१॥

जिस प्रकार अग्नि में तपाये जाने पर सुवर्णादि धातुओं के मल दग्ध होकर वे शुद्ध हो जाते हैं उसी प्रकार प्राणायाम द्वारा इन्द्रियों (बाह्य एवं अन्तर) के दोष दूर होकर वे निर्मल हो जाती हैं।

शरीर में दो प्रकार की नाड़ियां होती हैं। एक–शिरायें जो समस्त शरीर से हृदय में जाती हैं और दूसरी–धमनियां जो हृदय से समस्त शरीर में पहुंचती हैं। समस्त शरीर के व्यापारों में प्रयोग में आने से जो रक्त अशुद्ध हो जाता है वह शिराओं द्वारा हृदय में पहुंचाया जाता है। हृदय उस अशुद्ध रक्त को शुद्ध होने के लिये फेफड़े में भेज देता है। फेफड़ा स्पंज की भांति छोटे-छोटे असंख्य

कोशों का समुदाय है। ये कोश एक मांसपेशी की भांति खुलते और बन्द होते रहते हैं। जब ये कोश खुलते हैं तव एक ओर से तो हृदय से आया अशुद्ध रक्त और दूसरी ओर से श्वास के द्वारा आया शुद्ध वायु एकत्र हो जाते हैं। प्रकृति का नियम है कि जिसमें जो वस्तु नहीं होती वह उसी को दूसरी में से अपनी ओर खींचती है। इस नियम के अनुसार रक्त में से कार्बन वायु निकल कर श्वास के वायु में और श्वास के द्वारा आये वायु में से ओषजन निकल कर रक्त में चला जांता हैं। शुद्ध हुआ रक्त धमनियों द्वारा समस्त शरीर में चला जाता है और अशुद्ध वायु श्वास द्वारा बाहर निकल जाता है। यह कार्य शरीर में हर समय होता रहता है।

अब यदि श्वास के द्वारा पर्याप्त शुद्ध वायु फेफड़ों में न पहुंचे अथवा फेफड़े के सब कोशों में न पहुंचे अथवा अशुद्ध वायु समस्त कोशों में से निकल कर बाहर न चली जाये तो क्या परिणाम होगा? निश्चय ही, पर्याप्त वायु के फेफड़ों में न पहुंचने से जहां एक ओर खांसी, दमा, यक्ष्मा आदि फेफड़ों से सम्बन्धित रोग उत्पन्न होंगे वहां दूसरी ओर हृदय से आया अशुद्ध रक्त बिना शुद्ध हुए लौट कर सारे शरीर में चला जायेगा। इसका फल रक्त विकार होगा। इन दुष्परिणामों से बचने के लिये आवश्यक है कि फेफड़ों को भरपूर वायु मिले और एक भी कोना ऐसा न रहे जहां वायु न पहुंचे। प्राणायाम यही काम करता है।

प्राणायाम द्वारा जब श्वास बाहर रोक दिया जाता है तो कुछ समय पश्चात् ही मनुष्य के भीतर श्वास लेने की प्रबल इच्छा उत्पन्न होती है। तब भीतर श्वास लेते समय स्वभावतः श्वास तीव्र वेग के साथ आंधी के सदृश फेफड़ों में पहुंचता है और जिस प्रकार आंधी का वेग नगर और घरों के भीतर सर्वत्र और दूर-दूर तक प्रवेश कर जाता है उसी प्रकार प्राणायाम करते समय वेग के साथ श्वास द्वारा लिया गया वायु फेफड़ों के एक-एक कोश तक पहुंच जाता है। ऐसी अवस्था में न फेफड़ों में कभी कोई विकार हो सकता है और न रक्त ही दूषित होता है। इस प्रकार प्राणायाम शरीर और इन्द्रियों के मलों को दूर कर शुद्ध एवं स्वस्थ रखने का सर्वोत्तम साधन है।

मन तथा इन्द्रियां सदा प्राण का अनुगमन करते हैं। प्राणायाम द्वारा जब प्राण वश में हो जाता है तो मन तथा इन्द्रियां स्वतः ही आत्मा के अधीन हो हो जाते हैं। तब विपरीत क्रम में न होकर आत्मा के अनुशासन में क्रमशः प्राण, मन और इन्द्रियां प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

प्राणायाम की उपयोगिता, महत्ता एवं प्रशंसा के सन्दर्भ में मनुस्मृति के अध्याय ६ का श्लोक ७० द्रष्टव्य है। मनु जी कहते हैं—

प्रणव तथा व्याहृति से युक्त गायत्री मन्त्र का जप करते हुए विधिपूर्वक संध्या करते हुए प्रतिदिन कम-से-कम तीन बार तीनों प्राणायाम अवश्य करने

चाहियें। ब्रह्मज्ञान निमित्त अध्यात्म मार्ग पर चलने वाले व्यक्ति के लिये प्राणायाम परम तप है। यथाकाल, यथाशक्ति और अधिक प्राणायाम करना मलों के निवारण में और अधिक फलप्रद होता है।

यदि किसी यति तपस्वी से दिन या रात में अनजाने में किसी को कोई कष्ट पहुंच जाता है, तो उसके प्रायश्चित्त रूप में स्नान आदि से शुद्ध होकर वह प्राणायाम करे। इससे उस अवांछनीय का चित्त पर कोई मलिन प्रभाव नहीं पड़ता ॥४९॥

धारणासु च योग्यता मनसः ॥५०॥

और सब धारणाओं में मन की योग्यता होती है।

प्राणायाम में आध्यात्मिक देश की भावना निरन्तर अनुभव करनी पड़ती है। आध्यात्मिक देश में ही चित्त का बन्धन धारणा कहाती है। इस प्रकार प्राणायाम के द्वारा चित्त को उन देशों में बांधने की योग्यता होना स्वतः सिद्ध है। प्राणायाम के अनुष्ठान से राग, द्वेष, मद, मात्सर्य आदि दोषों के दूर हो जाने पर शुद्ध चित्त धारणा आदि योगांगों के अनुष्ठान की पूर्ण योग्यता—क्षमता प्राप्त कर लेता है ॥५०॥

अब योग के पांचवें अंग 'प्रत्याहार' का लक्षण तथा फल कथन करते हैं—

स्वविषयसंयोगाभावे इन्द्रियाणां चित्तस्वरूपानुकरणं प्रत्याहारः ॥५१॥

अपने विषयों से संबन्ध न रखने पर इन्द्रियों का चित्त की स्थिति के अनुरूप हो जाना प्रत्याहार है।

इन्द्रियों का नेता मन अथवा चित्त है। इसके आदेश अथवा सहयोग के विना बाह्य इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्पर्क होने पर भी उन विषयों का ज्ञान नहीं हो सकता। जब यम-नियमादि के अनुष्ठान से संस्कृत हुआ चित्त ही उनसे विमुख हो जाता है तो इन्द्रियां अपने आप शिथिल हो जाती हैं। प्रत्याहार में चित्त की इच्छा ही प्रधान होती है। जैसे समस्त मधु मक्खियां अपनी रानी मधुमक्खी का अनुगमन करती हैं--उसके साथ-साथ उड़ती और बैठती हैं उसी प्रकार प्रत्याहार में इन्द्रियां चित्त की अनुगामिनी बनी रहती हैं। चित्त के विषय लोलुप होने पर उनमें प्रवृत्त होतीं तथा चित्त के निरुद्ध हो जाने पर निरुद्ध हो जाती हैं। इस प्रकार बाह्य विषयों से विमुख होकर चित्त की स्थिति के समान जो इन्द्रियों की स्थिति है वही प्रत्याहार है। ऐसी स्थिति में इन्द्रियों के जय अथवा उनको वश में करने के लिये किसी अन्य उपाय की अपेक्षा नहीं रहती। "प्रत्याहार" योग के बहिरंग भाग का अन्तिम स्तर है ॥५१॥

ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ॥५२॥

उससे (प्रत्याहार से) इन्द्रियां पूर्णतया वश में हो जाती हैं।

प्रत्याहार की सिद्धि होने पर इन्द्रियों में वह शक्ति नहीं रह जाती जिससे वह आत्मा को बलात् विषयों की ओर खींच कर ले जा सकें। उस अवस्था में 'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि' नहीं रहतीं और 'हरन्ति प्रसभं मनः' बीते काल की बात हो जाती है।

कुछ विद्वानों के मत में शब्दादि विषयों में आसक्ति का अभाव ही इन्द्रिय-जय है। कुछ लोग वेद निर्दिष्ट विषयों में प्रवृत्ति तथा निषिद्ध में अप्रवृत्ति को इन्द्रियजय मानते है। ऐसे लोग भी हैं जो पराधीन न होकर स्वेच्छा से विषयों में प्रवृत्ति को इन्द्रिजय कहते हैं। कुछ आचार्यों के मत में राग-द्वेष के अभाव में सुख दुःख का का अनुभव न करते हुए तटस्थ भाव से विषयोपभोग करना इन्द्रियजय है। वस्तुतः ये सभी प्रच्छन्न इन्द्रियलौल्य हैं एवं परमार्थ के लिये विघ्न-रूप हैं। इन्द्रियों की परमावश्यता यही है कि वे किसी भी अवस्था में विषयों में प्रवृत्त न हों। जिसने अग्निदाह को जान लिया है वह कभी भी अग्नि में हाथ डालने की इच्छा नहीं करेगा—न आसक्ति से, न अनासक्त भाव से, न स्वतंत्र भाव से और न परतंत्र भाव से। विषयों के साथ भोगभावना से सम्बन्ध, चाहे किसी भी रूप में हो, मनुष्य को कभी भी पतित कर सकता है। प्रत्याहार-जनित इन्द्रियजय ही योगियों के लिये उपादेय है ॥५२॥

अब योग के छठे अंग 'धारणा' का स्वरूप तथा लाभ कथन करते हैं—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥५३॥

चित्त का देशविशेष में बांधना—केन्द्रित कर देना धारणा है।

प्रत्याहार के अभ्यास के फलस्वरूप चित्त की एकाग्रता का प्रारम्भ हो जाता है। धारणा, ध्यान और समाधि के रूप में उसमें अभिवृद्धि तथा पूर्णता प्राप्त होती है। प्राणायाम आदि में भी धारणा का अभ्यास होता है परन्तु वहां धारणा की मुख्यता न होकर मात्र भावना होती है। धारणा और ध्यान के रूप में इस भावना का विकास होता है। जिस चित्तबन्ध में केवल उसी देश का (जिसमें चित्त बद्ध किया गया है) ज्ञान रहता है और जब प्रत्याहृत इन्द्रिय समूह स्वविषय का ग्रहण नहीं करते तब प्रत्याहारमूलक वैसी धारणा ही समाधि की अंगभूत धारणा होती है। अल्प समय तक चित्त का एकाग्र होना 'प्रत्याहार' में भी है। परन्तु वहां मुख्यतः इसी बात पर बल होता है कि इन्द्रियां चित्त की अनुगामी हैं।

धारणा के अभ्यास के निमित्त चित्त को बांधने के लिये नाभिचक्र, नासिकाग्र आदि देह के किसी अंग को लक्ष्य बनाया जा सकता है अथवा कागज या गत्ते पर चिह्न बना कर सामने टांगा जा सकता है। उस देहांग अथवा चिह्न विशेष

को एकाग्र भाव से देखते हुए आंखें बन्द करके अधिकाधिक काल तक उसी की वृत्ति प्रवाहित करते हुए चित्त को वहीं बांधे रहना चाहिये ॥५३॥

ततः प्रत्ययान्तरस्याभावः ॥५४॥

उस (धारणा) से अन्य प्रत्ययों (ज्ञानवृत्तियों) का अभाव हो जाता है।

धारणा में चित्त की वृत्ति को एकाग्र करने की चेष्टा में न्यूनाधिक्य समय के अन्तर से विषयान्तर वृत्ति उभरती है। उसको हटाते रह कर चित्त को निर्धारित लक्ष्य प्रदेश में अधिकाधिक समय तक बांध कर रखना पर्याप्त श्रम-साध्य है। परन्तु इसका निरन्तर अभ्यास करते रहने से विषयान्तर वृत्ति शिथिल होकर एकाग्रता को बल मिलता है जो योग के सातवें अंग 'ध्यान' की सिद्धि में सहायक होता है ॥५५॥

ध्यान के स्वरूप और उसके अनुष्ठान का फल बताते हैं—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥५५॥

उस लक्ष्य प्रदेश में प्रत्यय (ज्ञानवृत्ति) की एकाग्रता ध्यान कहाती है।

चित्त वृत्ति का नाम 'प्रत्यय' और प्रयत्नों के एकरस प्रवाह का नाम 'एकतानता' है। योगी के चित्त में ध्येयमात्र को विषय करने वाली विजातीय वृत्तियों के व्यवधान से रहित जो सजातीय वृत्तियों की एकतानता उदय होती है उसी का नाम ध्यान है। धारणा में प्रत्यय या ज्ञानवृत्ति केवल अभीष्ट देश पर आबद्ध रहती है। परन्तु उसी देश में प्रत्यय या ज्ञानवृत्ति खण्डित धारा के रूप में प्रवाहित रहती है। अभ्यासबल से जब वह अखण्ड धारा का रूप धारण कर लेती है तब उसे ध्यान कहते हैं। यह चित्तस्थैर्य की अवस्था विशेष है। ध्यान-शक्ति उत्पन्न होने पर साधक किसी भी विषय को लेकर ध्यान कर सकते हैं। योगानुष्ठान के सन्दर्भ में विषयान्तर से सर्वथा असम्पृक्त एकमात्र ध्येय परमेश्वर है। अतः जिस प्रकार नदी समुद्र में प्रवेश करती है उसी प्रकार ईश्वर को छोड़ अन्य किसी पदार्थ का स्मरण न करते हुए उसी अन्तर्यामी के स्वरूप और ज्ञान में निमग्न रहना 'ध्यान' है ॥५५॥

ध्यानान्निर्विषयं मनः ॥५६॥

ध्यान के फलस्वरूप मन विषय रहित हो जाता है।

मन या चित्त के स्थिर हो जाने पर चित्तानुगामिनी समस्त इन्द्रियां विषयों में प्रचरित होने से अवरुद्ध हो जाती हैं। तब मन की अशेष वृत्तियां आत्मचिन्तन—केवल आत्मचिन्तन में प्रवृत्त रहती हैं। आत्मचिन्तन की इस निर्बाध स्थिति में साधक अपने आप को भूल जाता है, बाह्य विषयों का कहीं दूर-दूर तक पता नहीं चलता ॥५६॥

अब योग के अन्तिम स्तर समाधि का विवेचन-उसके लक्षण तथा उसकी सिद्धि से होने वाले लाभ का निरूपण करते हैं—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥५७॥

अपनी ध्यानात्मक प्रतीति से रहित, केवल ध्येयरूप से प्रतीत होने वाले उक्त ध्यान का ही नाम समाधि है।

ध्यान के चरम उत्कर्ष का नाम समाधि है जो चित्तस्थैर्य की सर्वोत्तम अवस्था है। चित्त की जिस एकाग्र अवस्था में ध्याता-ध्येय-ध्यान तीनों की प्रतीति होती है उसे 'ध्यान' कहते हैं। उस स्थिति में ध्याता अनुभव करता है कि मैं अमुक ध्येय का ध्यान कर रहा हूँ। ध्यान जब 'अर्थमात्रनिर्भास' होता है अर्थात् ध्याता ध्यान में इतना लीन हो जाता है अथवा जब ध्यान इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि उसमें केवल ध्येय की ही ख्याति होती रहती है तब वह समाधि होती है। यद्यपि ध्यान उस समय विद्यमान रहता है (क्योंकि ध्यान में ही तो ध्येय भासता है) तथापि ध्याता को उसकी प्रतीति नहीं होती। ध्यान के होते हुए भी उसकी प्रतीति न होना 'स्वरूपशून्य' के समान है। तात्पर्य यह है कि जब अपनी सत्ता विस्मृत हो जाती है और केवल ध्येयविषयक सत्ता-आत्मतत्त्व की ही उपलब्धि होती है अर्थात् ध्येय से अपना पृथक्त्व प्रतीत नहीं होता, ध्येय विषय पर इस प्रकार का चित्तस्थैर्य समाधि है।५७॥

तत्रात्मसाक्षात्कारः ॥५८॥

वहां (समाधि में) आत्मसाक्षात्कार होता है।

समाधिदशा में ध्याता और ध्येय का भेद नहीं रहता। जैसे अग्नि में पड़ा हुआ लोहा भी अग्निरूप हो जाता है उसी प्रकार समाधि में ब्रह्म का साक्षात्कार होकर जीवात्मा परमेश्वर के प्रकाशस्वरूप आनन्द और ज्ञान से परिपूर्ण हो जाता है। जल में डुबकी लगा कर थोड़ी देर भीतर रुकने वाले मनुष्य के समान समाधि अवस्था में जीव प्रभु में मग्न होकर फिर बाहर आ जाता है। सांख्य दर्शन (५-१-१६) में समाधि अवस्था का वर्णन करते हुए कहा—'समाधि सुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता' अर्थात् मोक्ष के समान समाधि में भी ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है। समाधि के द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार तथा परमार्थसिद्धि संभव है ॥५८॥

समाहितचित्त योगियों के लिये आवश्यक अनुष्ठानों के अनतर व्युत्थितचित्त साधकों के लिये अपेक्षित्त साधनों का निर्देश करते हैं—

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥५९॥

तप, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग है।

जिनका चित्त पहले से शुद्ध होता है ऐसे समाहित चित्त वाले व्यक्ति योग

के अन्तरंग साधनों के अनुष्ठान में अनायास प्रवृत्त हो जाते हैं। किन्तु जो अभी विक्षिप्तचित्त हैं उनके लिए पहले बहिरंग साधनों के अनुष्ठान के द्वारा चित्त को निर्मल करना आवश्यक है। बहिरंग साधनों में अन्यतम साधन क्रियायोग है। योग या चित्तस्थैर्य को उद्देश्य कर जो क्रियायें की जाती हैं अथवा जो क्रियायें वा कर्म योग के सहायक साधन हैं वे क्रियायोग कहाते हैं। वे कर्म मुख्यतः तीन प्रकार के हैं–तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधान। विषयसुख के त्याग अर्थात् जिन कर्मों से आपाततः सुख होता है, कष्ट सहन करके भी उन कर्मों के विरोध की चेष्टा करना 'तप' है। द्वन्द्वों को हंसते खेलते सहन करने से वासना क्षीण होने लगती है। ऐसी तपस्या ही योग के अनुकूल होती है जिससे शारीर धातुओं की विषमता न होती हो एवं जिसके फलस्वरूप रागद्वेषादिमूलक सहज कर्मों का निरोध हो जाता हो। आत्मविषयक मनन व चिन्तन करना, तत्सम्बन्धी साहित्य का अध्ययन करना तथा प्रणव आदि मन्त्रों का 'तज्जपस्तदर्थ-भावनम्' के आधार पर जप करना 'स्वाध्याय' है। अनन्य भक्तिभाव से 'क्लेश-कर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पूर्वेषामपि गुरु' परमेश्वर का आराधन–चिन्तन करना तथा समस्त कार्य कर्मफलाकांक्षा का परित्याग कर परमेश्वर में समर्पण की भावना से करना 'ईश्वरप्रणिधान' है ॥५९॥

क्रियायोग के फल का कथन करते हैं—

क्रियायोगानुष्ठानात् क्लेशक्षयः ॥६०॥

क्रियायोग के अनुष्ठान से क्लेशों का क्षय हो जाता है।

क्लेशों की क्षीण अवस्था क्रियायोग द्वारा निष्पन्न होती है। क्लेश सदा चित्त को विक्षिप्त बनाये रखते हैं। इससे एकाग्रता में बराबर बाधा बनी रहती है। क्रियायोग के द्वारा अशुद्धि का क्षय होकर चित्त स्थैर्य की ओर अभिमुख होता है ॥६०॥

अब क्रियायोग से क्षीण होने वाले क्लेशों का निर्देश करते हैं—

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः ॥६१॥

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश पांच क्लेश हैं—

सब क्लेशों का सामान्य लक्षण है–कष्टदायक विपर्यस्त ज्ञान। जन्ममरणादि दुःख का हेतु होने से ये भाव मनुष्यमात्र को कष्ट पहुंचाते हैं। इसी कारण इन्हें 'क्लेश' कहते हैं। किन्तु आदि चार क्लेश अविद्यामूलक हैं। अतः कहा है—

अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषाम् ॥६२॥

(अस्मिता आदि) अगलों का क्षेत्र–उद्गमस्थान अथवा मूलकारण अविद्या है।

अस्मिता आदि चारों क्लेशों का उत्पत्तिस्थान–आधारभूत कारण अविद्या है। अविद्या, मिथ्याज्ञान, अविवेक अथवा विपर्यय को कहते हैं। इसलिए जब तत्वज्ञान अथवा विवेकख्याति का प्रादुर्भाव होता है तो अविद्या का नाश हो जाने से शेष सब क्लेश भी निःशेष हो जाते हैं। इस विषय में महाभारत (शा. प. २११-१७) में कहा है—

बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः॥

अर्थात् अग्निदग्ध बीज जैसे पुनः अंकुरित नहीं होता वैसे ही ज्ञानाग्नि से दग्ध होने पर इन क्लेशों के द्वारा आत्मा पुनः क्लिष्ट नहीं होता।

क्लेश दग्धबीज हो जाने से योगी जीवन्मुक्त की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। क्लेशों के समूल उच्छिन्न हो जाने से पुनर्जन्म के अभाव में उसका यह देह चरम देह होता है॥६२॥

इस अविद्या या मिथ्या ज्ञान का कारण बताते हैं—

इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या॥६३॥

इन्द्रियों और संस्कार के दोष से अविद्या उत्पन्न होती है।

'दुष्टं ज्ञानमविद्या'–जो वस्तु जैसी नहीं वैसी दीखना अविद्या है–'अतस्मिं-स्तदितिज्ञानमविद्या'। ऐसा दो ही कारणों से होता है–इन्द्रियदोष से या संस्कार-दोष से। इन्द्रियदोष है–वात, पित्त आदि शारीर धातुओं के विकृत होने से इन्द्रियों के द्वारा विषय को यथार्थ रूप में ग्रहण करने की क्षमता में कमी हो जाना। विभिन्न कारणों से विविध रोग हो जाते हैं। नेत्रों में कामला रोग हो जाने पर सभी पदार्थ पीले दिखाई पड़ते हैं। प्रकाश की कमी के कारण भी चाक्षुष प्रत्यक्ष दुष्ट हो जाता है क्योंकि उस अवस्था में आंख ठीक कार्य नहीं कर पाती। अनुमान में भी इन्द्रियदोष से मिथ्या अनुमान हो जाता है जैसे धूल को धुआं समझकर अग्नि का अनुमान। ये सब इन्द्रियदोष के ही अन्तर्गत हैं। संस्कारदोष से मिथ्याज्ञान तब होता है जब अनुभव भ्रान्त हुआ हो और उससे संस्कार भ्रान्त हो जाये। रजत जैसी चमकती सीपी को देख कर आत्मा में स्थित रजत के संस्कार के कारण उसे रजत समझ लेना संस्कार दोष का उदाहरण है। इसके अतिरिक्त एक और भ्रान्ति भी होती है जिसे निरालम्ब भ्रम (Hallucination) कहते हैं। जैसे किसी के न आने पर भी पैरों की आहट का आभास अथवा किसी के न बुलाने पर भी किसी के आवाज़ के सुनने का भ्रम। यह संस्कारजन्य विशुद्ध मानस भ्रान्ति है। इन सभी भ्रान्तियों का तात्पर्य 'अन्यस्मिन् अन्यत् निश्चिनोति' अर्थात् अन्य में अन्य की बुद्धि है। यही अविद्या है॥६३॥

अविद्या के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं—

अतस्मिंस्तद्बुद्धिरविद्या ॥६४॥

जो वस्तु जैसी है उसे वैसा न समझ कर अन्यथा–विपरीत समझना अविद्या है। अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्मा में क्रमशः नित्य, शुचि, सुख, तथा आत्मा का ज्ञान होना अविद्या है। यद्यपि अविद्या के विविध रूप हैं, किन्तु यहां प्रस्तुत सन्दर्भ में केवल उन्हीं का उल्लेख किया है जो आत्मा के बन्ध के मुख्य कारण हैं—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। (योग २-३)

इस प्रकार विनाशी पदार्थों में नित्य बुद्धि, अपवित्र शरीरादि में पवित्र बुद्धि, दुःखरूप विषयभोगादि में सुखबुद्धि तथा देहेन्द्रियादि अचेतन पदार्थों में आत्मबुद्धि का नाम 'अविद्या' है ॥६४॥

अब अविद्या के कार्य अस्मिता का लक्षण करते हैं—

बुद्ध्यादिप्राकृतपदार्थेष्वात्मबुद्धिरस्मिता ॥६५॥

बुद्धि आदि प्राकृत जड़ पदार्थों में आत्मबुद्धि 'अस्मिता' है।

द्रष्टा आत्मा चेतन तत्त्व है और बुद्धि आदि देखने के साधन प्रकृति के कार्य हैं। शुद्ध, चेतन एवं अपरिणामी तत्त्व आत्मा तथा अशुद्ध रागादि मलों का जनक जड़ एवं परिणामी बुद्धितत्त्व एक जैसे कैसे हो सकते हैं? फिर भी मोह के कारण मनुष्य दोनों को एक मान बैठता है। परिणामतः उसमें अहंकार का उदय होता है और वह 'अहमस्मि'–'मैं हूं' जैसा व्यवहार करता है। यही 'अस्मिता' है। औपनिषद् लोग इसी को 'हृदयग्रंथि' कहते हैं। जब विवेक के द्वारा अस्मिता के निवृत्त हो जाने पर रागद्वेषादि निवृत्त हो जाते हैं तब पुरुष को मोक्षपद की प्राप्ति हो जाती है। मुण्डकोपनिषद् (२-२-८) में इस अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

प्रकृति-पुरुष के विवेक द्वारा परम पुरुष परमात्मा का साक्षात्कार होने से अविद्या के निवृत्त हो जाने पर हृदयग्रन्थि अस्मिता की निवृत्ति हो जाती है और समस्त संशय निवृत्त होकर जन्म-मरण के हेतु सम्पूर्ण कर्म भी क्षीण हो जाते हैं। अविद्या और अस्मिता में इतना अन्तर है कि अनात्मा में आत्मबुद्धि को अविद्या और सुखदुःखविशिष्ट आत्मा में आत्मबुद्धि अस्मिता है। इसके अतिरिक्त अविद्या कारण है, अस्मिता उसका कार्य ॥६५॥

राग का लक्षण करते हैं—

सुखानुस्मृतिपूर्वः तत्साधने तृष्णा रागः ॥६६॥

सुख की अनुस्मृतिपूर्वक उसे पाने की तृष्णा राग है।

जो सुख मनुष्य एक बार भोग लेता है उसे याद करके बार-बार भोगना चाहता है। सुखजनक लुभावने विषयों की ओर उसका स्वाभाविक आकर्षण होता है। इस प्रकार पहले भोगे हुए सुख को पाने की उत्कट भावना को 'राग' कहते हैं।६६॥

द्वेष का लक्षण करते हैं—

दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे मन्युर्द्वेषः ॥६७॥

दुःख की अनुस्मृतिपूर्वक दुःख के प्रति मन्यु द्वेष है।

दुःख की स्थिति में मनुष्य कभी नहीं पड़ना चाहता। एक बार दुख भोग लेने पर सदा उससे बचना चाहता है। प्रतिकूलताओं को न आने देने अथवा उन्हें नष्ट कर देने की जो भावना जागृत होती है उसी का नाम 'द्वेष' है। यह प्रतिरोध या प्रतीकार की भावना व्यक्ति के चित्त को व्यथित कर कभी-कभी उसे अत्यन्त कुत्सित कार्य करने को उत्तेजित कर देती है ॥६७॥

अब अन्तिम पांचवें क्लेश का लक्षण करते हैं।

जातमात्रस्य मरणत्रासोऽभिनिवेशः ॥६८॥

प्राणिमात्र में मृत्यु का भय अभिनिवेश है।

प्राणिमात्र में सदा बने रहने की इच्छा है। कोई भी मरना नहीं चाहता। बड़े से बड़ा विद्वान् भी मृत्यु के नाम से भय खाता है। इसी क्लेश को 'अभिनिवेश' कहते है। जिसने मरणत्रास का पहले कभी अनुभव नहीं किया वह मृत्यु से कभी नहीं डरेगा। इसी से पूर्वजन्मों का निश्चय होता है जहां प्राणी ने मृत्यु का तीव्र दुःख अनुभव किया हुआ है। इस सर्वाधिक भयंकर दुःख से सदा के लिए मुक्त हो जाने का नाम ही मोक्ष है ॥६८॥

नवम अध्याय

मनोविज्ञान

मनोबुद्धिचित्ताहङ्काराश्चान्तःकरणचतुष्टयम् ॥१॥

मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार अन्तःकरण-चतुष्टय कहाते हैं।

जिस तत्त्व से मन का निर्माण हुआ है वह आकाश मण्डल में सूक्ष्मरूप से सर्वत्र विद्यमान है। इसी तत्त्व को महत्तत्व अथवा अन्तःकरण का नाम दिया गया है। इसी को विश्वमानस कहते हैं। सृष्टि के आदि में ऋषियों के मानस में वेदज्ञान का प्रकाश इसी मानस द्वारा आई तरंगों से हुआ था। यदि मनुष्य अपने मन का सम्बन्ध इस तत्त्व से जोड़ने में समर्थ हो जाये तो उसके अनुभव की गति दूर-दूर तक हो जाती है। इसी तत्त्व का एक अंश मानव हृदय में रह कर काम करता है। इसे मन कहते हैं। ऐतरेय उपनिषद् (२-४) में कहा है—"चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्" अर्थात् चन्द्रमा मन होकर हृदय में प्रविष्ट हो गया। यहां चन्द्रमा से मन की रचना कही गई है। अन्यत्र कहा है—"चन्द्रमा मनसो जातः" अर्थात् चन्द्रमा की उत्पत्ति मन से हुई है। इससे स्पष्ट है कि मन तथा चन्द्रमा का उपादान एक ही है। यह भी स्पष्ट है कि जिस महत्तत्व से इन दोनों की रचना हुई है वह चन्द्रमा की भाँति प्रकाशमान तत्त्व है। उसी को शिवसंकल्प मन्त्रों में 'ज्योतिषां ज्योतिः' कहा है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के समुच्चय को 'अन्तःकरण' अथवा केवल 'मन' कहते हैं ॥१॥

किन्तु चार होने पर भी यह एक ही हैं—

नैतत्तत्त्वचतुष्टयं मनः स्थित्यवबोधकत्वात् ॥२॥

ये चार तत्त्व नहीं हैं, एक मन की ही स्थिति के द्योतक होने से।

मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार एक-दूसरे से पृथक् अथवा स्वतंत्र तत्त्व नहीं हैं, अपितु एक मन की विभिन्न शक्तियुक्त कार्य करने की स्थिति विशेष के बोधक हैं। विभिन्न कार्यों के सम्पादन के लिये एक कार्यालय के विभिन्न विभागों की भाँति उसके विभिन्न नाम पड़ गये हैं। अर्थात् मन=मननात्मक स्थिति (=संकल्प-विकल्प), बुद्धि=विवेचनात्मक स्थिति (=निश्चय), चित्त =चेतनात्मक स्थिति (=स्मरण) और अहंकार=स्व की प्रमुखता की स्थिति (=अभिमान अथवा धृति)। मनस्तत्त्व का एक भाग ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त कर कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म में प्रवृत्त होता है। इसे 'मन' कहते हैं। इसी मनस्तत्त्व के दूसरे भाग को जो मस्तिष्क में रहकर ज्ञानेन्द्रियों

द्वारा प्राप्त ज्ञान की यथार्थता का निश्चय कर तदनुसार आवश्यक कार्य करने का आदेश देता है, 'बुद्धि' कहते हैं। इसी अन्तःकरण के एक भाग में ज्ञान क्षेत्र के अनुभव तथा कर्मक्षेत्र के संस्कार अंकित होते हैं और समय आने पर स्मृति रूप में उभरते रहते हैं। अन्तःकरण का यह भाग 'चित्त' कहाता है। ये तीन विभाग व्यापृत मन के हैं, क्योंकि इसकी क्रियायें आत्मा के नियन्त्रण में प्रकट रूप से होती रहती हैं। इसीलिये इसे उद्बुद्ध मन भी कहते हैं। इसी मनोमय तत्त्व अथवा अन्तःकरण का चौथा भाग 'धृति' अथवा 'अहंकार' कहाता है। इस विभाग द्वारा वे सब कार्य किये जाते हैं ज़िनका आत्मा को प्रत्यक्ष रूप में ज्ञान नहीं होता। आत्मा से एक वार स्थायी आदेश मिल जाने के पश्चात् अभ्यास के कारण ये कार्य स्वतः होते रहते हैं। हर समय आत्मा से आदेश लेते रहना नहीं पड़ता। इस प्रकार 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'–एक ही मन के विभिन्न कार्यों में हेतु होने से विभिन्न नामों से पुकारा जाता है ॥२॥

फिर भी मन स्थूल देह का अंग नहीं है—

देहातिरिक्तं मनः ॥३॥

मन देह से भिन्न है।

कर्म सिद्धान्त का अवश्यम्भावी परिणाम पुनर्जन्म का सिद्धान्त है और पुनर्जन्म के सिद्धान्त का अवश्यम्भावी परिणाम कर्म सिद्धान्त है। जिन कर्मों का फल इस जन्म में नहीं मिलता उनको भोगने के लिये जन्मान्तर ग्रहण करना पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि इस जन्म के अभुक्त कर्म संस्कार के रूप में आत्मा के साथ लगे रहकर अगले जन्मों में चले जाते हैं। मृत्यु के उपरान्त मस्तिष्क सहित शरीर के भस्म हो जाने पर कर्मों के संस्कारों का भौतिक आधार तो सर्वथा नष्ट हो जाता है। अतः यदि संस्कारों के अधिष्ठान अन्तःकरण का आधार मस्तिष्क आदि ज्ञान के साधनों को माना जाये तो देहान्त के साथ ही समस्त संस्कारों का भी अन्त मानना पड़ेगा और संस्कारों के अभाव में पुनर्जन्म न हो सकेगा। अतः संस्कारों का आधार कोई ऐसा होना चाहिये जो पूर्वजन्म के शरीर में भी था और उस देह के भस्म हो जाने पर ज्यों-का-त्यों इस जन्म में भी आत्मा के साथ चला आया है। अतः मस्तिष्क आदि अंगों से भिन्न अन्तःकरण को मानना होगा जिसमें प्रत्येक अनुभव के संस्कार संचित रहते हैं और उन्हीं संस्कारों को साथ लिये वह जन्म-जन्मान्तर में आत्मा के साथ जाता रहता है ॥३॥

जैसे मन देह से भिन्न है वैसे ही आत्मा से भी भिन्न है—

आत्मनश्चापि ॥४॥

और आत्मा से भी (मन भिन्न है)।

जिस प्रकार शरीर से अतिरिक्त मन की सत्ता है उसी प्रकार मन से भिन्न आत्मा की सत्ता है। इन्द्रियें, मस्तिष्क और मन आदि सभी आत्मा के साधन मात्र हैं। इनमें कोई भी ऐसा नहीं जो चेतनावान् हो और पदार्थों का अनुभव कर सकता हो। अतः आत्मा और इन सब साधनों का सम्बन्ध स्वामी और सेवक का अथवा साधक और साधन का है। इन्द्रियों तथा अन्तःकरण में जो प्रकाश है वह आत्मा के सान्निध्य के कारण है। मन का काम संकल्प-विकल्प करना है। यदि मनुष्य संकल्प-विकल्प की इस प्रक्रिया को देख सकता है तो स्पष्ट है कि देखने वाला दृश्य से भिन्न है। विचार की प्रक्रिया 'मन' है। उस प्रक्रिया को देखने वाला मन से भिन्न है, वही 'आत्मा' है। जैसे शरीर और मन में भेद है वैसे ही मन और आत्मा में भेद है। जैसे द्रष्टा बन कर मन शरीर को देख सकता है वैसे ही मन को द्रष्टा बनकर आत्मा देख सकता है ॥४॥

इस मन के रहने का स्थान बताते हैं—

हृत्प्रतिष्ठम् ॥५॥

(मन का) आवास हृदय में है।

मन के रहने का स्थान हृदय है। परन्तु कौन-सा हृदय? हमारे शरीर में दो हृदय हैं। उनमें से एक हमारी छाती के बायें भाग में स्तन के नीचे और दूसरा सिर में ब्रह्मरन्ध्र में। इस दूसरे हृदय में आत्मा और आत्मा के साथ प्राण का वास है। जैसे पुरुष की छाया सदा उसके साथ रहती है, वैसे ही प्राण छाया की भाँति आत्मा के साथ लगे रहते हैं। यद्यपि प्राण शरीर में भिन्न-भिन्न स्थानों में रहते हुए कार्य कर रहे हैं तथापि इन सबका केन्द्र शिर में रहने वाला हृदय ही है—'शिरो वै देववाहनम्'। यही हृदय अन्तःकरण का आधार है। विज्ञानी आत्मा को जहाँ रहकर ब्रह्म की प्राप्ति होती है वह स्थान भी यह मस्तिष्क वाला हृदय ही है। जिस गुहा (ऋतं पिवन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ—कठ. २-६-१६)में उपासक आत्मा और उपास्य ब्रह्म एक साथ रहते हैं (ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति-गीता) वह हमारे शरीर के उत्कृष्ट भाग शिर में विद्यमान हमारा ब्रह्मरन्ध्र का मस्तिष्क वाला हृदय ही है। इसी में अन्तःकरण-चतुष्टय का वास है ॥५॥

अब मन का आन्तर इन्द्रिय के रूप में वर्णन करते हैं—

बहिःष्ठानीतरेन्द्रियाणि मनस्त्वन्तरिन्द्रियम् ॥६॥

जहाँ अन्य इन्द्रियां बाहर स्थित हैं वहां मन अन्दर रहने वाली इन्द्रिय है।

आत्मा को अपने कर्मफल का उपभोग करने के लिये बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखना पड़ता है, क्योंकि विषयरूप भोग सामग्री बाह्य जगत् में ही उपलब्ध है। उसी की प्राप्ति-अप्राप्ति अथवा विपरीत प्राप्ति से उसे सुख-दुःख होता है।

आत्मा शरीर के भीतर रहता है। बाहर उसकी गति नहीं। इसलिये उसे बाह्य जगत् से सम्बन्ध रखने के लिये सम्पर्क अधिकारी की आवश्यकता पड़ती है। अभौतिक आत्मा को भौतिक शरीर से काम लेने के लिये एक ऐसे सहायक तत्त्व की आवश्यकता है जिसमें दोनों के गुण हों। अर्थात् आत्मा की भाँति अभौतिक और शरीर की भांति भौतिक हो। तभी वह सफलतापूर्वक मध्यस्थ अथवा सम्पर्क अधिकारी का काम कर सकता है। स्थूल भूतों का विकार न होने से मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार इन चारों का संश्लिष्ट रूप इतना सूक्ष्म है कि देखा नहीं जा सकता। इसलिये वह सर्वथा अभौतिक है। परन्तु क्योंकि वह सूक्ष्म प्रकृति के अंशों से बना है, इसलिये वह भौतिक (प्रकृति का विकार) है। इस प्रकार अभौतिक होने के कारण वह आत्मा के निकट है और भौतिक होने के कारण इन्द्रियों के निकट है। इस कारण वह आत्मा और शरीर दोनों के बीच माध्यम का काम कर सकता है। इसी मध्यस्थ अथवा सम्पर्क अधिकारी को 'मन' कहते हैं। परन्तु मन भी शरीर से बाहर नहीं जा सकता। कार्यालय के भीतर बैठे-बैठे कार्य सम्पादन के लिये उसे भी ऐसे सहायकों की अपेक्षा होती है जो बहिर्मुख होने के कारण बाह्य जगत् से सीधा सम्बन्ध रखते हों। इन्हीं को इन्द्रियां कहते हैं। पंचभूतों से उत्पन्न न होने पर भी भूतों के गुणों का ग्रहण कराने के कारण इन्द्रियां भौतिक कहाती हैं।

इन्द्रियां करण हैं, किसी के साधन हैं। साधारणतया बाह्य विषयों के साथ सम्बन्ध चक्षु आदि का होता है। इसलिये बाह्य साधन की दृष्टि से इन्हें बाह्य करण कहा जाता है। परन्तु मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार का साधारण अर्थ ग्रहण करने में कभी भी बाह्य विषय के साथ सम्बन्ध नहीं होता। इसलिये इन्हें अन्तःकरण कहा जाता है। स्मृति आदि स्थलों में मन का अन्तर विषयों से सीधा सम्पर्क रहने से उसे आन्तर इन्द्रिय माना गया है। जिस प्रकार बाह्य विषयों के ज्ञान के निमित्त इन्द्रियों को अपने-अपने विषय में प्रवृत्त करने के लिये मन की आवश्यकता है उसी प्रकार आन्तरिक अर्थों तथा व्यवहारों—मनन, चिन्तन, स्मरण, संकल्प—के ग्रहण करने के लिये भी अन्तःकरण अथवा आन्तर इन्द्रिय के रूप में आत्मा को मन की आवश्यकता है। इन्द्रियों से स्वतंत्र रहकर भी मन भीतर के कार्यकलापों—संकल्प-विकल्प, चिन्तन-मनन, भूख-प्यास, सुख-दुःख का अनुभव, रक्त संचार, पाचनक्रिया आदि की व्यवस्था करता है ॥६॥

समस्त इन्द्रियों में मन इतना महत्त्वपूर्ण क्यों है। इसका कारण बताते हैं—

तच्च ज्ञानक्रिययोरधिष्ठानत्वादुभयात्मकम् ॥७॥

और वह (मन) ज्ञान और क्रिया दोनों में साधन रूप होने से उभयात्मक है।

बाह्यान्तर इन्द्रियों के बीच में मन उभयात्मक है क्योंकि ज्ञानेन्द्रियों और

कर्मेन्द्रियों दोनों के साथ उसका सम्बन्ध है। मन के सहयोग के विना कोई भी इन्द्रिय अपने विषय में प्रवृत्त नहीं होती। जब आत्मा को बाह्य जगत् के जानने की इच्छा होती है तो वह अपनी इच्छाशक्ति के बल पर मन के भीतर आलोच्य विषय की ओर बहने वाली विचार तरंग को उत्पन्न करता है। ये विचार तरंग संवेदन-तन्त्रिकाओं (ज्ञानतन्तुओं) में से होती हुई उस इन्द्रिय के केन्द्र विन्दु से जा टकराती हैं जिसका वह विषय होता है। इस प्रकार बाहर के विषय से सम्बन्ध होते ही उसका स्वरूप लिये वह तरंग उन्हीं संवेदन तंत्रिकाओं के मार्ग से मस्तिष्क के केन्द्र में लौट कर मन को सौंप देती है और इस प्रकार आत्मा को अपने इच्छित विषय का ज्ञान हो जाता है। ज्ञान को प्राप्त करने पर यदि उस विषय में कोई कार्यवाही अपेक्षित होती है तो प्रेरक तंत्रिकाओं (क्रिया-तन्तुओं) द्वारा आवश्यक निर्देश सम्वद्ध कर्मेन्द्रिय को मिल जाता है और वह तदनुसार कर्म में प्रवृत्त हो जाती है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सूचना के आधार पर यदि मन संकल्प-विकल्प में फंस जाता है तो कर्मेन्द्रियों को आदेश देने से पहले बुद्धि से परामर्श कर लेता है। दोनों अवस्थाओं में मन कार्य करता है। अतः वह उभयात्मक कहाता है ॥७॥

अब मन के द्विविध कार्य का विस्तार से वर्णन करते हैं—

ज्ञानेन्द्रियाणामधिष्ठातृ दैवम् ॥८॥

ज्ञानेन्द्रियों का अधिष्ठाता दैव (मन) है।

मन हृदय में रहकर काम कर रहा है। शिवसंकल्प विषयक मन्त्रों (यजु ३४,१-६) में उसके दो भाग किये गये हैं—दैव तथा यक्ष। दैव मन का पांचों ज्ञानेन्द्रियों पर अधिकार हैं। अतः सब ज्ञानेन्द्रियां उसी के नियन्त्रण में रहकर काम करती हैं। प्रकाशमान और विषयों के प्रकाश का साधन होने से इन्द्रियों को 'देव' कहते हैं। इन देवों का नियामक होने से अन्तःकरण का यह भाग 'दैव' अथवा 'ज्योतिषां ज्योतिः' कहाता है। प्रकाश का ही अपर नाम ज्ञान है। अतः ज्ञान को उत्पन्न करने की ऐश्वर्य शक्ति जिन करणों में विद्यमान है उन्हें इन्द्रिय कहते हैं, क्योंकि ऐश्वर्य वाले की संज्ञा इन्द्र (चिदि ऐश्वर्ये) है। आत्मा का भी एक नाम इन्द्र है। समस्त इन्द्रियां आत्मा अर्थात् इन्द्र का ही काम करती हैं। इसलिये भी इनका नाम इन्द्रिय है।

आत्मा से आदेश प्राप्त मन के द्वारा प्रेरणा पाकर ज्ञानेन्द्रियां अभीष्ट विषय से सम्पर्क कर तद्विषयक ज्ञान सूचना ज्ञान-तन्तुओं के द्वारा मन तक पहुंचा देती हैं। जिस इन्द्रिय का जो विषय है उसका उसी से सन्निकर्ष होता है। इन्द्रियां भौतिक हैं, भूतों से इनकी यथायथ उत्पत्ति होती है। जैसे पृथिवी से घ्राण, अग्नि से चक्षु आदि। अतः प्रत्येक इन्द्रिय अपने आधारभूत तत्त्व के अर्थ को ही ग्रहण करती है, अन्य को नहीं। इसी कारण चक्षु का शब्द से अथवा नासिका

का रूप से सम्पर्क होना असम्भव है। मन के संयोग के विना कोई इन्द्रिय अपने विषय में प्रवृत्त नहीं होती। कभी-कभी किसी विषय का अपनी इन्द्रिय पर प्रवल आघात मन की प्रेरणा न होने पर भी विषय से सम्वन्ध कर उसे जानने के लिये इन्द्रिय को विवश कर देता है। जैसे-सुषुप्तावस्था में किसी मनुष्य को मेघगर्जन सुनने की कोई इच्छा नहीं हो रही। न उस अवस्था में मन कोई कार्य कर रहा है। परन्तु अचानक ही मेघ के भयंकर गर्जन और विजली की कड़क की ध्वनि उसके कान से टकराकर उसे सुनने के लिये विवश कर देती है। ऐसी अवस्था में भी यह नहीं कहा जा सकता कि मन के संयोग के विना इन्द्रिय अपने कर्म में प्रवृत्त हो गई। वस्तुतः यह संयोग और इसकी प्रक्रिया इतनी सूक्ष्म तथा त्वरित है कि हम उसे अनुभव नहीं कर पाते।

"यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति" (यजु. ३४-१)—वाह्याभ्यन्तर विपयों का प्रत्यक्ष करने के लिये दैव मन जैसे जाग्रत अवस्था में इन्द्रियों की सहायया से कार्य करता है वैसे ही सोते समय स्वप्नावस्था में भी आन्तर इन्द्रिय के रूप में संस्कार रूपी चित्रों का प्रत्यक्ष करने में सचेष्ट रहता है ॥८॥

मन का लिंग-चिन्ह वताने के लिये कहा—

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धिर्मनसो लिङ्गम् ॥९॥

एक साथ (अनेक) विषयों की प्राप्ति न होना मन का लिंग है।

चक्षु आदि इन्द्रियों के समान मन रूपादि नियत विषय का ग्राहक न होकर रूप-रस-गन्ध आदि सभी विषयों को ग्रहण करता है। जव जिस विषय को ग्रहण करना चाहता है, उस विषय से सम्बन्ध रखने वाली इन्द्रिय से सम्पर्क कर उसके द्वारा अपने अभीष्ट को सिद्ध कर लेता है। इस प्रकार रूप-रसादि गुणरहित भी मन रूप-रसादि समस्त गुणों को ग्रहण करने में समर्थ है। परन्तु सव विष्यों को ग्रहण करने में पूर्णतः समर्थ और अत्यन्त शक्तिशाली होते हुए भी वह एक काल में एक से अधिक विषय का ग्रहण नहीं कर सकता। गन्ध के समय रूपादि का तथा रूप के समय गन्धादि का अनुभव नहीं हो सकता। एक समय में एक से अधिक इन्द्रियों से काम लेना और इस प्रकार एक से अधिक विषयों का ज्ञान प्राप्त करना मन के सामर्थ्य से वाहर है। भले ही एक साथ अनेक इन्द्रियां अपने-अपने ग्राह्य विषय से सम्वद्ध हों किन्तु जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ मन का सान्निध्य होगा उस समय उसी के विषय का ज्ञान आत्मा को होगा। यदि उस समय मन आन्तर इन्द्रिय के रूप में अन्तर्मुखी होकर गहन चिन्तन में लीन होगा तो खुली होने पर भी न आंख देख सकेगी और न कान सुन सकेंगे।

वाह्य ज्ञानेन्द्रिय का अपने अर्थ से सन्निकर्ष होने पर भी कभी ज्ञान होने और कभी न होने से भी स्पष्ट है कि जब ज्ञान होता है तो केवल उसी एक

विषय का होता है जो किसी एक इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है और जिसे मन का सहयोग प्राप्त है। अर्थात् जब मन किसी इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होता है तो उसके ग्राह्य विषय का ज्ञान होता है, अन्यथा नहीं। अणु परिमाण होने से मन के लिये एक काल में एक से अधिक इन्द्रिय के साथ सहयोग करना संभव नहीं। अतः एक क्षण में अनेक विषयों की प्राप्ति भी संभव नहीं ॥९॥

किन्तु हम एक साथ अनेक क्रियाओं को होता देखते हैं और मन के सहयोग के बिना ऐसा हो नहीं सकता। अतः एक काल में अनेक विषयों की उपलब्धि संभव ही नहीं, प्रत्यक्ष है। इस आपत्ति को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया—

न युगपदनेकज्ञानक्रिययोरुपलब्धेः ॥१०॥

एक साथ अनेक ज्ञानों तथा क्रियाओं की उपलब्धि होने से (एक साथ अनेक विषयों की उपलब्धि न होना मन का लिंग) नहीं।

एक समय में अनेक ज्ञानों तथा क्रियाओं का होना प्रत्यक्ष देखने में आता है। एक व्यक्ति बैठा हुआ रेडियो द्वारा प्रसारित गाना भी सुन रहा है, समाचार पत्र भी पढ़ रहा है और किसी मित्र से बातें भी करता जाता है। मन्त्र भी बोलता जाता है और बायें हाथ से समिधा तथा दायें हाथ से स्रुवा में घी भर कर आहुति भी देता जा रहा है। वाणी से किसी को कह रहा है कि कल आकर रुपये ले जाना और मन में संकल्प कर रहा है—'कल इसके आने से पहले ही मैं घर से निकल जाऊँगा, नर्तकी गा भी रही है और नाचने की प्रक्रिया में एक साथ हाथ, पैर, नेत्र, मुख आदि अंगों का विभिन्न मुद्राओं में संचालन भी कर रही है। इस प्रकार एक काल में अनेक ज्ञानों तथा क्रियाओं का प्रत्यक्ष हो रहा है और 'यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते' के अनुसार इनमें से कुछ भी मन के सहयोग के बिना नहीं हो रहा। अतः एक साथ अनेक विषयों की उपलब्धि न होने को मन का चिह्न या लक्षण मानना युक्तियुक्त नहीं है ॥१०॥

इस आपत्ति का उत्तर देते हुए कहते हैं—

आशुसञ्चारात्तद्वत् प्रतीतिः ॥११॥

तीव्र गति के कारण ऐसी प्रतीति होती है।

अत्यधिक वेग के साथ मन के कार्य करने के कारण ऐसा प्रतीत होता है। एक साथ अनेक ज्ञानों तथा क्रियाओं की प्रतीति केवल भ्रम है। वस्तुतः मन विभिन्न इन्द्रियों के साथ क्रमपूर्वक संयुक्त होकर उस-उस विषय को ग्रहण करता है। परन्तु मन इतना चंचल है—इतनी तीव्र गति से इधर उधर आता जाता है कि उसके क्रम को पकड़ना या अनुभव करना संभव नहीं। इस कारण विविध ज्ञानों तथा चेष्टाओं के वास्तव में क्रमपूर्वक होने पर भी उनके एक साथ

होने का भ्रम हो जाता है। चित्रपट पर दिखाई देने वाला दृश्य न जाने कितने क्रमिक चित्रों का संश्लिष्ट रूप होता है, परन्तु तीव्र गति से चलने के कारण उनमें से प्रत्येक का पृथक् रूप दिखाई नहीं पड़ता। एक मिनट में सहस्रों वार घूमने वाला चक्र प्रत्येक क्षण में अपना स्थान परिवर्तन करता है किन्तु देखने में वह वैसा प्रतीत न होकर स्थिर जैसा ही दीखता है। फिर मन की गति का कहना ही क्या ! व्यावहारिक दृष्टि से हम समूचे वाक्य या पद को एक साथ पढ़ रहे प्रतीत होते हैं। परन्तु वास्तव में वाक्य में एक-एक पद का और प्रत्येक पद में एक-एक वर्ण का ज्ञान क्रमपूर्वक होता है। प्रारम्भिक पाठ हम इसी प्रकार पढ़ते हैं। परन्तु कालान्तर में अभ्यास के कारण वैसा करते प्रतीत नहीं होते। लगता है कि जैसे हम पूरा वाक्य एक बारगी पढ़ गये। एक वर्ण के उच्चारण-काल में दूसरे वर्ण का उच्चारण असंभव है। परन्तु यह सब कार्य क्रमपूर्वक इतनी तीव्र गति से होता है कि उस क्रम को पृथक्-पृथक् रूप में पकड़ पाना हमारे लिये असंभव है। एक काल में अनेक ज्ञान व क्रियाओं का आभासमात्र होता है। किन्तु वह यथार्थ न होकर केवल भ्रम है ॥११॥

अगले सूत्र के द्वारा मन के यक्ष रूप की व्याख्या की गई है—

कर्मेन्द्रियाणामधिष्ठातृ यक्षम् ॥१२॥

कर्मेन्द्रियों का अधिष्ठाता यक्ष मन है।

कर्मेन्द्रियों का अधिष्ठाता होने से उनके द्वारा होने वाले समस्त कार्य यक्ष मन के नियन्त्रण में होते हैं। दैव मन और उसके अधीनस्थ इन्द्रियां सत्त्वगुण प्रधान तत्त्वों से बनी हैं। यक्ष मन में रजोगुण प्रधान है और उसके अधीनस्थ कर्मेन्द्रियों का निर्माण भी रजोगुणप्रधान भूतों से हुआ है। अपनी इच्छाशक्ति के बल पर ही यक्ष मन कर्मेन्द्रियों को अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त करता है। इन्द्रियों की तुलना में मन अत्यन्त सूक्ष्म तथा शक्तिशाली है। वह आत्मा के निकट भी है। अतः स्वयं जड़ होता हुआ भी आत्मा के चैतन्य प्रभाव को ग्रहण कर चेतन की भांति कर्म करना आरम्भ कर देता है। इन्द्रियों तक उसकी पहुंच है। अतः उन्हें प्रेरित कर आत्मा की इच्छाओं को पूर्ण करने में समर्थ है। मन की अपेक्षा इन्द्रियां स्थूल हैं। अतः आत्मा के चैतन्य के प्रभाव को ग्रहण करने में असमर्थ हैं। परन्तु प्राण तन्तुओं के द्वारा मन की दी हुई गति को तत्काल ग्रहण कर कर्म में प्रवृत्त हो जाती हैं। आत्मा की इच्छा होने पर मन के आदेश से पैर चलने लगते हैं, वाणी बोलने लगती है, आंखों से आंसू बहने लगते हैं, पायु तथा उपस्थ मल बाहर फेंकने लगते हैं।

जिस प्रकार दैव मन को भीतर के अनुभवों एवं कार्यों में वाह्य इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं होती उसी प्रकार भीतर की क्रियाओं के करने में यक्ष मन को भी इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं होती। इसलिये विचारार्थ भीतर प्रश्नोत्तर

करते हुए वह वाणी के बिना ही बोलता रहता है और बिना पैरों से चल कर कहीं पहुंच जाता है।

सामान्य कार्यों के अतिरिक्त मनुष्य अपने जीवन में यज्ञादि के जितने अनुष्ठान करता है उनमें उसका यही मन यक्ष अथवा यजमान बनता है। "येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति" (यजु. ३४-२)—बुद्धिमान् कर्मनिष्ठ विद्वान् जिसके द्वारा कर्मयज्ञों का अनुष्ठान करते हैं वह यक्ष मन ही है। जिस कर्मयज्ञ का यजमान मन है उसका ब्रह्म आत्मा और ऋत्विक् इन्द्रियां हैं। इस सन्दर्भ में गीता (३-७) का यह श्लोक द्रष्टव्य है—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥

अर्थात् जो इन्द्रियों को मन के वशीभूत कर और आसक्ति का परित्याग कर कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग को आरम्भ करता है वह सर्वश्रेष्ठ है।

एक क्षण के लिये भी मनुष्य निष्क्रिय नहीं रह सकता। जिस समय उसमें जो गुण प्रधान होता है उस समय उसी प्रकार के कर्मों में उसकी प्रवृत्ति होती है। इसलिये जब मनुष्य प्रयत्नपूर्वक अपने यक्ष मन को सत्त्वगुणप्रधान बना लेता है तो उसकी समस्त क्रियाओं का प्रवाह आत्मिक शान्ति की ओर चल पड़ता है।

आत्मा के एक लिंग ज्ञान का साधन दैव मन है तो उसके दूसरे लिंग प्रयत्न का साधन यक्ष मन है॥१२॥

सुषुप्ति की अवस्था में मन कार्य करना बन्द कर देता है और मन के बिना कुछ हो नहीं सकता। तब फिर उस अवस्था में हो रहे कार्य कैसे होते हैं? इस समस्या का समाधान अगले सूत्र द्वारा किया गया है—

धृतिश्च गूढव्यापृतं मनः॥१३॥

अदृष्टरूप में कार्य करने वाले मन की संज्ञा धृति है।

यजुर्वेद (३४-१) के अनुसार मन जिस प्रकार 'जाग्रतो दूरमुदैति'—जाग्रतावस्था में कार्य करता है, 'सुप्तस्य तथैव'—उसी प्रकार सुषुप्तावस्था में भी कार्य करता रहता है। परन्तु हम जानते हैं कि सुषुप्ति में अपनी सहायक इन्द्रियों सहित मन, बुद्धि, चित्त—सभी तमोगुण से अभिभूत हो अपना-अपना काम बन्द कर देते हैं। सब शिथिल होकर—थक कर सो जाते हैं। चित्त के संस्कारों का व्यापार भी स्वप्नावस्था तक रहता है। गाढ़ निद्रा में पहुंचने पर शांत हो जाता है। किन्तु उस अवस्था में भी रक्त संचार, हृदय का स्पन्दन, प्राणों का संचालन, नियत समय पर आंख खुल जाना आदि बहुत सी क्रियायें अव्यक्त रूप में होती रहती हैं। कभी-कभी जब हम बुद्धि से किसी विषय में निर्णय नहीं कर पाते तो थक कर या तंग आकर विचार करना छोड़ देते हैं। प्रातः काल उठते ही

हम देखते हैं कि जिस विषय में हम जाग्रत अवस्था में भगीरथ प्रयत्न करने पर भी कोई निश्चय नहीं कर पाये थे वह हमें हस्तामलकवत् प्राप्त हो गया। कभी कभी जाग्रत अवस्था में भी ऐसा होता है कि जब हम किसी विषय का सर्वथा परित्याग कर विषयान्तर पर विचार कर रहे होते हैं तो प्रयत्न करने पर भी याद न आने वाली बात बैठे बिठाये अपने आप याद आ जाती है–बिना बुलाये आ टपकती है। हम प्रातः ४ बजे उठने का संकल्प करते हैं। संकल्प करके सो जाते हैं। ठीक ४ बजे बिना घड़ी का अलार्म बजे हमारी आंख खुल जाती है--मानों हमें किसी ने हाथ पकड़ कर उठा दिया हो। क्या यह सब बिना किसी के किये अपने आप हो जाता है ? नहीं, यह ऐसी सत्ता है जिसके बिना कुछ नहीं हो सकता। जब गाढ़ निद्रा में तमोगुण की वृत्ति बुद्धि और चित्त सहित दैव और यक्ष मन को हाथ पैर बांध कर सुला देती है, तब आवश्यक कार्यों में मन का 'धृति' नामक विभाग प्रवृत्त होता है। रात्रि सेवा (Night duty) के लिये यह स्थायी रूप में नियुक्त है। जब निद्रा के कारण व्यापृत मन की शक्तियां शिथिल होकर शांत हो जाती हैं और विघ्न डालने वाला कोई नहीं रहता तो धृति मन को एकाग्र होकर चिन्तन-मनन करने का अवसर मिलता है और इस कारण समस्या का तत्काल निर्णय हो जाता है।

धारण करने का नाम धृति है। अन्तःकरण के इस भाग का यह नाम उसके अनन्त शक्तियों के धारण करने के कारण पड़ा है। धृति मन जिस पदार्थ को एक बार ग्रहण कर लेता है उसे संभाल कर रखने और समय पर बिना मांगे लौटा देने का उसका अभ्यास एवं स्वभाव है। जड़ होते हुए भी अलार्म घड़ी की भांति धृति मन अपने अन्दर प्रवाहित भावना तरंग के कारण नियत समय पर अपना कार्य कर डालने का अभ्यस्त है।

धृति मन का यह सब कार्य आत्मा के नियंत्रण में हुआ करता है। परन्तु स्वयं आत्मा को भी इसका पता नहीं रहता। पता रहता तो निश्चिन्त होकर सो न पाता और प्रातः उठने पर "आज तो सोने में बड़ा आनन्द आया, दीन दुनिया का कुछ पता ही न रहा" न कह सकता। जैसे किसी मनुष्य को पैर हिलाते रहने या कागज लपेटते रहने की आदत पड़ जाती है। वह यह क्रिया करता रहता है, किन्तु उसे इसका अनुभव नहीं होता। ठीक इसी प्रकार आत्मा के धृति मन से अपने नियन्त्रण में काम कराते हुए भी उसे यह पता नहीं रहता कि ये क्रियायें मैं ही कर-करा रहा हूँ। उसके ये कार्य चिरकाल के अभ्यास के कारण स्वाभाविक रूप से होते रहते हैं। धृति मन को उसने कुछ स्थायी निर्देश दे रक्खे हैं और वह तदनुसार कार्य करता रहता है। उसे हर बार आदेश लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती ॥१३॥

मन का स्वरूप वर्णन करते हैं—

सङ्कल्पविकल्पात्मकं मनः ॥१४॥

संकल्प विकल्प करना मन का स्वभाव है।

भिन्न-भिन्न प्रकार के विचारों को जन्म देना मन का काम है। जीवन में ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब मनुष्य दोराहे या चौराहे पर खड़ा होकर सोचता है—'किङ्करोमि क्व गच्छामि'—मैं क्या करूं और कहां जाऊं। कर्तुमकर्तुम--न्यथाकर्तुम् समर्थ होते हुए भी वह कोई निर्णय नहीं कर पाता। "किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः" (गीता ४-१३)—बड़े-बड़े मनीषी किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। कर्म के विषय में ही नहीं, ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान की यथार्थता के विषय में भी अनेक प्रकार के सन्देह उत्पन्न हो जाते हैं। स्वयं मन के भीतर ही संघर्ष होता देखा जाता है। 'ऐसा करना उचित है या अन्यथा' का विचार करते-करते मनुष्य कभी-कभी भयंकर मानसिक रोगों से ग्रस्त हो जाता है ॥१४॥

ऐसी अवस्था में निर्णय लेने के लिये हमें बुद्धि के पास जाना पड़ता है। क्योंकि—

व्यवसायात्मिका बुद्धिः ॥१५॥

निश्चय करने वाली बुद्धि है।

बाह्य जगत् का ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान तथा आन्तर इन्द्रिय मन की संकल्प-विकल्पात्मक सामग्री मस्तिष्क को सौंप दी जाती है। उस पर युक्तियों तथा प्रमाणों से तर्क-वितर्क करके निश्चय की स्थिति तक पहुंचना वहां पर स्थित बुद्धि का काम है। साधारणतया दैव मन द्वारा प्राप्त सूचनाओं के आधार पर तत्काल निर्णय करके बुद्धि, यक्ष मन को कर्मेन्द्रियों को आवश्यक कार्यवाही में प्रवृत्त करने का आदेश दे देती है। समस्या के गम्भीर होने पर यदि उस विषय में कुछ और ज्ञातव्य होता है तो बुद्धि दैव मन को, और अधिक एकाग्र हो, उस विषय में और अधिक जानकारी प्राप्त करने की प्रेरणा करती है। पूरी जानकारी मिल जाने पर बुद्धि अपना अन्तिम निर्णय दे देती है। कुछ करना आवश्यक होता है तो यक्ष मन को तदनुसार कार्य करने की प्रेरणा करती है। यदि उस विषय में कोई कार्यवाही करना आवश्यक नहीं समझती तो उसे संस्कार के रूप में चित्त को सौंप कर निश्चिन्त हो जाती है। इस प्रकार जहां किसी विषय का विवेचन कर उसका निर्णय करना बुद्धि का काम है वहां आवश्यकतानुसार दैवमन तथा यक्षमन से काम लेना भी उसका काम है। शिवसंकल्प मन्त्रों में इसी की संज्ञा 'प्रज्ञान' है।

इस समस्त क्रिया को मात्र शारीरिक अथवा यान्त्रिक नहीं माना जा सकता। भौतिकवादियों के अनुसार मस्तिष्क में ही एक ऐसा स्थल है जहां संवेदनतन्त्रिकाओं (ज्ञानतन्तुओं) द्वारा बाह्य जगत की जानकारी मस्तिष्क में पहुंच जाती है और वहीं से प्रेरक-तन्त्रिकाओं (क्रियातन्तुओं) द्वारा प्रेरणा पाकर कर्मेन्द्रियां

अपने कार्य में प्रवृत्त हो जाती हैं। यह सारी प्रक्रिया मस्तिष्क द्वारा अपने आप होती रहती है। उनके मत में शरीर एक स्वचालित यन्त्र के समान है। जैसे हम स्टेशनों पर रक्खी तोलने की मशीन में १० पैसे का सिक्का डालते हैं और उस पर खड़े होते ही मशीन में से स्वतः भारसूचक छपा हुआ टिकट बाहर निकल आता है वैसे ही किसी परिस्थिति विशेष के उपस्थित होने पर शरीर में स्वतः क्रिया-प्रतिक्रिया होने लगती है। बायें हाथ पर ततैया बैठते ही ज्ञान-तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क को सूचना पहुंचने पर क्रियातन्तुओं द्वारा दायें हाथ को संदेश मिल जाता है कि बायें हाथ पर पहुंच कर ततैये को हटादो। तनिक सा विचार करने पर पता चलता है कि जिस प्रकार यन्त्र में सदा एक जैसी अनुक्रिया होती है उस प्रकार मनुष्य में सदा एक जैसी निश्चित अनुक्रिया नहीं होती। एक व्यक्ति पहाड़ से फिसल गया, किन्तु नीचे गिरता-गिरता रास्ते में वृक्ष की टहनी पा उसे पकड़ कर लटक गया। उस समय उसके बायें हाथ पर ततैया बैठ गया। स्वचालित यन्त्र की भांति स्वतः अनुक्रिया होने का अर्थ है कि वह तत्काल दायें हाथ से बायें हाथ पर बैठे ततैये को हटादे। परन्तु वह सोच में पड़ जाता है—"यदि ततैये को नहीं हटाता तो वह काटेगा और उससे पीड़ा होगी। यदि हटाता है तो टहनी हाथ से छूट जायेगी और वह नीचे गिर कर मर जायेगा। मर जाने से तो ततैये के काटने से होने वाली पीड़ा को सहने में ही कल्याण है।" अन्ततः वह टहनी को न छोड़ने का निर्णय करता है। संकल्प-विकल्प के बीच झूलते हुए यह निर्णय कौन करता है? निश्चय ही स्वचालित मशीन ऐसा नहीं कर सकती। यह काम 'प्रज्ञान मन' अथवा 'बुद्धि' के द्वारा होता है।

बुद्धि का लोक अन्तःकरण का प्रकाशमय लोक है। शिवसंकल्प मन्त्रों में भी प्रज्ञान अथवा बुद्धि को 'अन्तःज्योतिः' (अन्दर की ज्योति अथवा प्रकाशस्वरूप) कहा है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि बुद्धि के प्रकाश में विषयों का सदा यथार्थरूप ही प्रकट हो। आंख की पुतली पर पड़े जाले की भांति तमोगुण के बढ़ जाने पर बुद्धि का प्रकाश भी धुंधला पड़ जाता है। ऐसी अवस्था में दूषित बुद्धि वस्तु के यथार्थ रूप को नहीं देख पाती। कभी-कभी तो वह उसके स्वरूप के सर्वथा विपरीत देखने लगती है। अन्तःकरण को चेतन करने वाला आत्मा है और बुद्धि अन्तःकरण का ही एक भाग है। फलतः आत्मा का उस पर प्रभाव है। जिस प्रकार चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश ग्रहण करता है उसी प्रकार चैतन्य के प्रभाव को बुद्धि का क्षेत्र तत्काल ग्रहण करता है। अतः आत्मा अपनी इच्छा शक्ति के बल से बुद्धि के क्षेत्र को नियन्त्रित कर उसे रजोगुण एवं तमोगुण के पंजे में फंसने से बचा सकता है। एतदर्थ उसे अपने अधिकार का प्रयोग करना होगा। चैतन्यरूप होने से आत्मा सबका स्वामी है। अन्तःकरण जड़ होने से उसके अधीनस्थ है। आत्मा के अधीन बुद्धि, बुद्धि के अधीन मन और मन के अधीन इन्द्रियां —यह स्वाभाविक क्रम है। [illegible]

अब अन्त:करण के तृतीय अंग 'चित्त' का विवेचन करते हैं—

स्मृत्यधिष्ठानं चित्तम् ॥१६॥

स्मृति का आधार चित्त है।

अन्तःकरण का वह भाग जिसमें ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के अनुभव संस्कार रूप में अंकित रहते हैं, चित्त कहाता है। मस्तिष्क में काम करने वाले किसी विशेष ज्ञानतन्तु मंडल को चित्त नहीं कहते। चित्त तो सत्त्व-रज-तम से बना हुआ विस्तृत तत्त्व है जिसमें इन गुणों के न्यूनाधिक्य के कारण कई प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं। यही चित्त संस्कारों का आधार है। चित्त में अनेकानेक वृत्तियां उत्पन्न होती और नष्ट होती रहती हैं किन्तु नष्ट होने पर भी उनका प्रभाव शेष रह जाता है जिसे वासना या संस्कार कहते हैं। संस्कारों से वृत्तियां और वृत्तियों से संस्कार बनते रहते हैं। यदि विरोधी भावनाओं से आत्मा इन्हें उखाड़ न फेंके तो ये संस्कार जन्म-जन्मान्तर तक चित्त में बने रहते हैं ॥१६॥

स्मृति का लक्षण करते हैं—

संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः ॥१७॥

संस्कारमात्र से उत्पन्न होने वाला ज्ञान स्मृति कहाता है।

इन्द्रियों द्वारा किसी विषय का अनुभव होने पर उसके संस्कार आत्मा में सन्निहित हो जाते हैं। कालान्तर में अनुकूल निमित्त अथवा उद्बोधक पाकर वे पुनः ज्ञान के रूप में उभर आते हैं। इस संस्कारजन्य ज्ञान का नाम 'स्मृति' है। यह 'याद आना' किसी बाह्य इन्द्रिय द्वारा साध्य नहीं। अतः मन=चित्त की सिद्धि में स्मृति का प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है। जिस इन्द्रिय के द्वारा जो प्रथम जाना गया या किया गया था, कालान्तर में उस इन्द्रिय का प्रयोग न होने अथवा नष्ट हो जाने पर भी उसके द्वारा प्राप्त अनुभव की याद उसके संस्कारों के फलस्वरूप ही बनी रहती है। इस प्रकार इन्द्रियसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान 'ज्ञान' कहाता है और संस्कारजन्य ज्ञान 'स्मृति' ॥१७॥

अब स्मृति का स्वरूप कथन करते हैं—

अनुभवानुरूपमर्थस्य स्मरणं स्मृतिः ॥१८॥

अनुभव के अनुरूप अर्थ का स्मरण होना स्मृति है।

पहले कभी इन्द्रियों के द्वारा जैसा जाना था वैसा ही स्मरण होना स्मृति कहाता है। जैसा कोई पदार्थ देखा सुना जाये पदार्थ के न रहने पर भी वह वैसा ही जान पड़े—यह उसका स्मरण है। कैमरे की प्लेट पर हाथी का मात्र आकार ही आता है और वह भी उतना बड़ा जितनी बड़ी प्लेट। किन्तु मन की प्लेट पर हाथी उतना ही बड़ा अंकित होता है जितना बड़ा देखा जाता है।

कैमरे की प्लेट पर आम का केवल आकार बन कर रह जाता है। परन्तु जब हमें खाये हुए आम का स्मरण होता है तो उसके रूप, रंग, आकार, भार, स्वाद, गन्ध आदि सभी का मानस प्रत्यक्ष होता है। जब किसी मित्र का स्मरण होता है जो हमें एक सप्ताह पूर्व मिला था तो उसके रूपरंग, वेषभूषा, अंगों का संचालन, बातचीत आदि सब वैसा ही दिखाई सुनाई देने लगता है जैसा मिलते समय देखा सुना था। इस प्रकार अतीत का ज्यों का त्यों स्मरण होना ही स्मृति कहाता है ॥१८॥

जन्मजन्मान्तर के और इस जन्म के भी अनुभवों के संस्कार चित में कहां-कहां दबे पड़े रहते हैं—इसका हमें ज्ञान नहीं होता। जब कोई संस्कार ऊपर आकर स्मृति के रूप में प्रकट हो जाता है तभी हम उसे जान पाते हैं। परन्तु कभी-कभी प्रयास करने पर नहीं जान पाते। अगले सूत्र में इस रहस्य का उद्घाटन किया गया है—

सचेतनावचेतनाचेतनभेदात्तिस्रोऽवस्थाश्चित्तस्य ॥१९॥

सचेतन, अवचेतन तथा अचेतन भेद से चित्त की तीन अवस्थायें हैं।

कुछ संस्कार तो स्मरण करते ही अनायास हमारे स्मृति पटल पर उभर आते हैं। कुछ ऐसे होते हैं जो प्रयास करने पर उद्भूत हो जाते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जिन्हें हम प्रयास करने पर भी नहीं ढूंढ पाते। चित्त अथवा चेतना के विभिन्न स्तरों के कारण ऐसा होता है। चेतना की तीन अवस्थायें हैं—सचेतन अवचेतन तथा अचेतन। सचेतनावस्था नदी के जल की ऊपरी सतह के समान है। पानी की ऊपरी सतह के नीचे जो पानी है वह अवचेतनावस्था का प्रतीक है। अचेतनावस्था धरती के धरातल को स्पर्श करती हुई जलधारा के समान है।

जिन अनुभवों को प्राप्त किये अधिक समय नहीं बीता होता अथवा समय-समय पर आवश्यकता पड़ते रहने से जो हमसे दूर नहीं हो पाते उनके संस्कार जल की ऊपरी सतह पर तैरते हुए पदार्थों के समान हैं। ये संस्कार हमारे सचेतन मन में बने रहते हैं और आवश्यकता होने पर सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं।

कभी-कभी चित्त के गहरे जल में ध्यान की डुबकी लगाकर ही हम अपने अभीष्ट संस्कार को जगाने में समर्थ होते हैं। प्रायः अनुभवकाल में की गई हमारी उपेक्षा इसमें कारण होती है। यदि अनुभव के समय मनन तथा निदिध्यासन से संस्कार को परिपक्व कर चित्त को अर्पण किया जाये तो अवचेतन चित्त निश्चय ही उसे संभाल कर रखता है और आवश्यकता पड़ने पर उसे निकालकर दे देता है। परन्तु इसके लिये उससे कुछ कहना सुनना पड़ता है और कार्यसिद्धि में कुछ समय भी लगता है। कभी-कभी किसी प्रबल सहकारी

संस्कार के उद्भूत होने पर ही अपेक्षाकृत निर्बल संस्कार की स्मृति हो पाती है। जैसे—किसी व्यक्ति को साधारणतया न पहचान पाने पर भी हम उसे एक झटके के साथ तब पहचान जाते हैं जब वह हमें याद दिलाता है कि एक बार रात्रि के समय भयंकर वर्षा और आंधी से बचने के लिये वह हमारे बरामदे के कोने में चुपचाप बैठ गया था और हमने चोर समझकर उसे ललकारा था। पर्याप्त समय तक प्रयोग में न आने के कारण भी कुछ संस्कार निर्बल पड़ जाने से अवचेतनावस्था में चले जाते हैं। थोड़े से प्रयास से ही वे बाहर आ जाते हैं।

कभी-कभी गहरा ग़ोता लगाने पर भी हम अपने अभीष्ट संस्कार को नहीं जगा पाते। अत्यधिक प्रयास करने—बार-बार माथा टकोरने पर भी हमें सफलता नहीं मिलती। इनमें कुछ संस्कार तो ऐसे होते हैं जिन्हें हम सर्वथा अनुपयोगी समझकर कूड़े करकट की कोठरी में डाल देते हैं। तब कभी अकस्मात् आवश्यकता पड़ जाने पर भी हमारे लिये उन्हें ढूंढ़ निकालना सम्भव नहीं रहता। कभी-कभी दूषित विचारों के आने पर हम उन्हें मन में से धकेल कर बाहर फेंक देते हैं। परन्तु एक बार आने वाला जाने का नाम नहीं लेता। इसलिये बाहर जाने की बजाय वे हमारे मन के एक कोने—अन्तस्तल अथवा अचेतन स्तर में छुपकर जा बैठते हैं। कुछेक को हम स्वयं समाज भय के कारण छुपाकर बिठा देते हैं। कुछ संस्कार हमारी अतृप्त वासनाओं से उद्भूत होते हैं। ये सभी अचेतन में जमा हो जाते हैं। किसी भी संस्कार का सर्वथा नाश नहीं होता किसी भी अवस्था में वह रहे, रहेगा अवश्य। ऐसे उपेक्षित अथवा दबे पड़े संस्कार भी कभी-कभी बिना बुलाये आ धमकते हैं और हम उन्हें पहचानने को विवश हो जाते हैं। स्वप्नावस्था में न जाने कब-कब के और कहां-कहां के संस्कार विभिन्न रूपों में प्रकट हो जाते हैं। अचेतनावस्था को प्राप्त संस्कार मनुष्य के विक्षिप्त अथवा मूर्च्छित हो जाने पर मुखर हो जाते हैं। कोई-कोई संस्कार मानसिक तनाव में बदल कर रोग का रूप धारण कर लेते हैं ॥१९॥

अन्त में अन्तःकरण के चतुर्थ अंग 'अहंकार' का निरूपण करते हैं—

अहंवृत्तिकोऽहङ्कारः ॥२०॥

अहं जिसकी वृत्ति है वह अहंकार है।

आत्मा अपने लिये सदा 'अहम्' पद का प्रयोग करता है। इस अवस्था में अन्तःकरण में आत्मा का भान होता है। अभिमान (मैं) की भावना का साधन होने से उसकी संज्ञा 'अहंकार' है जो धृति मन का वह रूप है जिसमें आत्मा की शक्तियों का आभास होता है। स्वाग्रह अथवा शक्ति प्राप्त करने की अभिलाषा में अहंकार की ही अभिव्यक्ति है। चेतना में वर्तमान जीवन की प्रेरणा देने वाला मूलस्रोत अहंकार ही है ॥२०॥

अगले कुछ सूत्रों में मन की कतिपय शक्तियों एवं उसके गुणों का उल्लेख किया है—

सुषारथिमनः ॥२१॥

मन चतुर सारथी है।

अच्छा सारथि घोड़ों को जिधर चाहता है चलाता है। इन्द्रियों का स्वस्थ और वलिष्ठ होना जितना आवश्यक है उतना ही आवश्यक यह है कि इन्द्रियरूपी घोड़े इतने सधे हुए हों कि उनका एक-एक पग सारथि की इच्छानुसार पड़े। सारथि के घोड़ों को नियन्त्रण में रखने के लिये रस्सी की आवश्यकता होती है। वेद में ऐसी रस्सी को 'अभीशु' नाम से पुकारा गया है। 'अभीशु' का पदार्थ है–अभि=सम्मुख—इशु=ऐश्वर्यवाला अर्थात् ऐश्वर्य को सामने रखना या सामर्थ्य की उपासना करना। मनुष्य के सारथि मन के सन्दर्भ में 'अभीशु' का अर्थ होगा–संचालन तथा नियन्त्रण में समर्थ। समर्थ सारथि वही होगा जिसमें अपनी शक्तियों का इच्छानुसार प्रयोग करने का साहस होगा। जाग्रत तथा सुषुप्तावस्था में दूर-दूर तक दौड़ लगाने वाले मन को यदि वह कान पकड़कर नहीं विठा सकता और इसके विपरीत स्वयं उनका अनुगामी बन जाता है तो उसे 'सुषारथि' क्या, सामान्य अर्थों में भी सारथि नहीं कहा जा सकता। अतः स्वामी आत्मा के लक्ष्य को जान, वहाँ पहुंचने के मार्ग का निश्चय कर, निर्विघ्न यथास्थान पहुंचाने वाला ही सुषारथि पद का अधिकारी है ॥२१॥

जविष्ठमजिरम् ॥२२॥

(मन) सर्वाधिक वेगवान् तथा कभी जीर्ण न होने वाला है।

भौतिक जगत् में प्रकाश की गति सबसे तीव्र मानी जाती है–एक सेकण्ड में एक लाख छियासी हज़ार मील। किन्तु मन की गति का गणित की भाषा में निश्चय करना असम्भव है। इसीलिये उसके लिये आतिशय्यबोधक 'जविष्ठ' पद का प्रयोग किया गया है। जविष्ठ मन बड़ी से बड़ी वाधा आने पर भी कार्य सिद्धि से पहले नहीं रुकेगा। मनस्वी व्यक्ति ही "कार्यं वा साधयेयं शरीरं वा पातयेयम्" जैसी घोषणा करने का साहस कर सकता है। यही जविष्ठ मन स्वेच्छाचारी हो जाने पर क्षण भर में मनुष्य को मृत्यु के मुख में धकेल देता है। यमनियमादि के द्वारा इसकी वृत्तियों को वश में करना ही योग है।

इन्द्रियों के शिथिल, निष्क्रिय अथवा नष्ट हो जाने पर भी मन की सत्ता यथायथ वनी रहती है। शरीर के बूढ़ा हो जाने पर भी मन जवान बना रहता है। 'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः' भर्तृहरि के इस कथन में मन के 'अजिर' होने की ही प्रकारान्तर से व्याख्या है ॥२२॥

त्रिकालज्ञानसाधनम् ।।२३।।

तीनों कालों का ज्ञान कराने वाला है ।

यजुर्वेद (३४-४) में मन की शक्तियों का वर्णन करते हुए कहा है–"येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्"–यह मन भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान सब पदार्थों को ग्रहण करने वाला है । यह ठीक है कि जड़ होने के कारण मन में ज्ञान नहीं है और अल्पज्ञ होने के कारण आत्मा भी त्रिकालज्ञ नहीं है । किन्तु आत्मा एक ऐसा तत्त्व है जो अल्पज्ञ होते हुए भी अपने अन्दर विशाल ज्ञान के भण्डार का संग्रह करने का सामर्थ्य रखता है और उसके संसर्ग से अथवा उसका साधन होने के कारण मन को उस ज्ञान से सम्बद्ध माना जा सकता है । जो आज क-ख-ग भी नहीं पहचानता, एक दिन आता है जब वह पूछे जाने पर बता देता है कि आज से ५ वर्ष पूर्व सूर्यग्रहण कब हुआ था अथवा आज से १० वर्ष बाद कब होगा । इसी प्रकार अन्य ग्रहों की गति और उनके उदयास्त की व्यवस्थादि के सम्बन्ध में भी यथार्थ उत्तर दे सकता है । इसी प्रकार के ज्ञान के आधार पर वह भविष्यत् की योजनायें बनाता है । स्वाध्याय, अनुभव, परीक्षण तथा ज्ञानियों के संसर्ग से आत्मा का ज्ञान बढ़ता हुआ नित्यप्रति देखा जाता है । ज्ञानी जीवात्माओं की अपेक्षा परमात्मा का ज्ञान अनन्त है । सत्त्वगुण प्रधान हो जाने पर जब जीवात्मा को परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त हो जाता है तो वह अपने ज्ञान को न जाने कितना बढ़ा लेता है । उस अवस्था में त्रिकालज्ञ, तत्त्वदर्शी परम पुरुष का ज्ञान जीवात्मा को अपनी शक्ति से सम्पन्न करने लगता है । जब साधारण मनुष्य भी स्वामी के निकट होने पर उसके ऐश्वर्य को अपना कहने लगते हैं तो मुक्ति पर्यन्त आत्मा का साथ देने वाले मन को तादात्म्यभाव से त्रिकालज्ञ कह दिया जाये तो विशेष आपत्ति की बात नहीं ।

परन्तु उस अवस्था में भी जीवात्मा परमात्मा के समान अनन्त ज्ञान का भण्डार नहीं बन सकता । परमात्मा के अनन्त ज्ञान को प्राप्त करने की न उसे आवश्यकता है और न उसमें सामर्थ्य । अत: जीवात्मा को उतना ही ज्ञान प्राप्त होता है जितने की उसके जीवन में उपयोगिता संभव है । मन्त्र में 'भूत-भविष्यत्-वर्तमान' से पूर्व 'इदम्' पद जोड़े जाने से वे ही पदार्थ अभिप्रेत हैं जो जीवात्मा के सन्निहित हैं । यजुर्वेद (३८-२६) का यह मन्त्र इस विषय को सर्वथा स्पष्ट कर देता है—

यावती द्यावापृथिवी यावच्च सप्तसिन्धवो वितस्थिरे, तावन्तमिन्द्र
ते ग्रहमूर्जा गृह्णाम्यक्षितं मयि गृह्णाम्यक्षितम् ।

इस मन्त्र में प्रयुक्त दो शब्द–ऊर्जा तथा तावन्तम्–बड़े महत्त्वपूर्ण हैं । 'ऊर्जा' पद से दो भाव झलकते हैं । एक तो यह कि जीवात्मा प्रकट कर रहा है कि मेरी शक्ति इतने ही पदार्थों का ज्ञान ग्रहण करने तक सीमित है और दूसरा

यह कि मैंने अपने सत्त्वगुण प्रधान मन की ज्ञान ग्रहण की शक्ति को जागृत कर लिया है। 'तावन्तम्' भी पदार्थों की उस मर्यादा को प्रकट कर रहा है जितनी मात्रा में भूलोक और द्युलोक के पदार्थों के ज्ञान की उसे अपेक्षा है ॥२३॥

ज्ञानमात्रस्याधिष्ठानम् ॥२४॥

सम्पूर्ण ज्ञान का आश्रय है।

आत्म दर्शन अथवा ईश्वरीय शक्तियों का प्रकाश होने पर मन, बुद्धि आदि अन्तःकरण के सभी अंग चमक उठते हैं। तब चित्त में प्रतिभा शक्ति का उदय होता है। उससे सूक्ष्म से सूक्ष्म, छिपी हुई, दूरस्थ एवं अतीत की वस्तुओं का ज्ञान होने लगता है। जीवात्मा आन्तर एवं बाह्य सब तत्त्वों की यथार्थता-उनके वास्तविक स्वरूप को जान लेता है। सृष्टि के सब रहस्य हस्तामलकवत् उसे प्रत्यक्ष हो जाते हैं। सब भावों के अधिष्ठाता परम पुरुष के गुणों का आभास होने पर समस्त ज्ञान उसे अपने भीतर प्रतिष्ठित दीखता है। ज्ञान का पर्याय वेद है। "यस्मिन्नृचः सामयजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभावाविराः"— समस्त ज्ञान-विज्ञान के मूल स्रोत ऋग्वेदादि उसे अपने भीतर वैसे ही ओतप्रोत दीखते हैं जैसे रथ की नाभि में अरे। वस्तुतः जीवात्मा के लिये अपेक्षित सम्पूर्ण ज्ञान उसमें सन्निहित है। शिक्षा, अभ्यास, ईश्वरोपासना आदि साधनों के द्वारा उसका प्राकट्यमात्र होता है ॥२४॥

कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्वं मनः ॥२५॥

काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, ह्री, धी और भी— ये सभी मन हैं अर्थात् ये सब मन की वृत्तियां हैं ॥२५॥

शुभाशुभगुणानामिच्छा कामः ॥२६॥

उत्तम व्यवहारों का आचरण करने और बुरों को छोड़ देने का नाम 'काम' है ॥२६॥

तत्प्राप्त्यनुष्ठानेच्छा सङ्कल्पः ॥२७॥

शुभ गुणों को प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ करने की इच्छा 'संकल्प' है ॥२७॥

संशय्य निश्चयकरणेच्छा विचिकित्सा ॥२८॥

प्रथम शंका करके ठीक निश्चय करने के लिये किया गया सन्देह 'विचिकित्सा' है ॥२८॥

सत्यादिगुणेष्वत्यन्तं विश्वासः श्रद्धा ॥२६॥

सत्य आदि गुणों में निश्चय से विश्वास करने का नाम 'श्रद्धा' है ॥२६॥

अधर्मादिषु सर्वथाऽविश्वासोऽश्रद्धा ॥३०॥

अधर्म, अन्याय आदि दुर्गुणों से विरत रहना 'अश्रद्धा' कहाती है ॥३०॥

सुखदुःखहानिलाभेष्वपि धर्माऽत्यागोधृतिः ॥३१॥

सुख-दुःख, हानि-लाभ होने पर भी धर्म पर अडिग रहना 'धृति' कहाती है ॥३१॥

तद्विपरीता अधृतिः ॥३२॥

इसके विपरीत व्यवहार को 'अधृति' कहते हैं।

सत्यधर्मानाचरणेऽसत्यधर्माचरणे संकोचो ह्रीः ॥३३॥

सत्कर्मों के न करने तथा असत्कर्मों के करने में जो संकोच होता है उसे 'ह्री' कहते हैं।

शुभगुणधारिका वृत्तिर्धीः ॥३४॥

श्रेष्ठ गुणों को धारण करने वाली वृत्ति का नाम 'धी' है ॥३४॥

पापाचरणे भयवृत्तिर्भीः ॥३५॥

पाप कर्म करने में डरते रहना 'भी' है।

अब साक्षात्कार के लिए आवश्यक साधनों का निरुपण करते हैं—

श्रवणं मननं निदिध्यासनञ्च साधनत्रयं साक्षात्कारार्थम् ॥३६॥

श्रवण-मनन-निदिध्यासन—ये तीन साक्षात्कार के साधन हैं।

जब तक लक्ष्य की प्राप्ति—ब्रह्म का साक्षात्कार न हो तब तक इन साधनों का अनुष्ठान आवश्यक है। किसी एक साधन द्वारा याथातथ्य ज्ञानार्जन संभव नहीं। निदिध्यासन पर्यन्त सभी साधन समान रूप से अनुष्ठेय हैं। इतना ही नहीं, प्रयोजन पूरा होनें तक साधनों का निरन्तर अभ्यास तथा उनकी आवृत्ति भी अपेक्षित है ॥३६॥

अगले सूत्रों में साक्षात्कार तथा उसके साधनों—श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन की व्याख्या की गई है—

स्वरूपागमनं साक्षात्कारः ॥३७॥

किसी वस्तु के स्वरूप–गुण–कर्म–स्वभाव को याथातथ्य जान लेना 'साक्षात्कार' है ॥३७॥

ध्यानावस्थिततद्गतेनमनसा गुरुवचनादानं श्रवणम् ॥३८॥

शान्तचित्त हो एकाग्रमन से गुरु (आप्त पुरुषों) के उपदेश को ग्रहण करना 'श्रवण' कहाता है। इसी का निर्देश करने के लिये उपनयन तथा वेदारम्भ संस्कार के समय आचार्य शिष्य को 'मम वाचमेकमना जुषस्व' की प्रेरणा करता है। मन के संयोग के बिना न आंख देख सकती है और न कान सुन सकते हैं। अतः साक्षात् गुरुमुख से उपदेश ग्रहण करते समय अथवा स्वाध्याय द्वारा परोक्षरूप से उनके सान्निध्य में चित्त की वृत्तियों का निरोध करके एकाग्रमन होना अनिवार्य है ॥३८॥

श्रुतस्य चिन्तनमेकान्ते मननम् ॥३९॥

सुने हुए पर एकान्त देश में बैठकर विचार करना 'मनन' है।

श्रवण का बल मनन है। 'मय्येवास्तु मयि श्रुतम्'–जो हम सुनें वह हमारे भीतर रहे। सुने हुए का जब तक अच्छी तरह मनन नहीं किया जाता तो न वह पूरी तरह समझ में आता है और न वह स्थिर अथवा दृढ़ होता है। युक्तियों से ज्ञान का अनेकविध परीक्षण आवश्यक है। वक्ता अथवा ज्ञानियों के सानिध्य में मन में उठने वाली शंकाओं का समाधान अनिवार्य है। हम नित्यप्रति कितनी ही बातों को जानते और भूलते रहते हैं। ज्ञान प्राप्त करते समय हमारी उपेक्षा ही हमारी विस्मृति का कारण होती है। अतः प्राप्त ज्ञान को परिपक्व करने के लिए उसका गम्भीरतापूर्वक मनन करना आवश्यक है ॥३९॥

ध्यानयोगादात्मनि चित्ताधानं निदिध्यासनम् ॥४०॥

अवधान से मन को एकाग्र कर आत्मा में उसकी प्रतिष्ठा करना 'निदिध्यासन है। एक बार उपदेश से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह केवल शब्द-ज्ञान है। मनन के द्वारा उसमें परिपक्वता एवं स्थैर्य आता है। परन्तु इतने से साक्षात्कार नहीं होता। उस ज्ञान को आत्मा के कोष में स्थापित करना निदिध्यासन कहाता है। निदिध्यासन उस अवस्था का नाम है जिसमें मनुष्य समाधिस्थ हो यह देखता है कि जैसा सुना था और मनन द्वारा निश्चय किया था वैसा ही है। श्रवण तथा मनन द्वारा प्राप्त ज्ञान का एक प्रकार से यह मानस प्रत्यक्ष है।

बृहदारण्यक उपनिषद् (४-५-६) का वचन है–"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"। जब तक ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो

जाता तब तक श्रवण-मनन-निदिध्यासन की प्रक्रिया चालू रखना आवश्यक है ।।४०।।

किन्तु इतने शक्तिशाली और सक्रिय होने पर भी इन्द्रियों व मन में कर्त्तृत्व या भोक्तृत्व नहीं है । क्योंकि—

कर्त्ता भोक्ता हि जीवात्मा देहेन्द्रियान्तःकरणजडत्वात् ।।४१।।

देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण के जड़ होने से कर्त्ता व भोक्ता निश्चय ही आत्मा है ।

मूल प्रकृति से लेकर पंचभूतपर्यन्त जितने तत्त्व हैं सब जड़ प्रकृति के परिणाम हैं । इन्हीं में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार हैं । अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी मन प्रकृति का ही विकार है । द्रष्टा, कर्त्ता और भोक्ता होने के लिए चेतना चाहिए । जो वस्तु भौतिक है वह चेतन नहीं हो सकती । अतः मन के अस्तित्व की कल्पना ज्ञान के साधन के रूप में की गई है, ज्ञाता के रूप में नहीं ।

आत्मा प्रकृति के विकास का परिणाम नहीं है । उसकी स्वतन्त्र सत्ता है । आत्मा चेतना का आश्रय है । आत्मा के अत्यन्त निकट होने से मन, इन्द्रिय आदि में भी चेतना की चमक उत्पन्न हो जाती है । तत्त्वतः इनका निर्माण प्रकृति से होने के कारण ये भौतिक एवं जड़ हैं । इनमें जो चेतना की झलक दीख पड़ती है वह आत्मा के सान्निध्य—उसकी समीपता के कारण है—जैसे स्फटिक मणि में समीपस्थ फूल का रंग अथवा लोहे में चुम्बक की शक्ति ।

अन्तःकरण के द्वारा जितने ज्ञान तथा अनुभव होते हैं उन सबका कर्त्ता आत्मा है । अन्तःकरण, इंन्द्रियाँ तथा मस्तिष्क जड़ होने से साधन मात्र हैं जिनका उपयोग आत्मा करता है । ये ज्ञान के साधन हैं, ज्ञाता नहीं । इन्द्रियों तथा मन में प्रकाश है अवश्य । परन्तु वैसा नहीं जिसे चैतन्य कहा जा सके । सूर्य में प्रकाश है और वह अपने प्रकाश से वृक्ष को प्रकाशित भी कर देता है । परन्तु जड़ होने से यह नहीं जानता कि 'यह वृक्ष है' । इसी प्रकार मन और इन्द्रियां संसार के पदार्थों को प्रकाशित तो कर देती हैं । परन्तु उन्हें ज्ञान नहीं पातीं । जानने की शक्ति जीव में है जिसमें स्वयं अपना प्रकाश अथवा चैतन्य है । सूर्य के प्रकाश में चक्षु के द्वारा वृक्ष को देखकर जीवात्मा कहता है—'यह वृक्ष है ।' ऐसा न सूर्य कह सकता है और न चक्षु, क्योंकि अनुभव का आश्रय जो आत्मा का चैतन्य है वह न सूर्य में है और न चक्षु में ।

चेतन होने से जीवात्मा ही देहेन्द्रिय तथा अन्तःकरणादि साधनों के द्वारा कर्त्ता और भोक्ता है । जैसे श्रोत्रादि वहिष्करणों से अच्छे-बुरे शब्दादि विषयों को ग्रहण करके जीव सुखी-दुःखी होता है वैसे ही अन्तःकरण अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार के द्वारा संकल्प-विकल्प, निश्चय, स्मरण तथा अभिमान का करने वाला जीवात्मा ही पाप-पुण्य कर्त्ता तथा उनके फलस्वरूप सुख-दुःख का

भोक्ता होता है। वही शीतोष्ण, क्षुधा-तृषा तथा हर्ष-शोक को अनुभव करता है। जिस प्रकार तलवार से मारने वाला दण्डनीय होता है, तलवार नहीं उसी प्रकार देहेन्द्रिय, अन्तःकरण और प्राणरूप साधनों से पाप-पुण्य का कर्त्ता जीव ही सुख-दुःख का भोक्ता है, जड़ अन्तःकरणादि नहीं ॥४१॥

प्राणियों का मन सदा किसी न किसी कार्य में संलग्न रहता है। सदैव चंचल व वदलती रहने वाली मन की दशाओं अथवा योग की परिभाषा में प्रत्यय अर्थात् परिदृष्ट मनोभाव या वोधसमूह को वृत्ति कहा गया है। ये वृत्तियां असंख्य हैं। परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से ये सभी पांच वर्गों में परिगणित हैं। वे वर्ग हैं—

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः मनोवृत्तयः ॥४२॥

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—ये पांच मनोवृत्तियां हैं ॥४२॥
अब क्रमपूर्वक इन पांचों वृत्तियों की व्याख्या करते हैं—

भूतार्थप्रतिष्ठं यथार्थज्ञानं प्रमाणम् ॥४३॥

यथाभूतवोध अथवा यथारूपप्रतिष्ठ यथार्थज्ञान 'प्रमाण' कहाता है।

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव, और अभाव—ये आठ प्रमाण हैं। शब्द प्रमाण का ही अपर नाम आगम प्रमाण है। इन प्रमाणों के द्वारा यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि होती है ॥४३॥

अतद्रूपप्रतिष्ठं मिथ्याज्ञानं विपर्ययः ॥४४॥

अन्य में अन्य की भावना करके होने वाला मिथ्याज्ञान 'विपर्यय' कहाता है।

मिथ्याज्ञान वह चित्तवृत्ति है जो पुरोवर्त्ती वस्तुतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित नहीं होती, जैसे—अन्धकार आदि दोष के कारण रज्जु को सर्प या सीप को चांदी समझ वैठना। किसी पदार्थ का अपने से भिन्न दीखना किन्हीं दोषों के कारण होता है। ये दोष साधन (इन्द्रियादि) गत भी हो सकते हैं और विषय एवं संस्कारगत भी। विपर्यय अथवा मिथ्याज्ञान का ही एक नाम अविद्या है जो पंचपर्वा अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश संज्ञक पांच क्लेशों से युक्त है। यही यथाक्रम तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अन्धतामिस्र भी कहाते हैं। तत्त्वज्ञान से विपर्यय का नाश हो जाता है ॥४४॥

वस्तुशून्यत्वेऽपिशब्दज्ञानजन्यो विकल्पः ॥४५॥

विषयगत वस्तु न होने पर भी शब्दज्ञान से उभरने वाली वृत्ति 'विकल्प' कहाती है। विकल्प में शब्द होता है किन्तु वस्तु नहीं; पद होता है पदार्थ नहीं।

ऐसा अभेद में भेद की और भेद में अभेद की कल्पना के कारण होता है। यह लोक व्यवहार है। "पानी से हाथ जल गया" सभी कहते, सुनते और स्वीकार करते हैं। पानी में जलाने वाली अग्नि नहीं है। परन्तु पानी से छूते ही हाथ जल जाने पर हम पानी और आग के भिन्न होते हुए भी उनके एक होने की कल्पना कर लेते हैं और और इस प्रकार वस्तु=अग्नि न होने पर भी शब्द ज्ञान मात्र से पानी से हाथ का जलना मान लेते हैं। इसी प्रकार हम 'पुरुष का स्वरूप चैतन्य' तथा 'राहु का सिर' जैसे प्रयोग करते हैं। वस्तुतः चितिशक्ति ही पुरुष है अर्थात् पुरुष और चैतन्य एक ही हैं। इसी प्रकार राहु और सिर एक हैं, सिर से भिन्न राहु का अस्तित्त्व नहीं है। तथापि जैसे हम पानी और आग में—भेद में अभेद की कल्पना करते हैं, वैसे ही यहां अभेद में भेद की कल्पना कर पुरुष और चैतन्य तथा राहु और सिर में एकता रहने पर भी व्यवहार सिद्धि के लिये उन्हें भिन्न कहना वैकल्पिक व्यवहार है।

विकल्पवृत्ति का अन्तर्भाव न प्रमाणवृत्ति में हो सकता है और न विपर्यय वृत्ति में। प्रमाणवृत्ति और विपर्ययवृत्ति दोनों में वस्तु का सद्भाव आवश्यक है जबकि विकल्प वृत्ति का उद्भावन विषयवस्तु के अभाव में होता है। प्रमाण-वृत्ति यथार्थज्ञान है जबकि विपर्यय वृत्ति तथा विकल्पवृत्ति दोनों मिथ्याज्ञान हैं। परन्तु विपर्यय वृत्ति तभी तक रहती है जब तक भ्रम रहता है। भ्रम दूर होते ही ज्ञाता रज्जु को रज्जु और सीप को सीप कहने लगता है। परन्तु विकल्प वृत्ति में यह स्थिति नहीं आती। यह जान लेने पर भी कि पानी का स्वभाव शीतल होने से उसमें जलाने की शक्ति नहीं है मनुष्य बार-बार यही कहता है कि 'पानी से हाथ जल गया'। इस प्रकार वस्तु के सद्भाव में यथार्थज्ञान प्रमाणवृत्ति है, वस्तु के सद्भाव में मिथ्याज्ञान (अवसान की संभावना के साथ) विपर्यय वृत्ति है और वस्तु के अभाव में मिथ्याज्ञान विकल्पवृत्ति है। वस्तु के न होने पर भी तद्विषयक उच्चरित शब्द से होने वाले ज्ञान के प्रभाव से ही श्रोता के मन में इस वृत्ति का उदय हो जाता है ॥४५॥

तमसावृता वृत्तिर्निद्रा ॥४६॥

तमोगुणप्रधान वृत्ति 'निद्रा' है। निद्रा नामक वृत्ति सुषुप्ति अवस्था है। जाग्रतकाल में ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां और अन्तःकरण चेतनभाव से चेष्टा करते हैं। स्वप्नकाल में ज्ञानेन्द्रियां तथा कर्मेन्द्रियां जड़ अर्थात् निश्चेष्ट रहती हैं। केवल चिन्ताधिष्ठान सक्रिय रहता है। सुषुप्ति में समस्त इन्द्रियां तथा चिन्ता-धिष्ठान सर्वथा निश्चेष्ट रहते हैं। अतः इन्द्रियों और मन से होने वाले अनुभवों का उस अवस्था में सर्वथा अभाव रहता है। बाह्यान्तर ज्ञानाभाव की प्रतीति भी एक ज्ञान है जो निद्रा की अवस्था में होता है। यदि ऐसा न होता तो जागने पर कोई 'न किञ्चिदवेदिषम्' (मुझे कुछ पता नहीं) के साथ ही 'सुख-

महमस्वाप्सम्' (मैं सुख से सोया) कैसे कहता। निद्रा में भी मन की विशेष स्थिति वनी रहती है। 'सुख से सोया' वह स्मृतिरूप ज्ञान सुषुप्ति में होने वाली अनुभूति का द्योतक है। अतः यह मन की ही वृत्ति है।

सुषुप्ति की तुलना समाधि से की जाती है। निद्रा में क्रियाशीलता अवरूद्ध हो जाती है। अतः उस अवस्था में एक प्रकार की स्थिरता आ जाती है। परन्तु वह समाधिकाल की स्थिरता से सर्वथा भिन्न होती है। निद्रा ज्ञानरहित, अवश तथा अस्वच्छ स्थिरता है जबकि समाधि ज्ञानसहित, स्ववश तथा स्वच्छ स्थिरता है। स्थिर किन्तु गदला जल निद्रा है; स्थिर और निर्मल जल समाधि है ॥४६॥

संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः ॥४७॥

संस्कारमात्र से उत्पन्न होने वाला ज्ञान 'स्मृति' कहाता है। स्मृतिकाल में पूर्वानुभूत विषयों का ही पुनः अनुभव होता है। किसी अननुभूत विषय की स्मृति कभी नहीं होती। किसी वस्तु या व्यवहार का अनुभव हो जाने पर उस का संस्कार मन में वना रह जाता है। कालान्तर में उपयुक्त उद्बोधक उपस्थित हो जाने पर आत्मा में सन्निहित वह संस्कार उद्भूत होकर अनुभूत विषय को प्रस्तुत कर देता है। इस प्रकार की वृत्ति का नाम स्मृति है। संस्कार सदा अनुभूति के समान होते हैं और स्मृति सदा संस्कारों के अनुरूप होती है। स्वप्न अवस्था भी स्मृति का ही एक रूप है। निद्रादि दोषों के कारण उस अवस्था में कभी-कभी पूर्वानुभूत विषयों में कुछ उलट फेर हो जाता है। परन्तु सर्वथा अननुभूत विषय की स्मृति वहां भी नहीं होती ॥४७॥

त्रिगुणात्मक होने के कारण समस्त वृत्तियां सुख-दुःख-मोहात्मिका हैं। आत्मा स्वरूप से त्रिगुणातीत है। त्रिगुणात्मक प्रकृति के सम्पर्क में आने से ही वह अविद्यादि क्लेशों से त्रस्त होता है। उनसे छुटकारा पाने के लिए वृत्तियों का निरोध आवश्यक है। परन्तु यह संभव नहीं दीखता। पूर्वपक्ष के रूप में इसकी संभावना में बाधक कठिनाई का उल्लेख करते हैं—

न हि मनोवृत्तिनिरोधः वृत्तिसंस्कारचक्रावर्त्तनात् ॥४८॥

वृत्ति और संस्कार के चक्र की आवृत्ति होने से मन की वृत्तियों का निरोध नहीं हो सकता। जो संस्कार मन में अंकित हो गये, आगे उन्हीं के अनुसार वृत्तियां बनेंगी। जैसी वृत्तियां होंगी वैसे ही संस्कार बनेंगे। पुनः उन्हीं संस्कारों के अनुरूप वृत्तियां बनेंगी और फिर······। इस प्रकार वृत्तियों से संस्कार और संस्कारों से वृत्तियां बनते जाने का चक्र स्वचालित यन्त्र के समान निरोध पर्यन्त चलता रहेगा। इस व्यवस्था के अनुसार मनुष्य एक बार जैसा बन गया, अवश सदा वैसा ही बना रहेगा। उसके उद्धार का अवसर कभी भी न आ सकेगा ॥४८॥

इस आपत्ति का निराकरण करते हुए उत्तरपक्ष प्रस्तुत करते हैं—

अध्यात्मवृत्त्या तन्निरोधः ।।४९।।

अध्यात्मवृत्ति से उनका निरोध हो सकता है। मनुष्य किसी भी वृत्ति या संस्कार को विरोधी भावना से नष्ट कर सकता है और उसके स्थान पर उसके विरोधी संस्कारों को मन की भूमि में प्रतिष्ठित कर सकता है। मन में विक्षेप के संस्कारों का उदय हो जाने पर उनके दूर करने का उपाय है–'एकतत्त्वाभ्यास' अर्थात् अभ्यास द्वारा किसी एक तत्त्व पर वृत्ति को टिकाना। चित्तवृत्ति को किसी भी दूसरे तत्त्व पर न जाने देने से विक्षेप के संस्कारों से छूट मन एकाग्र होने लगता है। अध्यात्म की ओर प्रवृत्त होना भी मन की वृत्तियों का क्षेत्र है। शुद्ध सात्त्विक होने के कारण ये वृत्तियां राग द्वेषादि को उत्पन्न न कर व्यक्ति को समाधि-दशा की ओर अग्रसर करती हैं और समाधि की अन्तिम दशा में इन वृत्तियों का प्रवृत्त होना स्वतः समाप्त हो जाता है। प्रकृति से सम्पर्क टूट जाता है और इस प्रकार वृत्तियों को परमेश्वर की ओर मोड़ते ही उनका निरोध हो जाता है ।।४९।।

प्रकृति के तीन गुण–सत्त्व, रज और तम संसारस्थ समस्त पदार्थों में व्याप्त होकर रहते हैं। मानव मन भी इनसे प्रभावित है। परन्तु एक काल में एक गुण प्रधान होता है, शेष दो गौण। जिस काल में जो गुण प्रधान होता है उस समय वह आत्मा और मन को अपने समान कर लेता है। अगले कुछ सूत्रों में इन गुणों से प्रभावित मन की स्थिति का वर्णन किया गया है—

प्रीतिसंयुक्तं प्रशान्तमिव शुद्धाभं सात्त्विकं मनः ।।५०।।

जब आत्मा और मन में प्रसन्नता हो और वह प्रशान्त के सदृश शुद्धभाव-युक्त हो तो समझना चाहिये कि सत्त्वगुण प्रधान है और रजोगुण एवं तमोगुण गौण हैं ।५०।।

वेदाभ्यासतपःज्ञानधर्मक्रियात्मचिन्तादिभिः तत्प्रतीतिः ।।५१।।

वेदों के अभ्यास, तप, ज्ञान में वृद्धि, धर्मयुक्त कार्यों में प्रवृत्ति, आत्मचिन्तन आदि से किसी व्यक्ति के सत्त्वगुण प्रधान होने का पता चलता है। ऐसा व्यक्ति सबको जानना चाहता है, गुणों को ग्रहण करता रहता है, धर्माचरण में रूचि रखता है और सदा ऐसे कार्य करता है जिन्हें करने पर मन में हर्ष और उल्लास होता है। जो कुछ करता है, निःस्वार्थ भाव से प्राणिमात्र के हितार्थ करता है ।।५१।।

अब रजोगुण प्रधान आत्मा व मन के विषय में कहते हैं—

दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरञ्च राजसम् ।।५२।।

जब आत्मा और मन दुःखी जान पड़ें, प्रसन्नता का अभाव हो और चित्त में

चंचलता हो तो रजोगुण प्रधान होता है और सत्त्वगुण तथा तमोगुण गौण रहते हैं ।।५२।।

अधैर्यासत्कार्यपरिग्रहाजस्रविषयोपसेवादिभिः तत्प्रतीतिः ।।५३।।

जब रजोगुण का उदय और सत्त्वगुण तथा तमोगुण का अन्तर्भाव होता है तो धैर्यत्याग, असत्कार्यों में प्रवृत्ति और विषय सेवन में निरन्तर प्रीति होती है। ऐसे व्यक्ति में अर्थलोलुपता प्रबल होती है और जैसे भी हो प्रसिद्धि चाहता है ।।५३।।

तमोगुण प्रधान व्यक्ति के गुण लक्षण कहते हैं—

मोहसंयुक्तमव्क्यतं विषयात्मकमप्रतर्क्यमविज्ञेयञ्च तामसम् ।।५४।।

जब मोह अर्थात् सांसारिक पदार्थों तथा सम्बन्धों में फंसे हुए आत्मा व मन में विवेक न रहे, तर्क-वितर्क रहित तथा विषयों में आसक्त हो और जिसे समझना कठिन हो तो वहां तमोगुण प्रधान और रजोगुण गौण समझने चाहियें ।।५४।।

लोभस्वप्नक्रौर्ययाचिष्णुतानास्तिक्यादिभिः तत्प्रतीतिः ।।५५।।

लोभ, आलस्य, क्रूरता, मांगने की प्रवृत्ति, नास्तिकता आदि तमोगुण प्रधान मन व आत्मा के लक्षण हैं। ऐसे व्यक्ति की रूचि प्रायः ऐसे कार्यों के करने में रहती है जिनके करने में भय, शंका और लज्जा का अनुभव होता है। उसमें काम वासना भी प्रबल होती है ।।५५।।

अब उन प्रेरकों-आवेगों-इच्छाओं का निरूपण करते हैं जिनसे प्रभावित होकर मानव जीवन चल रहा है—

पुत्रैषणावित्तैषणालोकैषणाश्चैषणात्रयम् ।।५६।।

पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणा—ये तीन एषणायें प्रत्येक व्यक्ति के मन में उभरती हैं। ये मनुष्य के व्यावहारिक जीवन की प्रेरक भी हैं और उसके अधिकांश दुःखों का कारण भी। पुत्रैषणा का मूल काम भावना में, वित्तैषणा का परिग्रहण भावना में तथा लोकैषणा का स्वाग्रह भावना अथवा अहंकार में है। इन एषणाओं से कैसे निपटा जाये? एतदर्थ तीनों का पृथक्-पृथक् विश्लेषण अभीष्ट है—

पुत्रैषणा—सामान्यतः इसे काम के नाम से पुकारा जाता है। अथर्ववेद (१९-५२-१) में काम के विषय में कहा—

कामस्तदग्रे समवर्त्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
स काम कामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि ।।

अर्थात् "काम मन में बीजरूप से सबसे पहले हुआ और उसने बहुत बड़े काम का विस्तार किया।" यह सारा सूक्त काम के स्वरूप वर्णन से भरा है।

अथर्ववेद में ही अन्यत्र (९-२-१९) काम को सम्बोधित करके कहा गया है– "काम जज्ञे प्रथमः–ततः त्वमसिज्यायान्, विश्वहा महान्, तस्मैं ते काम नम इत्करोमि।" अर्थात् पहले-पहले काम ही उत्पन्न हुआ। इसलिये वह सबसे महान् है। वह विश्व का संहार भी कर सकता है। इसलिये उसे नमस्कार है।

जो काम इतना उपयोगी है कि उसके बिना काम नहीं चल सकता और इतना भयंकर भी कि वह विश्व का संहार कर सकता है, ऐसे काम से निपटना सरल काम नहीं है। पाश्चात्य विचारधारा के अनुसार काम विषयक विचारों का दमन करने से वे भीतर-ही-भीतर सक्रिय रहते हैं और इस प्रकार मनुष्य का मानसिक सन्तुलन बिगड़ जाने से मन में तनाव रहने लगता है। अतः दमन करने के स्थान में विषय भोगकर कामैषणा की तृप्ति करने में ही कल्याण है। परन्तु वास्तव में विषयभोग की शान्ति क्षणिक शान्ति है। कुछ ही काल बीतने पर यह शान्ति और अधिक अशान्ति का कारण बन जाती है। अनुभव यही बताता है–"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति"–अर्थात् कामनायें उनका उपभोग करने से कभी शान्त नहीं होतीं। इन्द्रियां विषयों से उत्तेजित होकर विषय-भोग के द्वारा कुछ देर के लिये शान्त हो जाती हैं। परन्तु विषय-भोग का चस्का पड़ जाने से बार-बार उन्हीं में प्रवृत्त होती हैं। जब प्रकृति में इन्द्रियों के विषय विद्यमान हैं तो उन्हें सर्वथा विरत करना भी आसान नहीं है। इस विकट स्थिति में कामैषणा को मर्यादित एवं नियंत्रित करना ही एकमात्र उपाय है। काम एक महती शक्ति है। उसका सर्वथा दमन संभव नहीं, खुलकर खेलने देना सुरक्षित नहीं। अतः उसका उदात्तीकरण कर उसे सर्जनात्मक कार्य में प्रवृत्त कर देना चाहिये। कामैषणा को पुत्रैषणा के रूप में परिवर्तित कर देना चाहिये। भौतिक दृष्टिकोण में विषय-भोग मुख्य है, सन्तान का आजाना उसका आनुषंगिक फल है। अध्यात्मवादी दृष्टिकोण में सन्तानोत्पत्ति मुख्य है, विषयभोग उसका साधन है। गृहस्थाश्रम का उद्देश्य विषय-भोग न होकर मानव-निर्माण करना है। इस महान् निर्माण कार्य में व्यस्त व्यक्ति काम के अधीन न होकर उससे सेव्य-सेवक का सम्बन्ध जोड़ कर रहता है।

वित्तैषणा–परिग्रहण की मूल प्रवृत्ति भी माननीय व्यवहार का महत्त्वपूर्ण स्रोत है। डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने अपनी पुस्तक "Hindu View of life" में लिखा है–The urge which gives rise to property is something fundamental in human nature. Unless we can change the constitution of human mind we cannot eradicate the idea of property." अर्थात् मनुष्य में संग्रह या सम्पत्ति के स्वामित्व की प्रवृत्ति इतनी मूलभूत है कि मानव मन के स्वरूप को बदल कर ही उसे हटाया जा सकता है। इसलियें काम विषयक मूलप्रवृत्ति की भांति परिग्रह की प्रवृत्ति का भी उदात्तीकरण करना ही उचित है। उसे नष्ट नहीं किया जा सकता, मर्यादित किया जा

सकता है। वैदिक समाज व्यवस्था में सामान्य आयु के सौ वर्षों में मात्र २५ वर्ष (गृहस्थाश्रम) ही पैसा कमाने के लिये निर्धारित हैं। गृहस्थियों में भी पैसा कमाना केवल वैश्य का धर्म है। वैश्य भी केवल अपने लिये न कमा कर सारे समाज के लिये कमाता है। उसके लिये वेद का आदेश है—'शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर' अर्थात् सौ हाथों से कमाये तो हज़ार हाथों से बांटे। २५ वर्ष तक वित्तैषणा को भोगने से एषणा की तृप्ति भी हो जाती है और भोगने के अनन्तर स्वेच्छा से ही त्याग कर देने से व्यक्ति उसमें लिप्त भी नहीं होता। इस प्रकार वित्तैषणा को सीमित तथा मर्यादित कर उसका उदात्तीकरण हो जाता है।

लोकैषणा—स्वाग्रह अथवा अहंकार की मूलप्रवृत्ति मानव व्यवहार का अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रेरणा स्रोत है। प्रत्येक व्यक्ति चाहता है कि लोग उसे बड़ा समझें और उसका सम्मान करें। यही लोकैषणा है। इसी को महत्वाकांक्षा कहते हैं। अंग्रेजी की एक लोकोक्ति के अनुसार 'Fame is the last infirmity of a noble mind'--यश की कामना साधुस्वभाव व्यक्ति की सबसे अन्तिम कमज़ोरी है। पुत्रैषणा तथा वित्तैषणा से सर्वथा मुक्त व्यक्ति के लिये भी लोकैषणा से मुक्त होना कठिन है। ब्रह्मर्षि कहाने के लिये विश्वामित्र ने क्या कुछ नहीं किया? 'येन केन प्रकारेण प्रसिद्धः पुरुषो भवेत्' की इच्छा से मनुष्य उचित अनुचित कुछ भी करने के लिये तत्पर हो जाता है। अपने 'अहम्' की तुष्टि के लिये वड़े से बड़े व्यापक हितों का बलिदान कर देता है। वस्तुतः लोकैषणा की सिद्धि का मूलमंत्र है--त्याग और सेवा। चार दिन की वाहवाही लूटने के लिये भी त्याग और सेवा का ढोंग करना आवश्यक है। ऐसी वाहवाही पोल खुलने पर निन्दा में बदल जाती है। वानप्रस्थ के रूप में जो सब कुछ त्याग देता है और संन्यासी के रूप में जन सेवा में जुट जाता है वही स्थायी कीर्ति के पाने का अधिकारी होता है। लोकैषणा के विषय में आदर्श दृष्टिकोण यही है।

तीनों एषणाओं के सम्बन्ध में इस प्रकार विचार करने से उनका दुरुपयोग रोक कर उनकी शक्ति का सदुपयोग किया जा सकता है ॥५६॥

अगले कतिपय सूत्रों में आत्मा के पांच कोशों का विवेचन करते हैं—

सदेहस्यात्मनः पञ्चकोशाः ज्ञानकर्मोपासनादिनिष्पादनार्थम् ॥५७॥

ज्ञान-कर्म-उपासना आदि व्यवहारों को सम्पन्न करने में सहायक आत्मा के पांच कोश हैं। वस्तुतः ये कोश स्वयं आत्मा के न होकर शरीरस्थ आत्मा के साधन रूप हैं ॥५७॥

त्वचातोऽस्थिपर्यन्तमन्नमयः ॥५८॥

त्वचा से लेकर अस्थिपर्यन्त अन्नमय कोश है। प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला

स्थूल शरीर ही प्राणी का अन्नमय कोश कहाता है। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश--इन पाँच महाभूतों से इसकी रचना हुई है। पञ्चभूतों का श्रेष्ठतम रूप अन्न है। सब औषधियों का साररूप होने से अन्न को 'सर्वौषध' कहते हैं। अन्न से ही प्राणी उत्पन्न होते (अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः) उसी से बढ़ते और अन्त में उसी में लीन हो जाते हैं। अन्न खाया जाता है परन्तु यह खा भी जाता है उन्हें जो जीने के लिये नहीं खाते, अपितु खाने के लिये जीते हैं। संसार को भोगा जाता है। परन्तु जो भोगों का दास हो जाता हैं उसे भोग खा जाता है। भोगों में लिप्त ऐसा व्यक्ति ही कहता है--'भोगाः न भुक्ताः वयमेव भुक्ताः'। अतः अन्नमय कोश अर्थात् स्थूल शरीर को ही सब कुछ मानकर अहर्निश उसी की उपासना में व्यस्त व्यक्ति शाश्वत सुख पाने की आशा नहीं कर सकता ॥५८॥

अन्नमय कोश अथवा स्थूल शरीर से भिन्न किन्तु उसी के भीतर इस शरीर का आत्मा एक अन्य शरीर है जिसे 'प्राणमय कोश' कहते हैं—

प्राणापानसमानोदानव्यानादियुक्तः प्राणमयः ॥५९॥

प्राण (भीतर से बाहर निलकने वाला वायु), अपान (बाहर से भीतर आने वाला वायु), समान (भरीर में रस पहुंचाने वाला नाभिस्थ वायु), उदान (अन्न-पान खींचने वाला कंठस्थ वायु) तथा व्यान (शरीर में रक्त संचालन करने तथा उसे शक्ति प्रदान कर कर्म में प्रवृत्त करने वाला वायु) आदि से युक्त 'प्राणमय-कोष' है। आकाश से सूक्ष्म प्राणतत्त्व है। यह प्राणतत्त्व विश्व भर में व्याप्त है। उसी से प्राणमय कोश की रचना हुई है। प्राणतत्त्व का स्रोत सूर्य है ('आदित्यो ह वै प्राणः'--प्रश्नोपनिषद्)। देव, मनुष्य, पश्वादि सभी प्राण से अनुप्राणित हैं। 'प्राणो हि भूतामानायुः' (तैत्तिरीय) अर्थात् प्राण ही सब भूतों की आयु है। इसीलिये उसे 'सर्वायुः' कहा जाता है। जो प्राण को सब कुछ मानकर उसकी उपासना करते हैं वे अपनी सारी आयु भोगते हैं। इस प्राणमय कोश का आत्मा वही है जो अन्नमय कोश का है। प्राणमय कोश सूक्ष्म शरीर के अन्तर्गत है ॥५९॥

प्राणमय कोश से भिन्न किन्तु उसी के भीतर इस प्राणमय कोश का आत्मा एक अन्य शरीर है जिसे 'मनोमय कोश' कहते हैं—

मनसोऽहङ्कारपञ्चकर्मेन्द्रियाणामधिष्ठानं मनोमयः ॥६०॥

मन के साथ अहंकार, वाक्, पाद, पाणि, पायु और उपस्थ कर्मेन्द्रियों से युक्त 'मनोमय कोश' है। प्राणतत्त्व से सूक्ष्म मनस्तत्त्व है जो प्राणतत्त्व की भांति सर्वत्र व्याप्त है। सर्वत्र व्याप्त होने से मन की गति शब्द से भी तीव्र है। इसी मन-स्तत्त्व से मनोमय कोश बना है। यह मनोमय कोश भी सूक्ष्म-शरीर के अन्तर्गत आत्मा है और इसका भी आत्मा वही है जो प्राणमय कोश का है। जो मनुष्य अन्न, प्राण और मन को ब्रह्म मान कर इनकी उपासना करते हैं वे भोग्य पदार्थों,

प्राण शक्ति तथा मानसिक शक्ति को प्राप्त कर लेते हैं परन्तु ब्रह्म को नहीं पा सकते ।।६०।।

इस मनोमय कोश से भिन्न, किन्तु इसी के भीतर इसका आत्मा एक अन्य शरीर है जिसे 'विज्ञानमय कोश' कहते हैं—

बुद्धिश्चित्तं पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि विज्ञानमयः ।।६१।।

आत्मा के ज्ञान प्राप्ति के साधन बुद्धि, चित्त तथा नेत्र, श्रोत्र, त्वचा, जिह्वा एवं नासिका ज्ञानेन्द्रिय से युक्त कोश 'विज्ञानमय कोश' कहाता है। 'प्रकृतेर्महान्'-प्रकृति से उत्पन्न 'महत्तत्त्व' ही 'विज्ञान-तत्त्व' है जिससे विज्ञानमय-कोश बनता है। यह विज्ञानमय कोश भी सूक्ष्म-शरीर अन्तर्गत है । लौकिक तथा आध्यात्मिक सभी कार्य विज्ञान के द्वारा सम्पन्न होते हैं। विद्वान् लोग विज्ञान को ही सब कुछ मान कर उसकी उपासना करते हैं। वे शरीर के पापों से छूट कर सब कामनाओं को प्राप्त करते हैं। विज्ञानमय- कोश का आत्मा वही है जो मनोमय कोश का है ।।६१।।

विज्ञानमय कोश से भिन्न, इसके भीतर, इसका आत्मा एक अन्य शरीर है जिसे 'आनन्दमय कोश' कहते हैं—

प्रीतिप्रसादावानन्दः कारणरूपाप्रकृतिश्चानन्दमयः ।।६२।।

जो प्रीति, प्रसन्नता, न्यूनाधिक आनन्द तथा कारणरूप प्रकृति से युक्त है वह 'आनन्दमय कोश' है। सत्त्व-रजस्-तमस् की साम्यावस्था ही 'आनन्द तत्त्व' है जिससे आनन्दमय कोश बनता है। आनन्दमय कोश में विचरने वाला ब्रह्म को ही अपना आधार बनाता है। 'रसो वै सः'--आनन्दस्वरूप ब्रह्म की उपासना करने वाले को ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है। आनन्दमय कोश कारण शरीर में अन्तर्भूत है ।।६२।।

आत्मा को सुख-दुःखादि का भोग शरीर धारण के बिना नहीं हो सकता। इस शरीर का क्या स्वरूप है--इसका विवेचन अगले सूत्रों में किया है—

स्थूलसूक्ष्मकारणतुरीयभेदाच्चतुर्विधं शरीरम् ।।६३।।

स्थूल, सूक्ष्म, कारण तथा तुरीय भेद से शरीर चार प्रकार का होता है ।।६३।।

सर्वप्रथम स्थूल शरीर का स्वरूप निरूपण करते हैं—

चक्षुषोर्विषयभूतः स्थूलदेहः ।।६४।।

आंखों से दिखाई देने वाला 'स्थूल शरीर' है। आदि सर्गकाल की अमैथुनी सृष्टि को छोड़ कर स्थूल शरीर माता पिता के संयोग से उत्पन्न होता है। चालू सर्गकाल में भी स्वेदज तथा उद्भिज कृमि कीट आदि अयोनिज होते रहते

हैं। आत्मा का स्थूल शरीर बदलता रहता है। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर का साधन रूप है। उसी के द्वारा सूक्ष्म शरीर का बाह्य जगत् से सम्पर्क होता है। अतः स्थूल शरीर के कार्य सूक्ष्म शरीर से नियन्त्रित होते हैं ॥६४॥

अब सूक्ष्म शरीर का स्वरूप कथन करते हैं—

पञ्चप्राणाः पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चसूक्ष्मभूतानि मनोबुद्धिरित्येतानि सूक्ष्मशरीरम् ॥६५॥

पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच सूक्ष्मभूत, मन तथा बुद्धि—इन सत्रह घटकों से युक्त 'सूक्ष्मशरीर' है।

सर्ग के आदि में प्रत्येक आत्मा के साथ एक-एक सूक्ष्म-शरीर सम्बद्ध हो जाता है। इस शरीर का परित्याग एक ही बार-प्रलय होने पर अथवा तत्त्व ज्ञान हो जाने पर—किया जाता है। जीवात्मा का विविध योनियों में संसरण सूक्ष्मभूतों से घटित सूक्ष्म शरीर के द्वारा होता है जो मृत्यु के उपरान्त भी आत्मा को अवेष्टित किये रहता है। जैसे बीज में वृक्ष रहता है वैसे ही सूक्ष्म-शरीर में स्थूल शरीर के बीज रहते हैं। जन्म-जन्मान्तर के कर्मों में संस्कार क्षीण होकर, कर्मों का भोग न रहने से जब आत्मा जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है तभी सूक्ष्म शरीर छूटता है। प्रलय की अवधि में भी आत्मा के साथ सूक्ष्म शरीर नहीं रहता। परन्तु, क्योंकि सूक्ष्म शरीर का सहारा लिये बिना आत्मा स्थूल शरीर से काम नहीं ले सकता, इसलिये मुक्ति काल के समाप्त होने अथवा प्रलयोपरान्त सर्गकाल में जब भी जीवात्मा शरीर धारण करता है तभी पहले की तरह सूक्ष्म-शरीर उसके साथ सम्बद्ध हो जाता है।

सूक्ष्म-शरीर पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच सूक्ष्मभूत तथा मन और बुद्धि (अहंकार)—इन सबके सूक्ष्म तत्त्वों का संश्लिष्ट शरीर है। इसमें ये तत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म रूप में समाविष्ट रहते हैं। प्राण समस्त करणों (पांच ज्ञानेन्द्रिय के साथ पांच कर्मेन्द्रियों को मिलाकर दस बाह्यकरण तथा मन एवं बुद्धि अन्तःकरण) के सामान्य वृत्तिमात्र हैं। सूक्ष्म-शरीर के घटक अवयवों के रूप में प्राणों का यही अर्थ अपेक्षित है। पांच तन्मात्र (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) पांच सूक्ष्मभूत हैं। करण अनाश्रित नहीं रह सकते। अतः पांच तन्मात्र उनके आश्रयभूत माने जाते हैं। सूक्ष्म-शरीर स्थित ज्ञानेन्द्रियों से तात्पर्य स्थूल शरीर के दिखाई देने वाले चक्षु-श्रोत्र आदि से नहीं है, वरन् इनकी सूक्ष्म शक्तियों से है। दिखाई देने वाली इन्द्रियाँ तो उनके गोलकमात्र हैं जो ज्ञानेन्द्रियों की अन्तर्हित सूक्ष्म शक्ति से प्रेरित होकर ही क्रियाशील होते हैं। इन पांचों ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति स्थूलभूतों से पूर्व पंच तन्मात्राओं के साथ-साथ होती है।

सूक्ष्म शरीर कर्मों का अधिष्ठान है जिसमें संस्कार भौतिक रूप में संचित रहते हैं। इन संस्कारों के अनुरूप वृत्तियां बनती हैं और वृत्तियों के अनुसार

मनुष्य कर्म में प्रवृत्त होता है। अन्नमय आदि कोशों का बीजमय रूप भी सूक्ष्म शरीर में सन्निहित रहता है। सूक्ष्म शरीर को माध्यम बनाये बिना अभौतिक आत्मा भौतिक शरीर से काम नहीं ले सकता। जब आत्मा द्वारा सूक्ष्म शरीर में विचार तरंग उठती है तभी स्थूल शरीर में क्रिया होती है।

सूक्ष्म-शरीर के अन्तर्गत करणों के व्यापार के कारण ही यह प्रतीति होती है कि इन सबके पीछे एक चेतन सत्ता है। इसलिये सूक्ष्म-शरीर को ही लिङ्ग शरीर भी कहा जाता है। वस्तुतः जब इन करणों की प्रधानता को दृष्टि में रख कर निर्देश किया जाता है तभी उसे इस नाम से व्यवहृत किया जाता हैं।६५॥

तीसरे शरीर—कारण शरीर को स्पष्ट करते हैं—

प्रकृतिरूपत्वात् सर्वव्यापकं कारणशरीरम् ॥६६॥

कारण शरीर प्रकृति रूप होने से विभु है।

सूक्ष्म शरीर के १७ घटकों में १२ करण आधेय अथवा आश्रित हैं और पांच सूक्ष्मभूत या तन्मात्र आधारभूत तत्त्व हैं। कारण शरीर का अर्थ है प्रकृति जिससे सभी पदार्थों का निर्माण हुआ है। आधारभूत प्रकृति के ये तन्मात्र सूक्ष्म शरीर की रचना में उपादान कारण होने से उसकी रचना के लिये मूल प्रकृति रूप हैं। इसीलिये कारण शरीर को प्रकृति रूप कहा जाता है। प्रकृति रूप होने से कारण शरीर को विभु कहा जाता है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कारण शरीर व्यक्तिरूप से सर्वत्र व्याप्त है।

स्थूल शरीर की रचना में जीवात्माओं का सहयोग रहता है। अतः प्रत्येक जाति के शरीरों में समानता रहने पर भी अवयव भेद के कारण उन शरीरों को एक-दूसरे से भिन्न पहचाना जा सकता है। परंतु सूक्ष्म तथा कारण शरीर ईश्वरीय रचना होने के कारण व्यक्ति रूप से भेद होने पर भी रचना की दृष्टि से समान हैं। इस समानता के कारण ही सब जीवों के कारणशरीर को 'एक' कह दिया जाता है। इसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिये कि कारणशरीर व्यक्ति-रूप से सब जीवों का एक ही होता है। व्यवहार में इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के आधार पर जो भेद देखने में आता है उसका कारण इन्द्रियादि के गोलक हैं, न कि स्वतः इन्द्रियों की रचना अथवा उनकी अन्तर्हित सूक्ष्म शक्ति।

सुषुप्ति अथवा गाढ़ निद्रा में सूक्ष्म शरीर का व्यापार भी बन्द हो जाता है। उस अवस्था में कारण शरीर ही रहता है। सुषुप्ति में किसी भी प्रकार के सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि का अनुभव नहीं होता। इस समानता के आधार पर ही कारण शरीर और आनन्दमय कोश को परस्पर सन्तुलित किया जाता है ॥६६॥

चौथे तुरीय शरीर की व्याख्या करते हैं—

समाधिसंस्कारजन्यं शुद्धस्वरूपं तुरीयम् ।।६७।।

समाधि-संस्कार-जन्य शुद्ध शरीर 'तुरीय शरीर' कहाता है।

स्थूलादि शरीर जड़ तत्त्व हैं और आत्मा से भिन्न हैं। परन्तु तुरीय शरीर आत्मा की ही एक विशेष स्थिति है जो आत्मसाक्षात्कार होने पर प्रकाश में आती है। स्थूल, सूक्ष्म-लिङ्ग अथवा कारण नाम से व्यवहृत किये जाने वाले सभी शरीर भौतिक अथवा प्राकृत हैं और आत्मा की बन्ध स्थिति के द्योतक हैं– भले ही अत्यधिक सूक्ष्मता के कारण किसी को अभौतिक कह दिया जाये। इस समाधिजन्य तुरीय शरीर का पराक्रम मुक्ति में भी सहायक रहता है। इसी अभौतिक अथवा संकल्पमय शरीर से जीवात्मा मुक्ति में आनन्द का उपभोग करता है। वास्तव में यह आत्मा का स्वाभाविक गुणरूप है अर्थात् आत्मा से भिन्न कोई वस्तु नहीं है ।।६७।।

अब जीवात्मायुक्त शरीर की अथवा शरीरस्थ चेतना की अवस्थाओं का वर्णन करते हैं—

जागृतस्वप्नसुषुप्तितुरीयभेदेनावस्थाश्चतुर्विधाः ।।६८।।

जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय चार अवस्थायें हैं। इन सब अवस्थाओं से जीव पृथक् है। अतः ये जीवात्मा युक्त शरीर की अथवा शरीरस्थ चेतना की ही अवस्थायें हैं ।।६८।।

अब क्रमशः चारों अवस्थाओं का विवेचन करते हैं—

बहिर्ज्योतिरेकोनविंशतिमुखः स्थूलभुक् जागरितस्थानः ।।६९।।

जाग्रतावस्था में जीवात्मा बहिर्मुख होकर कार्य करता है। उसकी गति प्रायशः बाह्य विषयों की ओर होती है। उस अवस्था में पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, पांच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार–ये उन्नीस उसके निरन्तर सहायक रहते हैं। बहिर्मुख होने की अवस्था में आत्मा मन के साथ संयुक्त हो कर प्राणों को प्रेरणा करके इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त करता है। जाग्रतावस्था में स्थूल जगत् का उपभोग करने के कारण जीवात्मा 'स्थूलभुक्' कहाता है ।।६९।।

अन्तर्ज्योतिः सूक्ष्मभुक् स्वप्नस्थानः ।।७०।।

पुरुषार्थ करते हुए जब मनुष्य थक जाता है तो तमोगुण प्रधान होकर उसकी समस्त इन्द्रियों को शिथिल कर देता है। उस अवस्था में इन्द्रियों के मन में प्रविष्ट हो जाने से बाह्य जगत् से आत्मा का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। किन्तु रजोगुण की कुछ भी मात्रा जब तक बनी रहती है तब तक मन काम करता रहता है। इसी को स्वप्नावस्था कहते हैं। इस अवस्था में मन अपने

वासनारूप संस्कारों से अनुभूत विषयों का प्रत्यक्ष करता है। बाह्येन्द्रियों के असमर्थ हो जाने से विवश होकर आत्मा अन्तर्मुख अथवा अन्तर्ज्योति हो जाता है। स्वप्नावस्था में जीवात्मा का सम्बन्ध सूक्ष्म शरीर से होता है। अतः उस अवस्था में वह स्थूल शरीर से भोग न करके सूक्ष्म शरीर में स्थित सूक्ष्म इन्द्रियों से विचारमय सूक्ष्म जगत् का उपभोग करता है। इसीलिये उस अवस्था में जीवात्मा 'सूक्ष्मभुक्' कहाता है।

'अपाणिपादो जवनोग्रहीता' इत्यादि के भाव को लेकर गोस्वामी तुलसीदास ने परमेश्वर के सम्बन्ध में लिखा—

बिनु पग चलै सुनै बिनु काना। विनु कर कर्म करै विधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। विनु बानी वक्ता बड़ योगी॥

स्वप्नावस्था में जीवात्मा की ठीक यही स्थिति होती है। बिना इन्द्रियों के सहयोग के वह सब कुछ करता है, किन्तु वही जो जागृत में देखा सुना होता है। जागृतावस्था में जैसे व्यवहार, आचरण, भावना व विचार होते हैं उनकी प्रतिच्छाया स्वप्नावस्था में पड़ती है। उन्हीं के सहारे वह अपनी सृष्टि बनाता बिगाड़ता रहता है। उस अवस्था में रथ, घोड़े, सड़कें, नदी, तालाव, पुत्र, कलत्र वन्धु, बान्धव आदि कुछ नहीं होता। परन्तु शरीर से वाहर गये बिना संकल्प-मात्र से उनकी रचना कर लेता है। रजोगुण की कुछ मात्रा होने से चंचल होने के कारण मन एक स्थान पर टिक नहीं सकता। अतः 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा' लेकर वह 'भानमती का कुनवा' जोड़ लेता है। किसी संस्कार का कोई और किसी का कोई अंग लेकर एक नई वस्तु घड़ डालता है। किसी संस्कार में मनुष्य की छाया देख ली, वहां से झट चलकर दूसरे संस्कार में पक्षी के पंख देख लिये और मनुष्य के साथ पक्षी के पंख जोड़कर केवल संस्कारों के वल पर उड़ते हुए मनुष्य की कल्पना कर डाली। वैशेषिक भाष्यकार प्रशस्तपादाचार्य के अनुसार स्वप्न में मनुष्य के उड़ने की कल्पना वह तब करता है जब उसके शरीर में वायु प्रधान होता है। इसी प्रकार पित्त प्रधान होने पर अग्नि में जलने आदि तथा कफ़ प्रधान होने पर जल में तैरने या डूबने के स्वप्न दिखाई देते हैं। जो तत्त्व शरीर में प्रधान होता है वही मन में भी प्रधान होता है और उसका स्वप्न पर प्रभाव पड़ना अवश्यंभावी है।

कभी-कभी स्वप्न में ऐसे दृश्य और घटनायें भी देखने में आती हैं जिन्हें हमने अपने जीवन में कभी भी नहीं देखा सुना होता। वास्तव में मन में सहस्रों जन्मों के संस्कार रहते हैं जो हमारी कभी न कभी देखी सुनी वस्तुओं के प्रतिबिम्ब होते हैं। ऐसे दृश्यों अथवा घटनाओं का सम्बन्ध चित्त पर पड़े किसी अन्य जन्म के संस्कारों से होता है।

स्वप्न स्मृति रूप है। स्वप्न की स्मृति प्रत्यक्ष ज्ञान न होते हुए भी तद्वत् प्रतीत होती है॥७०॥

चेतोमुखः आनन्दभुक् सुषुप्तस्थानः ॥७१॥

सुषुप्ति में जीवात्मा अपने स्वाभाविक गुण ज्ञान से आनन्द भोगता है। यह अवस्था तामसी एवं अज्ञानमूलक है। फिर भी जागने पर 'सुखमहमस्वाप्सम्' (मैं सुख से सोया)—यह अनुभव उस अवस्था में दुःखादि की अनुभूति के अभाव को प्रकट करता है। सुषुप्ति में 'इन्द्रियों के साथ-साथ मन, बुद्धि आदि सभी करणों के विशेष व्यापारों तथा वृत्तियों का अभाव हो जाता है। परन्तु इन समस्त करणों के सामान्य व्यापार प्राण की क्रिया बराबर बनी रहती है। उस अवस्था में करणों का अपने गोलकों से सम्बन्ध न रहकर वे अपने आश्रयभूत तन्मात्र में अवस्थित रहते हैं। यह अवस्थिति करणों की विशेष वृत्ति की अवरोधक होने से सुषुप्ति की प्रयोजक है।

गाढ़ निद्रा में शरीर सर्वथा जड़ हो जाता है। शरीर और मन सभी से जीवात्मा का सम्बन्ध टूट सा जाता है। तब उसकी कोई कामना न रहने से वह आनन्दमय हो जाता है। इसीलिये सुषुप्ति काल में विद्यमान आत्मा को 'आनन्द-भुक्' कहा जाता है। अपने स्वाभाविक ज्ञान के द्वारा ही वह इस आनन्द को भोगता है। यही आत्मा का 'चेतोमुख' होना है। सुषुप्तावस्था में वह न किसी से बोलता है, न किसी की सुनता है; न कुछ खाता है, न सूंघता है; न किसी को देखता है, न किसी को छूता है—क्योंकि वहां उसके अतिरिक्त बोलने, सुनने खाने, सूंघने, देखने या छूने को कुछ होता ही नहीं। उस अवस्था में आत्मा ही आत्मा रहता है, अन्य कुछ नहीं रह जाता।

'समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता' कहकर सुषुप्ति को समाधि और मोक्ष के समकक्ष रख दिया गया है। परन्तु जहां मोक्ष में आनन्द की अनुभूति ज्ञानसहित और शरीर रहित अवस्था में होती है वहां समाधि में ज्ञानसहित और शरीर-सहित अवस्था में तथा सुषुप्ति में ज्ञानरहित और शरीरसहित अवस्था में होती है। सुषुप्ति में जीवात्मा का सम्बन्ध कारण शरीर से होता है ॥७१॥

समाधावानन्दमये ब्रह्मस्वरूपे स्थितः आप्तकामः तुरीयस्थानः॥७२॥

तुरीयावस्था में जीवात्मा पूर्णकाम हो समाधि में ब्रह्मानन्द में स्थित होता है। यह अवस्था अदृष्ट तथा अनिर्वचनीय है। इसके प्राप्त होने पर संसार के सभी प्रपंच शान्त हो जाते हैं और अद्वैत अवस्था का आभास होने लगता है। केवल आत्मा की सत्ता ही सांररूप में रह जाती है। यह चेतना का शुद्ध रूप है—ऐसा रूप जिसमें चेतना पर पड़े सब भौतिक आवरण छंट जाते हैं। इस रूप में वह सचेतन, अवचेतन तथा अचेतन—इन तीनों स्तरों को लांघकर भावातीत अवस्था में पहुंच जाता है। तुरीय शरीर के द्वारा ही इसकी सद्धि होती है ॥७२॥

विषय-निर्देशिका

आ

ट

त